उत्तर भारत की आदिम जातियाँ

आर० डी० सोनकर

प्रकाशन केन्द्र, लखनऊ

उत्तर भारत की आदिम जातियाँ

आर. डी. सोनकर

प्रकाशन केन्द्र, लखनऊ

प्रकाशक :-
निदेशक,
जनजाति एवं लोककला संस्कृति संस्थान
संस्कृति विभाग
उत्तर प्रदेश सरकार

सर्वाधिकार लेखक के अधीन

लेखक :
आर. डी. सोनकर

मूल्य : केवल साठ रुपये

मुद्रक :
प्रकाशन केन्द्र
रेलवे क्रॉसिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ – 226 020
फोन : (0522) 2323035, 2367314

परम पूज्य पिताश्री

श्री छेदालाल जी (स्वर्गीय)

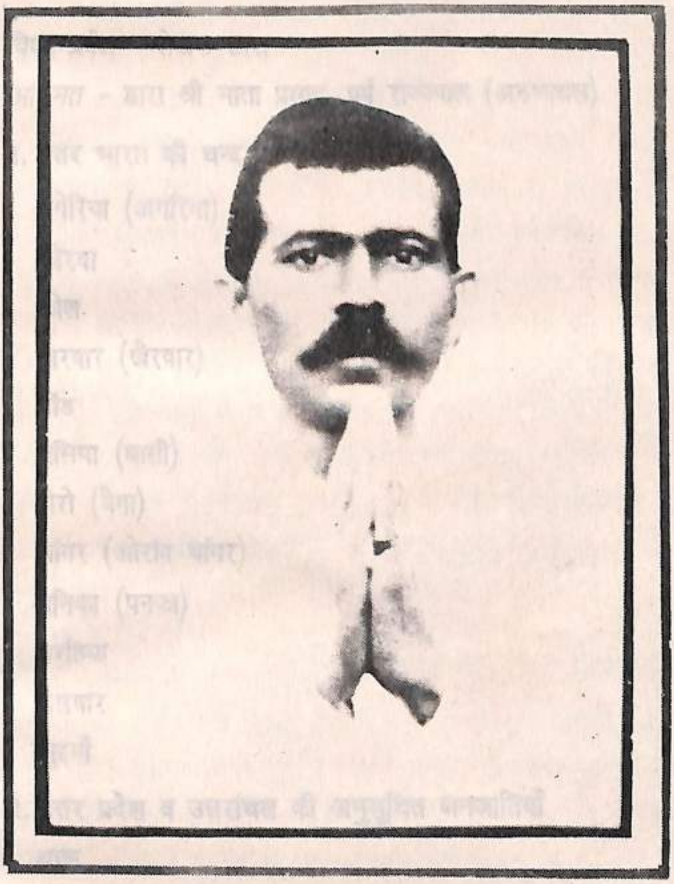

के चरणों में समर्पित

आर. डी. सोनकर
(लेखक)

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

विषय-प्रवेश - लेखक द्वारा i-viii

अभिमत - द्वारा श्री माता प्रसाद, पूर्व राज्यपाल (अरुणाचल) ix-xiv

1. उत्तर भारत की चन्द जनजातियाँ 1 – 48

अगेरिया (अगरिया) 1

कोरवा 5

कोल 9

खरवार (खैरवार) 14

गोंड 18

घसिया (घासी) 24

चेरो (बैगा) 27

धांगर (ओरांव धांगर) 32

पनिका (पनका) 35

परहिया 39

बैसवार 42

भुइयाँ 46

2. उत्तर प्रदेश व उत्तरांचल की अनुसूचित जनजातियाँ 49–78

थारू 49

बुक्सा (भोक्सा) 53

भोटिया (भुटिया) 56

राजी (बनरावत) 59

जौनसारी 62

जौनसारियों के रीति-रिवाज़ 65

3. विमुक्त जातियाँ	79–87
कंजर	83
सांतिया	84
बौरिया	84
यरूकला	85
बँजारा	85
डुम्मरां	86
बेड़िया	86
डोम	86
साँसिया	86
करवाल	87
4. आदिवासी क्षेत्रों की यात्रा	**88–192**
किन्नर आदिम जाति	88
उत्तरकाशी के जाड (भोटिया)	100
मुंशियारी (पिथौरागढ़) के भोटिया	105
नारियों का देश	113
खासी आदिम जाति और अन्ध-विश्वास	140
अरुणाचल की यात्रा	150
निशी (निशिंग) जनजाति	179

विषय-प्रवेश

भारत में आदिम जातियों का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि यहाँ की मानव जातियों का इतिहास पुराना है। इन आदिम जातियों की संख्या सैकड़ों में है और देश के प्रायः प्रत्येक भाग में ये आदिम जातियाँ किसी न किसी रूप में पायी जाती हैं। इन जातियों को विभिन्न नामों से जाना जाता है जैसे गिरिजन, आदिवासी, वनवासी, कबीले, जनजाति, आदिम जाति, आदि। इनमें से जो भारतीय संविधान की परिशिष्ट में अनुसूचित हैं उन्हें अनुसूचित जनजाति कहा जाता है- इन अनुसूचित जनजातियों को सरकार की ओर से विविध प्रकार की सुविधायें, आरक्षण और सहायता प्राप्त है जिनके द्वारा यह अपना शैक्षिक, आर्थिक, व्यावसायिक और सामाजिक विकास कर सकती हैं। जो जनजातियाँ संविधान की परिशिष्ट में अनुसूचित नहीं हैं वे इन सभी सुविधाओं से वंचित हैं। अतएव विगत कई दशकों से ये शेष जनजातियाँ अनुसूचित जनजाति बनने का प्रयास कर रही हैं किन्तु इनमें से चन्द जातियाँ ही अब तक अनुसूचित हो पाई हैं और शेष जनजातियाँ अपने प्रयास में असफल रही हैं। उनके प्रयास अब भी जारी हैं।

भारत की आदिम जातियाँ इस देश की मूल निवासी हैं। कहा जाता है कि भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व जो जातियाँ रहती थीं उनमें से अधिकांश को आदिम जाति या जनजाति या आदिवासी नाम से जाना जाता है। इस देश में कुछ जनजातियाँ ऐसी भी हैं जो आर्यों के आगमन के बाद यहाँ बाहर से आयी हैं और स्थाई रूप से यहाँ बस गयीं। इन जनजातियों का अपना धर्म अलग होता है, अपनी संस्कृति अलग होती है, सभ्यता अलग होती है, रीति-रिवाज अलग होते हैं इत्यादि। इनका रहन-सहन और आचार-विचार भी अन्य जातियों से भिन्न होता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भारत की आदिम जातियाँ इस देश के प्रमुख धर्मों-हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म और ईसाई धर्म को नहीं मानतीं। वास्तव में इस देश की अधिकांश जनजातियाँ या तो हिन्दू धर्म मानती हैं या इस्लाम धर्म मानती हैं या ईसाई धर्म मानती हैं और या बौद्ध धर्म मानती हैं। तथापि इन प्रमुख धर्मों को मानते हुये भी इनके कुछ देवी-देवता अपने अलग होते हैं जिनकी पूजा का विधान भी भिन्न होता है। इनके पर्व-त्यौहार भी कुछ अलग होते हैं जिन्हें यह अपने अलग-अलग ढंग से मनाते हैं। इन जनजातियों की अलग-अलग सामाजिक परम्परायें होती हैं और हर जनजाति के अपने अलग विश्वास व अन्धविश्वास भी होते हैं।

प्रत्येक जनजाति की अपनी अलग संस्कृति होती है जिससे उनकी पहचान की जाती है और उनकी विशिष्टता की पहचान की जाती है। इनकी भाषा व बोली भी अलग-अलग होती है। कुछ जनजातियों का साहित्य बड़ा धनी पाया जाता है किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि इस दिशा में शोध-कार्य बहुत कम हुआ है। प्रायः सभी जनजातियों का अपना अलग संगीत होता है, अलग लोक-गीत होते हैं और अलग लोक-नृत्य होते हैं। इन जातियों के नर-नारी दोनों मिलकर लोक-गीत गाते व लोक-नृत्य करते हैं और मस्त रहते हैं। इनके लोक-नृत्य तथा लोक-संगीत बड़ी उच्च कोटि के होते हैं जो हमारे देश की उत्तम निधि और उत्कृष्ट धरोहर सम्पदा हैं। विश्व में बहुत कम देश होंगे जहां भारत की तरह इतनी अधिक जनजातियाँ पायी जाती हों और जिनकी संस्कृति इतनी प्राचीन, सम्पन्न एवं उत्कृष्ट विद्यमान हो।

प्राचीन काल में पूरे (देश) भारत वर्ष में आदिम जातियों का राज्य था। इनकी सभ्यता व संस्कृति अत्यन्त उन्नत व महान थी और यह धर्म व शान्ति के साथ अपना शासन करते थे। किन्तु निरन्तर विदेशी आक्रमणों द्वारा इन जातियों के न केवल राज्य नष्ट किये गये बल्कि इनकी बस्तियों को पूर्ण रूप से नष्ट किया गया-उनमें आग लगा दी गयी। बर्बर आक्रमणकारियों ने इन जनजातियों का नरसंहार इतना अधिक किया कि अपनी जान बचाने हेतु इन्होंने वनों और पर्वतों में जाकर शरण ली जिस पर इन्हें वनवासी और गिरिजन कहा गया। आज भी जनजातियों की अधिकांश जनसंख्या वनों और पर्वतों में रहती है जहाँ इन्होंने अपनी प्रजाति, सभ्यता, संस्कृति और कला को अभी तक सुरक्षित रखा है। तभी से ये जनजातियाँ, नगरों, कस्बों और अन्य जातियों की बस्तियों से दूर अपना निवास-स्थान रखे हुए हैं। मध्यकालीन इतिहास बताता है कि इन जातियों के राजाओं ने विदेशी आक्रमणकारियों का डटकर सामना किया और अनेक युद्धों में उन्हें पराजित भी किया। वास्तव में यह जन-जातियाँ बड़ी बहादुर रही हैं और इनके राजा व सेनापति बड़े वीर हुआ करते थे। तभी देश के अनेक भू-भाग में आदिम जातियों के राजा शासन करते थे। अंग्रेजों के शासन-काल के पूर्व भारत के सैकड़ों राज्यों में इन जन-जातियों का शासन पाया जाता था।

जब मैं निदेशक, हरिजन व समाज-कल्याण उत्तर प्रदेश (1966-1969 ई.) हुआ तब मुझे इन जनजातियों को जानने का अवसर मिला। उस समय जनजाति कल्याण भी हरिजन व समाज कल्याण विभाग का अंग हुआ करता था। तदुपरान्त मैं भारत सरकार के समाज-कल्याण विभाग में उपसचिव/निदेशक रहा (1969-1974 ई. तक) जहाँ पूरे देश की जनजातियों के अध्ययन का अधिक अवसर मिला क्योंकि इस विभाग द्वारा ही जनजातियों की समस्त कल्याणकारी योजनाएँ क्रियान्वित की जाती थीं। इस अवधि में

जनजातीय क्षेत्रों में जाने का अवसर भी मिला जिससे कुछ जनजातियों को मैं निकट से देख सका। तभी मैंने चन्द आदिम जातियों पर लेख लिखे जो इस पुस्तक के अध्याय तीन और चार में दिये गये हैं। तब से आदिम जातियों के प्रति मेरा अनुराग बढ़ता ही गया और जहां भी व जब भी इन जातियों पर साहित्य पढ़ने को मिला मैंने उसका अध्ययन किया।

पुस्तक के अध्याय (1) एक में उन एक दर्जन जनजातियों का उल्लेख है जो उत्तर प्रदेश के दक्षिण-पूर्वी भाग (कैमूर पर्वत के क्षेत्र)- बाँदा, चित्रकूट, इलाहाबाद, वाराणसी, मिर्जापुर और सोनभद्र आदि जिलों में पायी जाती हैं। यह जातियाँ (धाँगर, अगेरिया, कोल, कोरवा, घासी, पनिका, बैसावर, चेरा, बैगा, गोंड, खरवार, भुइयाँ परहिया) वहाँ हजारों वर्षों से रहती आयीं हैं और उनमें अनुसूचित जनजातियों की सभी विशेषतायें विद्यमान हैं। यही नहीं, पड़ोसी राज्यों (मध्य प्रदेश व बिहार) में वे अनुसूचित जनजाति हैं और उनके साथ इनके रोटी-बेटी के सम्बन्ध हैं। किन्तु दुर्भाग्य से उत्तर प्रदेश में रहने वाली इन जनजातियों को अनुसूचित नहीं किया गया जिसके परिणामस्वरूप इनका विकास उस प्रकार व गति से नहीं हुआ जैसे पड़ोसी राज्यों में इनकी प्रतिरूप बिरादरी का हुआ है। भारतीय संविधान में सन् 1950 ई. में अनुसूचित जनजातियों और अनुसूचित जातियों की परिशिष्ट बनी थी। अर्थात् सन् 1950 ई. से उत्तर प्रदेश के दक्षिणी-पूर्वी भाग की लगभग एक दर्जन जनजातियाँ उन सभी आरक्षणों, सुविधाओं और सहायताओं से वंचित हैं जो उनके भाई-बन्धु पड़ोसी राज्यों में तभी से उपभोग कर रहे हैं। इसके लिए कौन उत्तरदायी है ? निश्चय ही ये बेचारी जनजातियाँ नहीं हैं। इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाता है कि यह एक दर्जन जनजातियाँ उत्तर प्रदेश की अनुसूचित जातियों में शामिल हैं और इन्हें वे सभी सुविधायें व आरक्षण प्राप्त हैं जो संविधान में अनुसूचित जातियों को प्राप्त हैं। वास्तव में इसे एक बड़ी विडम्बना ही कहा जायेगा कि अनुसूचित जनजाति की सभी विशेषताओं के रहते हुये भी इन्हें अनुसूचित जाति की सूची में डाला गया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उत्तर प्रदेश में अनुसूचित जातियों की संख्या लगभग ढाई करोड़ है और इन एक दर्जन जातियों की संख्या ढाई करोड़ के आगे नगण्य है। फलस्वरूप प्रदेश की बहुसंख्यक अनुसूचित जातियों के समक्ष इन अल्पसंख्यक एक दर्जन जातियों को संविधान में प्राप्त आरक्षण व सुविधायें बहुत कम मिल पाती हैं क्योंकि बहुसंख्यक जातियों के रहते हुए यह सम्भव नहीं है कि इन्हें भी उन आरक्षणों और सुविधाओं के समुचित उपभोग का अवसर मिले।

अध्याय 2 में उत्तर प्रदेश व उत्तरांचल की पांचों अनुसूचित जनजातियों (थारू, भोक्सा, राजी-बनरावत, भोटिया एवं जौनसारी) का उल्लेख है जो जून 1967 ई. में अनुसूचित जनजाति घोषित की गई जबकि अन्य अनुसूचित जनजातियों की परिशिष्ट संविधान में सन् 1950 में ही लगा दी गयी थी। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि यह पांचों जनजातियाँ सन् 1950 से सन् 1967 तक उन सभी संवैधानिक अधिकारों व आरक्षणों से वंचित रहीं जिनकी ये हकदार थीं। इस संसार में समय को सर्वाधिक मूल्यवान वस्तु माना गया है अर्थात् ये पांचों जनजातियाँ विकास की दिशा में सत्रह वर्ष पिछड़ गयीं जिसकी भरपाई कभी नहीं हो सकती। इस विलम्बित घोषणा के लिये किसे दोषी कहा जायेगा ? जून 1967 की उक्त अधिसूचना में एक बहुत बड़ी त्रुटि यह हुई है कि देहरादून जिले के जौनसार-भाबर परगनों में रहने वाली जातियों को जौनसारी जनजाति कहकर अनुसूचित जनजाति घोषित किया गया है जिसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि इस जनजाति को मिलने वाले आरक्षण और सुविधायें खस ब्राह्मणों और खस राजपूतों की झोली में चली जाती हैं। वास्तव में खस ब्राह्मण और खस राजपूत, जौनसारियों की सवर्ण जातियाँ हैं और वही भूस्वामी तथा गाँव के मालिक होते हैं। कोल्टा, बाजगी, दर्जी, शिल्पकार आदि जातियाँ जौनसारियों में निम्न वर्ग की जातियाँ हैं जो खस ब्राह्मण और खस राजपूतों द्वारा सदियों से शोषित और दलित रही हैं। ये दलित जातियाँ सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक रूप से खसों पर पूर्णतया आश्रित रहती हैं। परिणामस्वरूप सरकार द्वारा जौनसारी, जाति को जो आरक्षण व सुविधायें प्राप्त हैं वह निम्न वर्ग की जौनसारी जातियों को सुलभ नहीं होते हैं। अर्थात् अनुसूचित जनजाति घोषित हो जाने से जौनसारियों की निम्न व दलित जातियों की अपार क्षति हुई है क्योंकि जून 1967 के पूर्व यह दलित जातियाँ अनुसूचित जाति की सूची में शामिल थीं और उस हैसियत से इन्हें अनुसूचित जातियों को मिलने वाली सभी सुविधायें प्राप्त थीं। किन्तु जून 1967 के बाद ऐसा नहीं है-अनुसूचित जनजाति घोषित हो जाने से अब इन्हें अनुसूचित जाति को प्राप्त सुविधायें नहीं मिल सकतीं। इस प्रकार अनुसूचित जनजाति घोषित होने पर जिन जौनसारी जातियों को संवैधानिक आरक्षण व सुविधायें मिलनी चाहिये वे उनसे वंचित हो गईं और जौनसारियों की सवर्ण जातियों (खस ब्राह्मण व खस राजपूत) को वे आरक्षण व सुविधायें प्राप्त हो गये जिसके वे हकदार नहीं हैं। इस मामले में भारत सरकार से गलती यह हुई कि "जौनसारी" नाम से अधिसूचना जारी की गयी जबकि कोल्टा, बाजगी, दर्जी, मोची, शिल्पकार आदि जातियों को ही अनुसूचित जनजाति घोषित किया जाना था। जून 1967 के पूर्व अनुसूचित जाति की सूची में जौनसारी जाति के बजाय कोल्टा, बाजगी, मोची आदि जातियों को ही शामिल किया गया था।

उत्तरांचल की अनुसूचित जनजातियों की सूची में भोटिया भी शामिल हैं जो उत्तरकाशी, चमोली और पिथौरागढ़ जिलों में पाये जाते हैं। यह एक व्यावसायिक एवं व्यापारी जाति है जो सदियों से चीन-तिब्बत और भारत के बीच व्यापार करती रही है। इनके पास खेती की भूमि भी होती है। भारत और चीन-तिब्बत के बीच व्यापार करने के लिये मजदूरों की आवश्यकता होती है जो ऊन और ऊन से बने सामान को ढोते हैं तथा अपने मालिकों के लिये भूमि पर खेती करते हैं। इन श्रमिकों को कुली भोटिया या हरिजन भोटिया कहा जाता है जो पूर्ण रूप से अपने भोटिया मालिकों पर आश्रित होते हैं। भोटिया लोग इन कुली भोटिया को अपने समकक्ष नहीं मानते बल्कि वे इन्हें निम्न जाति मानते हैं और इनके साथ दासों जैसा व्यवहार करते हैं। फलस्वरूप इन कुली (हरिजन) भोटिया की दशा बड़ी शोचनीय है। भोटिया जनजाति के नाम से जो आरक्षण एवं सुविधायें सरकार द्वारा दी जाती हैं वे इन तक नहीं पहुँच पातीं क्योंकि वे तो इनके भोटिया मालिकों तक ही सीमित रहती हैं। अतएव जो सुविधायें भोटिया जनजाति को प्राप्त हैं उन्हें कुली भेटिया (हरिजन भोटिया) को अलग से आरक्षित करके सुलभ करना चाहिये वर्ना वे इनसे सदैव वंचित रहेंगे।

पुस्तक के अध्याय 3 में कतिपय विमुक्त जातियों का उल्लेख_किया गया है-कंजर, सातिया, बौरिया, यरूकला, बंजारा, डुम्मरां, बेड़िया, डोम् सांसिया व करवाल। वैसे विमुक्त जातियों की सूची लम्बी है जिसमें सैकड़ों जातियाँ शामिल हैं। यह सूची राज्यवार बनी है क्योंकि कई जाति एक राज्य की सूची में पायी जाती है और दूसरे राज्य में वह नहीं पायी जातीं। इन विमुक्त जातियों को पहले अपराधशील जातियों के नाम से जाना जाता था। सन् 1871 ई. में अंग्रेजों के शासनकाल में 'अपराधशील जनजातियाँ अधिनियम' बनाया गया जिससे सैकड़ों जातियों को अपराधशील जाति कहा गया है। इस अधिनियम के अन्तर्गत पुलिस को अधिकार प्राप्त था कि क्षेत्र में अपराध होने पर वहाँ की अपराधशील जाति के लोगों को शक के आधार पर गिरफ्तार किया जा सकता था चाहे उनके द्वारा कथित अपराध किया गया है या नहीं। इसे काला कानून भी कहा जाता था क्योंकि इसकी आड़ में अपराधशील जाति के किसी भी व्यक्ति को कभी भी पुलिस द्वारा पकड़कर बन्द किया जा सकता था। पुलिस द्वारा इस अधिनियम के अधीन इन जातियों का बड़ा शोषण करके इन लोगों पर अत्याचार किये जाते थे।

वास्तव में जिन जातियों को अपराधशील जाति कहा जाता था वे कभी इस देश की शासक थीं। इन जातियों के अपने राज्य थे जिनका वर्णन इतिहास में मिलता है विशेषकर मध्यकालीन इतिहास में। मध्य-युग में अनेक विदेशी आक्रमणों का इन्होंने बहादुरी से सामना किया और आक्रमणकारियों को परास्त किया। अंग्रेज इनकी बहादुरी और

अध्याय 2 में उत्तर प्रदेश व उत्तरांचल की पांचों अनुसूचित जनजातियों (थारू, भोक्सा, राजी-बनरावत, भोटिया एवं जौनसारी) का उल्लेख है जो जून 1967 ई. में अनुसूचित जनजाति घोषित की गईं जबकि अन्य अनुसूचित जनजातियों की परिशिष्ट संविधान में सन् 1950 में ही लगा दी गयी थी। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि यह पांचों जनजातियाँ सन् 1950 से सन् 1967 तक उन सभी संवैधानिक अधिकारों व आरक्षणों से वंचित रहीं जिनकी ये हकदार थीं। इस संसार में समय को सर्वाधिक मूल्यवान वस्तु माना गया है अर्थात् ये पांचों जनजातियाँ विकास की दिशा में सत्रह वर्ष पिछड़ गयीं जिसकी भरपाई कभी नहीं हो सकती। इस विलम्बित घोषणा के लिये किसे दोषी कहा जायेगा ? जून 1967 की उक्त अधिसूचना में एक बहुत बड़ी त्रुटि यह हुई है कि देहरादून जिले के जौनसार-भाबर परगनों में रहने वाली जातियों को जौनसारी जनजाति कहकर अनुसूचित जनजाति घोषित किया गया है जिसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि इस जनजाति को मिलने वाले आरक्षण और सुविधायें खस ब्राह्मणों और खस राजपूतों की झोली में चली जाती हैं। वास्तव में खस ब्राह्मण और खस राजपूत, जौनसारियों की सवर्ण जातियाँ हैं और वही भूस्वामी तथा गाँव के मालिक होते हैं। कोल्टा, बाजगी, दर्जी, शिल्पकार आदि जातियाँ जौनसारियों में निम्न वर्ग की जातियाँ हैं जो खस ब्राह्मण और खस राजपूतों द्वारा सदियों से शोषित और दलित रही हैं। ये दलित जातियाँ सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक रूप से खसों पर पूर्णतया आश्रित रहती हैं। परिणामस्वरूप सरकार द्वारा जौनसारी, जाति को जो आरक्षण व सुविधायें प्राप्त हैं वह निम्न वर्ग की जौनसारी जातियों को सुलभ नहीं होते हैं। अर्थात् अनुसूचित जनजाति घोषित हो जाने से जौनसारियों की निम्न व दलित जातियों की अपार क्षति हुई है क्योंकि जून 1967 के पूर्व यह दलित जातियाँ अनुसूचित जाति की सूची में शामिल थीं और उस हैसियत से इन्हें अनुसूचित जातियों को मिलने वाली सभी सुविधायें प्राप्त थीं। किन्तु जून 1967 के बाद ऐसा नहीं है-अनुसूचित जनजाति घोषित हो जाने से अब इन्हें अनुसूचित जाति को प्राप्त सुविधायें नहीं मिल सकतीं। इस प्रकार अनुसूचित जनजाति घोषित होने पर जिन जौनसारी जातियों को संवैधानिक आरक्षण व सुविधायें मिलनी चाहिये वे उनसे वंचित हो गईं और जौनसारियों की सवर्ण जातियों (खस ब्राह्मण व खस राजपूत) को वे आरक्षण व सुविधायें प्राप्त हो गये जिसके वे हकदार नहीं हैं। इस मामले में भारत सरकार से गलती यह हुई कि "जौनसारी" नाम से अधिसूचना जारी की गयी जबकि कोल्टा, बाजगी, दर्जी, मोची, शिल्पकार आदि जातियों को ही अनुसूचित जनजाति घोषित किया जाना था। जून 1967 के पूर्व अनुसूचित जाति की सूची में जौनसारी जाति के बज़ाय कोल्टा, बाजगी, मोची आदि जातियों को ही शामिल किया गया था।

उत्तरांचल की अनुसूचित जनजातियों की सूची में भोटिया भी शामिल हैं जो उत्तरकाशी, चमोली और पिथौरागढ़ जिलों में पाये जाते हैं। यह एक व्यावसायिक एवं व्यापारी जाति है जो सदियों से चीन-तिब्बत और भारत के बीच व्यापार करती रही है। इनके पास खेती की भूमि भी होती है। भारत और चीन-तिब्बत के बीच व्यापार करने के लिये मजदूरों की आवश्यकता होती है जो ऊन और ऊन से बने सामान को ढोते हैं तथा अपने मालिकों के लिये भूमि पर खेती करते हैं। इन श्रमिकों को कुली भोटिया या हरिजन भोटिया कहा जाता है जो पूर्ण रूप से अपने भोटिया मालिकों पर आश्रित होते हैं। भोटिया लोग इन कुली भोटिया को अपने समकक्ष नहीं मानते बल्कि वे इन्हें निम्न जाति मानते हैं और इनके साथ दासों जैसा व्यवहार करते हैं। फलस्वरूप इन कुली (हरिजन) भोटिया की दशा बड़ी शोचनीय है। भोटिया जनजाति के नाम से जो आरक्षण एवं सुविधायें सरकार द्वारा दी जाती हैं वे इन तक नहीं पहुँच पातीं क्योंकि वे तो इनके भोटिया मालिकों तक ही सीमित रहती हैं। अतएव जो सुविधायें भोटिया जनजाति को प्राप्त हैं उन्हें कुली भेटिया (हरिजन भोटिया) को अलग से आरक्षित करके सुलभ करना चाहिये वर्ना वे इनसे सदैव वंचित रहेंगे।

पुस्तक के अध्याय 3 में कतिपय विमुक्त जातियों का उल्लेख किया गया है-कंजर, सातिया, बौरिया, यरूकला, बंजारा, डुम्मरां, बेड़िया, डोम् सांसिया व करवाल। वैसे विमुक्त जातियों की सूची लम्बी है जिसमें सैकड़ों जातियाँ शामिल हैं। यह सूची राज्यवार बनी है क्योंकि कई जाति एक राज्य की सूची में पायी जाती है और दूसरे राज्य में वह नहीं पायी जातीं। इन विमुक्त जातियों को पहले अपराधशील जातियों के नाम से जाना जाता था। सन् 1871 ई. में अंग्रेजों के शासनकाल में 'अपराधशील जनजातियाँ अधिनियम' बनाया गया जिससे सैकड़ों जातियों को अपराधशील जाति कहा गया है। इस अधिनियम के अन्तर्गत पुलिस को अधिकार प्राप्त था कि क्षेत्र में अपराध होने पर वहाँ की अपराधशील जाति के लोगों को शक के आधार पर गिरफ्तार किया जा सकता था चाहे उनके द्वारा कथित अपराध किया गया है या नहीं। इसे काला कानून भी कहा जाता था क्योंकि इसकी आड़ में अपराधशील जाति के किसी भी व्यक्ति को कभी भी पुलिस द्वारा पकड़कर बन्द किया जा सकता था। पुलिस द्वारा इस अधिनियम के अधीन इन जातियों का बड़ा शोषण करके इन लोगों पर अत्याचार किये जाते थे।

वास्तव में जिन जातियों को अपराधशील जाति कहा जाता था वे कभी इस देश की शासक थीं। इन जातियों के अपने राज्य थे जिनका वर्णन इतिहास में मिलता है विशेषकर मध्यकालीन इतिहास में। मध्य-युग में अनेक विदेशी आक्रमणों का इन्होंने बहादुरी से सामना किया और आक्रमणकारियों को परास्त किया। अंग्रेज इनकी बहादुरी और

युद्ध-क्षमता को अच्छी तरह से जानते थे। अतः उन्होंने अपने शासनकाल में आरम्भ से ही 'अपराधशील जाति अधिनियम' के अन्तर्गत इन सभी बहादुर जातियों को अपराधशील घोषित कर दिया। ऐसा करने से उन्हें भारतवर्ष में लगभग दो सौ वर्ष शासन करने में बड़ी सुविधा और सहायता मिली। अगस्त सन् 1947 में देश जब स्वतंत्र हुआ तब इन वीर जातियों को उपरोक्त काले कानून से मुक्त करने के बारे में सोचा गया और सन् 1952 में इसे निरस्त करके "विमुक्त जाति अधिनियम" बनाया गया। काले कानून के निरसन के बाद इनके पुनर्वासन एवं कल्याण हेतु सरकार द्वारा विभिन्न योजनायें भी बनायी गईं किन्तु बड़े खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि उन्हें पुलिस से अभी मुक्ति नहीं मिली है। अब भी चोरी, राहजनी, और डकैती के अपराध होने पर पुलिस द्वारा सबसे पहले इन्हें ही पकड़ा और मारा-पीटा जाता है। समाज द्वारा भी इन्हें पूर्व अपराधशील जाति होने के कारण अपराधी समझा जाता है जबकि वर्तमान अपराध आंकड़े बताते हैं कि आज कल अपराध करने वालों की संख्या सवर्ण जातियों में कहीं अधिक पायी जाती हैं। भुक्तभोगी विमुक्त जातियों का कहना है कि वह भी नेक और ईमानदार नागरिक की भाँति जीवन व्यतीत करना चाहते हैं किन्तु पुलिस और समाज उनके रास्ते में बाधक हैं। उन्हें नित्य झूठे वादों में फंसा कर तंग किया जाता है और तरह-तरह की यातनायें दी जाती है। पुलिस के बारे में तो यह भी कहा जाता है कि पुलिस अधिकारियों को प्रशिक्षण के दौरान ही सिखाया जाता है कि चोरी-डकैती के अपराध होने पर सर्वप्रथम पूर्व अपराधशील जातियों पर सन्देह करना चाहिए। ऐसी स्थिति में विमुक्त जातियों के लोग सच्चे नागरिक बनकर राष्ट्र निर्माण में अपना योगदान कैसे कर सकते हैं ?

पुस्तक के अध्याय 4 में कतिपय आदिवासी क्षेत्रों में लेखक की यात्रा का वर्णन है। लेखक जब उत्तर प्रदेश में निदेशक हरिजन व समाज-कल्याण था तो भोटियों के निवास-स्थान (उत्तर काशी, पिथौरागढ़, चमौली, आदि) में जाने का अवसर मिला। तदुपरान्त लेखक जब भारत सरकार के समाज कल्याण विभाग में पदरत था तब किन्नौर (हिमाचल प्रदेश) और मेघालय जाकर किन्नौर एवं खासी जनजातियों के निकट से देखने-जानने का सुअवसर प्राप्त हुआ। ये जनजातियाँ हिमालय पर्वत की गोद में बसी हुई हैं जहाँ की प्राकृतिक छटा व सुन्दरता लेखनी द्वारा वर्णन के बाहर है। वहाँ के मनोरम पर्वतों और नैसर्गिक वातावरण को देखकर यह अनुभूति होती है कि विश्व मे सुन्दरतम स्थान यही है और ईश्वर वहीं निवास करता होगा। इन रमणीक भूभागों में रहने वाली जनजातियाँ निश्चय ही बड़ी सुन्दर, मनोहर, और रमणीय होनी चाहिए।

जिस प्रकार जिला देहरादून के जौनसार-भाबर क्षेत्र में रहने वाली जनजाति को "जौनसारी" (अनुसूचित जनजाति) घोषित किया गया है उसी प्रकार किन्नौर (हिमाचल

प्रदेश) जिले में रहने वाले सभी लोगों को (किन्नौरी) (अनुसूचित जनजाति) घोषित किया गया है चाहे वे सब लोग जनजाति की परिभाषा में आते हों या नहीं। इसके दुष्परिणाम स्वरूप किन्नौर जिले की सवर्ण और सम्पन्न जातियाँ भी किन्नौरी (अनुसूचित जनजाति) की सूची में आ गयी हैं। उदाहरण के लिये नेगी जाति को लिया जाय जो क्षत्रिय होते है और अपने को नेगी राजपूत कहते हैं। अनुसूचित जनजाति के नाम पर जो भी आरक्षण एवं सुविधायें सरकार से मिलती हैं वह सभी नेगी राजपूतों द्वारा सरकार से हथिया ली जाती हैं और किन्नौर जिले के शोषित व दलित वर्ग उनसे वंचित रह जाते हैं। दलित और शोषित किन्नौरियों के लिये सबसे बढ़कर और त्रासदी क्या हो सकती है कि जिन वर्गों को सरकारी आरक्षणों और सुविधाओं की अत्यधिक आवश्यकता है वे उनसे वंचित रहते हैं और जो सम्पन्न एवं जमींदार लोग हैं उन्हें ही ये आरक्षण और सुविधायें प्राप्त हैं। इस मामले में भी भारत सरकार को "किन्नौरी" के स्थान पर किन्नौरी जिले की दलित व निर्धन जातियों को ही अनुसूचित जनजाति घोषित करना चाहिए।

भारत की जनजातियों का अतीत महान एवं गौरवशाली रहा है। इनकी सभ्यता, संस्कृति, साहित्य, संगीत आदि को भी महान और उत्तम कहा जायेगा। अपितु लगातार विदेशी शासन, अशिक्षा, अज्ञानता और अजागृति के कारण इनकी शैक्षिक, आर्थिक एवं राजनैतिक दशा अब भी शोचनीय है। ईसाई मिशनरियों के प्रभाव में कतिपय जनजातियों में शिक्षा का प्रचार अवश्य हुआ है अतः उनकी दशा अन्य जनजातियों से बेहतर है किन्तु शेष जनजातियों की स्थिति अभी भी संन्तोषजनक नहीं है। समाज के शोषक तत्वों तथा सरकारी अधिकारियों व कर्मचारियों द्वारा उनका दमन व शोषण अब भी जारी है और यह तब तक जारी रहेगा जब तक दलित व शोषित जनजातियाँ स्वयं इसके विरुद्ध खड़ी होकर संघर्ष नहीं करेंगी। जनजातियों को शिक्षित होकर संगठित होना चाहिए और अपने अधिकारों तथा सम्मान के प्रति जागरूक होकर अपने ऊपर किये जा रहे दमन व शोषण के विरुद्ध सशक्त संघर्ष करना चाहिए।

उत्तर प्रदेश की जनजातियों पर श्री माता प्रसाद पूर्व राज्यपाल अरुणाचल द्वारा "उत्तर प्रदेश की दलित जातियों का दस्तावेज" लिखा गया है जिसे पढ़कर मैंने बड़ी जानकारी प्राप्त की और इस जानकारी को मैंने इस पुस्तक में श्री माता प्रसाद जी की अनुमति से उपयोग भी किया है। इसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। इस पुस्तक पर "अभिमत" भी मेरे अनुरोध पर उनके द्वारा लिखा गया है। जब इस "अभिमत" हेतु मैं उनके पास गया था तक वह अरुणाचल के महामहिम राज्यपाल थे और मैं उनके राजभवन में उनका अतिथि था। वहाँ उन्होंने मुझसे अरुणाचल की एक-दो जनजातियों को भी पुस्तक में शामिल करने को कहा जिस पर मैंने ईटानगर के अपने प्रवास-काल

में निशि (निशिंग) जनजाति का कुछ अध्ययन किया और इस सम्बन्ध में मैंने उनके द्वारा लिखित "पूर्वोत्तर भारत के राज्य" से भी आवश्यक जानकारी प्राप्त की। निशि (निशिंग) जाति पर मेरे द्वारा यह लेख उन्हीं की प्रेरणा से लिखा गया है जिसके लिये मैं उनका विशेष रूप से आभारी हूँ। इसी प्रकार मैंने डॉ. अर्जुनदास केसरी द्वारा लिखित "आदिवासी जीवन" से भी उत्तर प्रदेश की अनेक जनजातियों पर जानकारी प्राप्त की और उनकी अनुमति से उस जानकारी का उपयोग इस पुस्तक में किया गया है। तदर्थ मैं उनके प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ।

मैं अपनी पत्नी (श्रीमती विद्या सोनकर) का भी बड़ा आभारी हूँ। इस पुस्तक के लेखन में उनका सहयोग अमूल्य कहा जायेगा। सेवा-निवृत्ति के बाद घर में सेवकों की कमी हो जाती है जिसके फलस्वरूप गृहस्थी का काफी काम स्वयं करना पड़ता है। मेरी पत्नी ने घर के कामकाज से मुझे मुक्त रखा और स्वयं सम्पूर्ण गृहस्थी सम्हाली। तभी मैं निश्चिन्त होकर यह पुस्तक लिख सका। इसके अतिरिक्त उन्होंने मेरे समय से खाने-पीने का पूरा ध्यान रखा जिससे मेरा स्वास्थ्य ठीक रहे, और स्वास्थ्य ठीक रहने पर ही मैं इसके लिखने का प्रयास कर सका।

इस पुस्तक में वर्णित आदिम जातियों के बारे में मेरी जानकारी सीमित है। जनजाति-कल्याण विभागों में काम करते हुये मुझे इनके बारे में कुछ जानकारी प्राप्त करने का अवसर मिला। इसके अलावा जनजातियों पर मैंने कुछ अध्ययन भी किया जो सीमित ही रहा। अतएव यदि इस पुस्तक में जनजातियों पर कोई तथ्य सही न पाये जाते हों तो मैं विद्वान पाठकों से उसके लिये क्षमा चाहूँगा। अन्त में मैं सुश्री बबिता सोनकर टंकक को भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिसने इस पुस्तक के टंकण में मेरी बड़ी सहायता की है।

आर. डी. सोनकर

अभिमत

श्री आर. डी. सोनकर द्वारा लिखित 'उत्तर भारत की आदिम जातियाँ' को देखने का अवसर मिला। आदिम जातियों को भारतीय संविधान में अनुसूचित जनजातियाँ या 'शेडयूल्ड ट्राइब' कहा गया है। यह जातियाँ उत्तर भारत के राज्यों में विशेषकर, उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल हिमाचल प्रदेश और राजस्थान में पर्याप्त मात्रा में पाई जाती हैं।

पूर्वी राज्यों में बिहार, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल और पूर्वोत्तर राज्यों एवं भारत के मध्य भाग, मध्य प्रदेश, पश्चिम में महाराष्ट्र, गुजरात तथा दक्षिण के राज्यों में भी ये मिलती हैं। पूर्वोत्तर राज्यों की जन-जातियाँ जहां मंगोलियन नस्ल की हैं, वहीं बिहार, मध्य प्रदेश और दक्षिणी राज्यों की जन-जातियाँ द्रविणियन नस्ल की मानी जाती हैं।

इस पुस्तक को चार अध्यायों में विभक्त किया गया है प्रथम अध्याय में वे जनजातियाँ हैं जिन्हें केन्द्रीय सरकार ने अनुसूचित जनजाति की मान्यता नहीं दी है, लेकिन जनजातियों की सारी स्थिति इनमें मौजूद है। दूसरे अध्याय में उत्तरांचल, उत्तर प्रदेश के उत्तरी पर्वतीय भागों की अनुसूचित जनजातियों की स्थिति का विवरण दिया गया है। तीसरे अध्याय में विमुक्त जातियाँ जो सन् 1951 ई. के पूर्व अपराधशील जातियों में दर्ज थी, का हाल दिया गया है। चौथे अध्याय में ऐसे जनजातीय क्षेत्रों का विवरण दिया गया है, जहाँ लेखक ने दौरा किया और वहाँ की आँखों देखी स्थिति को लिखा है।

इस कृति में लेखक ने विशेषकर उत्तर प्रदेश की विन्ध्य श्रेणी और उत्तर के पर्वतीय भाग में निवास करने वाली जनजातियों, हिमाचल के किन्नौर जिले में रहने वाली जातियों और पूर्वोत्तर राज्यों की कुछ जनजातियों की स्थिति को बताया है। इसका मतलब यह नहीं है कि लेखक देश की अन्य जनजातियों के संबध में अपरिचित है, बल्कि वह उत्तर प्रदेश सरकार में विभिन्न पदों के अतिरिक्त भारत सरकार के कल्याण विभाग में उपसचिव/निदेशक भी रहे हैं। इस दृष्टि से देश भर की अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों की

सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति से वह पूरी तरह परिचित रहे हैं। उन्होंने यहाँ पर केवल उत्तर भारत की जनजातियों के संबध में विवरण दिया है। उसका कारण यह लगता है, कि उत्तर प्रदेश सरकार में समाज कल्याण विभाग के निदेशक की हैसियत से वह इन जातियों के संबंध में केवल रिपोर्टों पर ही वह आश्रित नहीं रहे बल्कि इन जातियों के बीच जाकर उनके संबंध में पूरी जानकारी ली। हिमाचल प्रदेश तथा मेघालय राज्यों में भारत सरकार के कल्याण विभाग के उपसचिव/निदेशक की हैसियत से दौरा कर यहाँ की जनजातियों के सम्पर्क में आये। सेवानिवृत्त होने पर वह अरुणाचल प्रदेश भी आये और वहाँ की कुछ जनजातियों की बस्तियों को देखा और उनके संबंध में पूरी जानकारी ली। इसलिए इस पुस्तक में लेखक ने पुस्तकीय अध्ययन के साथ वहाँ पर जाकर प्रत्यक्ष रूप से जनजातियों से सम्पर्क किया है, उसी का ही विवरण इसमें दिया है। देश के कुछ राज्यों में ऐसी जनजातियाँ हैं, जिनमें एक-एक जनजाति पर एक-एक पुस्तक लिखी जा सकती है, इसलिए इस पुस्तक में केवल उत्तर भारत के उत्तर प्रदेश उत्तरांचल और हिमाचल प्रदेश की जनजातियों का ही विवरण विशेष रूप से उन्होंने दिया है।

उत्तर भारत की जनजातियों की ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति का इसमें वर्णन किया गया है। इस पुस्तक में वर्णन है- उत्तर प्रदेश की विन्ध्य श्रेणी की जनजातियों को केन्द्र सरकार द्वारा अनुसूचित जनजाति की मान्यता न देने से बहुत सी सुविधाओं से वे वंचित हो गये हैं, यद्यपि उनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति अनुसूचित जनजातियों की ही जैसी है। इसीलिए उत्तर प्रदेश सरकार इनको कुछ आर्थिक सुविधाएं देती है।

इस पुस्तक में लेखक ने एक बहुत महत्वपूर्ण समस्या की तरफ लोगों का ध्यान दिलाया है। उत्तर प्रदेश के उत्तर के पर्वतीय भागों व उत्तरांचल में पाँच अनुसूचित जनजातियाँ मान्यता प्राप्त हैं जो थारू, भोक्सा, राजी, भोटिया और जौनसारी हैं। इनको अनुसूचित जनजाति की सुविधाएं प्राप्त हैं। इनमें 'जौनसारी' कोई एक जनजाति नहीं बल्कि देहरादून जिले का एक जौनसार क्षेत्र है, इसमें रहने वाली जातियाँ जौनसारी

कहलाती हैं। वे सभी जनजातियों की सुविधाएं पाती हैं इससे यहाँ रहने वाली अनुसूचित जातियों का बहुत बड़ा नुकसान हुआ है, वे कई दशाब्दी पीछे चली गईं। सन् 1967 ई. तक इस क्षेत्र के दलितों को अनुसूचित जाति का स्थान प्राप्त था इसलिए उत्तर प्रदेश की अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित सेवाओं और सुविधाओं के वे पात्र थे। सन् 1967 ई. में पूरे जौनसार क्षेत्र में रहने वालों को 'जौनसारी' जनजाति घोषित होने से इस क्षेत्र के सभी लोग जिनमें अनुसूचित जाति के लोग भी थे, उत्तर प्रदेश में अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित 2 प्रतिशत के अधिकारी हो गये। यदि यहाँ के दलित इसमें सम्मिलित न होते तो वे अनुसूचित जातियों की 18 प्रतिशत आरक्षित सुविधा के भागी होते। जौनसारी जाति में आने के कारण वे सभी 2 प्रतिशत आरक्षित सुविधा में मान लिये गये हैं।

विडम्बना यह है कि जौनसार क्षेत्र में रहने वाले क्षेत्रीय राजपूत जो खस कहलाते हैं और ब्राह्मण- उनका ही यहाँ प्रभुत्व है। दलित जातियाँ उनके यहाँ गुलामी करती हैं। जनजातियों के लिए 2 प्रतिशत आरक्षण की जो सुविधा है उसे यहाँ के सामन्त या बड़े लोग ही ले लेते हैं, यहाँ की दलित जातियों के कोल्टा, बाजगी, डोम, मोची, शिल्पकार, दर्जी आदि को इनकी भनक भी नहीं पड़ पाती। यह उन्हीं लोगों के खेतों पर काम करते हैं, उनके पशु चराते हैं, किसी विशिष्ट अतिथि के आने से ड्रम बजाते हैं और उनकी स्त्रियाँ नाचती हैं बदले में कुछ भोजन मिल जाता है, उनके पशु-शालाओं में ही वे निवास करते हैं। इस प्रकार वे सदैव के लिए गुलाम बन गये हैं।

इस क्षेत्र में भोटिया भी हैं जो अनुसूचित जनजाति हैं। इनमें भी दो तरह के लोग हैं-एक भोटिया जो व्यापारी हैं, चीन से व्यापार करते हैं, यह सम्पन्न हैं। दूसरे कुली भोटिया हैं जो कुलीगीरी करते हैं, यह भी दासता का जीवन बिताते हैं। सामन्त भोटिया ही आरक्षित सरकारी सुविधाओं का उपभोग करते हैं कुली भोटिया की दशा दयनीय ही हैं।

इस पुस्तक में बताया गया है कि हिमाचल प्रदेश के किन्नौर क्षेत्र को भी जौनसार में रहने वाले जौनसारी की तरह "किन्नौरी जनजाति" की सुविधा दी गई है। यहाँ भी

जनजाति के नाम पर नेगी जो क्षत्रिय हैं, वे ही सारी सुविधाएं ले लेते हैं, इसलिए इस क्षेत्र का दलित भी पिछड़ा ही रह गया है।

इस पिछड़ेपन से असन्तुलन ही होगा। इसलिये जौनसारी या किन्नौरी क्षेत्र के लोगों को जनजाति की सुविधाएं भले दी जायं किन्तु इन क्षेत्रों में रहने वाली दलित जातियों को, संबंधित प्रदेश में अनुसूचित जातियों की सुविधाएं दी जानी चाहिए। आशा है कि भारत सरकार इस महत्वपूर्ण समस्या पर ध्यान देगी।

अनुसूचित जनजातियों के अतिरिक्त इसमें विमुक्त जातियों का भी विवरण दिया गया है जो भूतकाल में सरदार या राजे थे। इनकी धन-धरती छीन कर इन्हें पीटकर भगा दिया गया। विवश होकर ये जीवन-यापन के लिए लूटमार करने लगे। अंग्रेजों ने इन्हें अपराधशील जाति में अधिसूचित कर दिया। इसलिए कहीं भी अपराध होने पर पुलिस की प्रताड़ना इन्हें ही सहन करनी पड़ती है। यद्यपि भारत में गणतंत्र स्थापित होने के बाद इन्हें अपराधशील जातियों से मुक्ति तो मिल गई, लेकिन अभी पुलिस की दृष्टि में वे अपराधी ही माने जाते हैं इस पुस्तक में इस संबंध में विस्तार से विचार किया गया है।

अंतिम भाग में लेखक जिन अनुसूचित जनजातीय राज्यों या क्षेत्रों में जनजातियों के बीच गये हैं उनका बड़ा रोचक वर्णन किया गया है। उनकी वर्णन शैली ऐसी है मानो उनके साथ पाठक भी जनजातियों के बीच घूम रहा है। इन जनजातियों के रीति-रिवाज़, धर्म, देवी-देवता, अन्धविश्वास आदि का वर्णन पढ़कर वहां का चित्र हमारे सामने उभरकर आता है।

हिमाचल प्रदेश और उत्तर प्रदेश के उत्तर के पर्वतीय भागों में अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या कम है और यत्र-तत्र वे बिखरी हैं, इसलिए वे संगठित नहीं होते और उनकी आवाज़ ऊपर तक नहीं पहुँच पा रही है किन्तु बिहार, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, मध्य प्रदेश और आन्ध्र प्रदेश में वे संगठित होकर अपने अस्तित्व और उत्थान के लिये संघर्षरत हो रही हैं।

बंगाल की प्रसिद्ध उपन्यास लेखिका महाश्वेता देवी आदिवासियों के संबंध में कहती हैं-

"तथाकथित" सभ्य समाज में सबसे निचले स्तर पर जो मनुष्य हैं, उनसे भी गई गुज़री दशा आदिवासियों की है। उन्हें सभ्य समाज ने इन्सान की गरिमा और मर्यादा नहीं दी। उन्हें इंसान किसी ने नहीं माना। उन्हें दो पाया जानवर माना गया। सभ्य समाज, पुलिस प्रशासन, राजनीतिक दलों के लिये वे अब भी शिकार हैं, सभी उनका शिकार कर रहे हैं।"

बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल और आन्ध्र प्रदेश के आदिवासियों के बारे में वे कहती हैं-

"बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश के आदिवासी इलाकों में कितनी दरिद्रता है ? जब तक उनमें दरिद्रता रहेगी, भूख रहेगी, पेयजल-समस्या रहेगी, अस्पताल व शिक्षा की सुविधा नहीं रहेगी, शोषण-दमन-उत्पीड़न रहेगा, वे जनसंगठनों के ज़रिए संघर्ष करते रहेंगे। आदिवासियों को आप दोगे कुछ नहीं और चाहोगे कि वे खामोश रहें। संगठित होकर शोर न मचाएं। क्या वे कुत्ते हैं कि आपके एक टुकड़े पर भागे आयेंगे ? शोर न मचाने पर उन्हें कुछ भी नहीं मिलेगा। आन्ध्र में वारंगल क्यों जल रहा है ? वहां न पेयजल की सुविधा है, न सिंचाई-सुविधा। अपनी ज़मीन नहीं। तो वह क्यों नहीं जलेगा ? 'पीपुल्स वार ग्रुप' या बंगाल के नक्सलियों ने कोई गलती नहीं की। न तेलंगाना में न नक्सबाड़ी में। जनांदोलनों से आदिवासियों और शोषित-शासित वर्ग की चेतना मुखर हुई। उनमें चिन्गारी पैदा हुई है"। (यंग इंडियन साप्ताहिक 10 अक्टूबर, 1998 "आदिवासी : हक चाहिए, भीख नही"-महाश्वेता देवी)

पूर्वोत्तर भारत की आदिवासियों की आर्थिक दशा उत्तर भारत, मध्य प्रदेश या पूर्वी भारत की जनजातियों की तरह दयनीय नहीं है, उसका कारण यह है कि यहाँ सामंती वर्ग का पंजा नहीं गड़ सका है। इनमें से कई राज्यों में प्रदेश के बाहर के लोगों को जाने के लिये 'इनर लाइन परमिट' लेना पड़ता है, यहां बसना तो दूर। इसलिये यहां अधिक शोषण नहीं है। यद्यपि वनों पर सरकारी नियंत्रण है, किन्तु भूमि के मालिक आदिवासी ही हैं। सरकारी वनों को छोड़कर ग्राम-समितियों के वनों पर इन आदिवासी जातियों की परम्परागत पंचायतों का नियंत्रण है। इसलिये यहां के लोग शोषण से बचे हैं।

श्री आर. डी. सोनकर सेवा-निवृत्त आई. ए. एस. अधिकारी हैं। उत्तर प्रदेश में विभिन्न सरकारी पदों पर जैसे निदेशक, हरिजन-समाज-कल्याण विभाग, विभिन्न विभागों के सचिव, कई डिविजनों के कमिश्नर, चेयरमैन, बोर्ड ऑफ रेवन्यू, उत्तर प्रदेश, राज्यपाल के सलाहकार, प्रशासक डॉ० अम्बेडकर विश्वविद्यालय लखनऊ और राज्य चुनाव आयुक्त स्थानीय निकायें, उत्तर प्रदेश सरकार जैसे महत्वपूर्ण पदों पर कार्य कर चुके हैं। भारत सरकार के कल्याण मंत्रालय मे उपसचिव भी रहे हैं। इसलिए इनका लेखन-कार्य महत्त्व रखता है।

मुझे प्रसन्नता है कि अपने अनुभवों के आधार पर "उत्तर भारत की आदिम जातियाँ" पुस्तक उन्होंने लिखी है, जिसका लाभ प्रदेश और समाज को अवश्य मिलेगा। इन शब्दों के साथ श्री आर. डी. सोनकर साहब के इस प्रयास की मैं सराहना करता हूँ।

माता प्रसाद
पूर्व राज्यपाल (अरुणाचल प्रदेश)

1

उत्तर भारत की चन्द जनजातियाँ

अगेरिया (अगरिया)

अगेरिया एक पिछड़ी जनजाति है जो उत्तर प्रदेश के_दक्षिणी भाग (कैमूर क्षेत्र), मध्य प्रदेश के उत्तरी भाग (रींवा क्षेत्र) और बिहार के दक्षिणी-पश्चिमी भाग में पाई जाती है। कहा जाता है कि यह जाति पहले विन्ध्य प्रदेश में निवास करती थी जहाँ से विस्थापित होकर उत्तर प्रदेश में आई। उत्तर प्रदेश में सोनभद्र जिले की दुद्धी तहसील में यह जाति अधिकांशतः पाई जाती है जहाँ न जाने कब से यह बसे हुये हैं। इसके अलावा मिर्जापुर, आगरा और मथुरा जिलों में भी ये पाये जाते हैं। सन् 1981 की जनगणना के अनुसार उत्तर प्रदेश में इनकी कुल जनसंख्या लगभग 13000 बताई गई है।

यह जनजाति द्रविड़ प्रजाति के अन्तर्गत आती हैं। इनका श्याम वर्ण होता है अर्थात सॉवला रूप-रंग होता है। कद छोटा और नाटा होता है। स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट शरीर के यह होते हैं। इनमें दस उपजातियाँ (शाखायें) पाई जाती हैं। (1) अहिनवार (2) वघेल (3) गिघेल (4) वानझाकुंवर (5) कोरियाज (6) बारांगिया (7) मारकान (8) सनवार (9) पारसवार (10) सनमोगरिया। कुछ लोगों का मानना है कि अगेरियों के पूर्वज राजपूत घरानों से सम्बन्धित थे। अगेरिया परिवारों में नारियाँ ही घर की मालिक होती हैं और पुरुष-वर्ग उनके कहने पर चलता है।

अगेरिया जाति का मुख्य व्यवसाय स्थानीय पहाड़ियों की मिट्टी और पत्थर से लोहा निकालना और उसके औज़ार बनाकर बेंचना है। इसके अलावा यह खेती पशु-पालन गोचारण, हलवाही और मज़दूरी भी करते हैं। इस जनजाति के सदस्य मुख्यतया शिल्पी

(कारीगर) होते हैं। वहाँ की मिट्टी-पत्थरों के अन्दर से यह कच्चा लोहा खोदकर निकालते हैं और उसे छानने के बाद पकाते हैं। तब उस लोहे से खेती के औज़ार और गृहस्थी के बर्तन जैसे-फावड़ा, कुदाल, खुरपी, हंसिया, घड़ा, बाल्टी, चाकू, सरौता, करछुल, तवा, चिमटा आदि बनाते हैं जिन्हें कस्बों और कारखानों में, लगने वाले साप्ताहिक मेलों, पैंठ में बेच आते हैं। लोहे के इन औज़ारों और बर्तनों की ये मरम्मत भी करते हैं जिसके बदले में इन्हें किसानों से फ़सल के समय निर्धारित मात्रा में अनाज मिलता है। लोहे के औज़ार और बर्तन बेंचने हेतु इन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान जाना होता है अतः इन्हें उठउवा व्यापारी भी कहते हैं जो दर-दर जाकर अपना सामान बेचते हैं।

कहा जाता है कि कोटा-बीना के पास एक ज्वालामुखी पर्वत है जहाँ की पहाड़ियों के पत्थर में लोहे का अंश पाया जाता है जिनसे अगेरिया लोहा निकालते हैं। वहाँ की भूमि के अन्दर कोयला पाया जाता है जिसे इस जाति के लोग लम्बे अरसे से निकालते आये हैं। स्वतंत्रता- प्राप्ति के पूर्व इस कोयले को अगेरिया घोड़ों, बैलों और बैलगाड़ियों में भरकर मिर्जापुर और वाराणसी नगरों में बेंचने जाया करते थे। अंग्रेज अधिकतर इसी कोयले का उपयोग करते थे किन्तु गाँव वाले इस कोयले को पत्थर का कोयला कहकर छोड़ आते थे और उसका प्रयोग नहीं करते थे।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद अगेरिया युवक स्थानीय उद्योग-धन्धों में काम करते हैं जहाँ उन्हें अच्छी मजदूरी मिलती है। सरकार द्वारा क्रियान्वित बीस-सूत्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत इन्हें रोज़गार के अच्छे अवसर प्राप्त हुये हैं जिससे इनकी आर्थिक दशा में सुधार हुआ है। पहले ये किसानों और साहूकारों से देढ़ा-बाढ़ी पर अनाज और रुपये उधार लेते थे और चक्रवृद्धि ब्याज के साथ ऋण चुकाने में तबाह हो जाते थे। एक वर्ष के बाद ही इन्हें ऋण ड्योढ़ा वापस करना पड़ता था और कहीं-कहीं दूना भी। किन्तु अब यह स्थिति नहीं है। सहकारी समितियों व बैंकों से अब इन्हें ऋण मिलने की सुविधा हो गई है जिससे किसानों व महाजनों से मुक्ति मिल गई है। वैसे अगेरिया सीमित साधनों और आय में सन्तुष्ट और सुखी रहने वाले लोग हैं किन्तु अनेक पंचवर्षीय योजनाओं के लागू होने पर इनमें बड़ी चेतना जागृत हुई है और ये विभिन्न विकास-योजनाओं में अपनी साझीदारी समझकर वर्तमान श्रमिक संगठनों के द्वारा अपने अधिकारों के लिये माँग करने लगे हैं। यह एक शुभ संकेत है जिसे महत्वपूर्ण उपलब्धि कहा जाना चाहिये। इस जनजाति के लोग अब अपने विकास और उत्थान के लिये सजग हो रहे हैं तथा देश के अन्य लोगों के साथ यह भी अपने पैरों पर खड़े होकर अपनी उन्नति और प्रगति करना चाहते हैं।

इस जनजाति के लोग अनेक हिन्दू देवी-देवताओं को पूजते हैं तथा हिन्दुओं के पर्व-त्यौहार भी मनाते हैं। दुर्गा, लोहासुर, घनश्याम, वनदेवी, बघउत बाबा आदि देवताओं

एक अगेरिया परिवार

की ये पूजा करते हैं। ज्वालामुखी देवी की भी इनके यहाँ पूजा की जाती है। देवी-देवताओं की पूजा करने ये प्रायः समूह में पैदल जाते हैं और देव-स्थान पर मुर्गा या सुअर या बकरे के बच्चे की बलि देते हैं। जिस दिन यह बलि दी जाती है उस दिन यह अपने सिर या हाथ में जलती अँगीठी लेकर चलते हैं और नाचते-गाते चलते हैं। दीवाली में इनके यहाँ पशुओं की पूजा होती है और नवरात्रि के दिनों नीम की पूजा की जाती है। सेमल आदि वृक्षों की भी पूजा करते हैं। जन्म, अन्नप्राशन, जनेऊ, विवाह, गौना व मृत्यु आदि के समय लोक-परम्परा के अनुसार सभी संस्कार किये जाते हैं। हिन्दुओं की तरह मुर्दे को जलाने की प्रथा इनमें पाई जाती है। जलाने के अलावा मुर्दे को मिट्टी में गाड़ने और बहते जल में प्रवाहित करने की परम्परा भी इनमें विद्यमान है। टोना-टोटके में यह विश्वास करते हैं और शकुन-अपशकुन का विचार करके यह विशेष व मांगलिक कार्य करते हैं। विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर यह घरों की दीवालों पर अनेक प्रकार के चित्र बनाते हैं जिनमें हाथी-घोड़े आदि के चित्र प्रमुख होते हैं।

अगेरिया, जनजाति के लोग सीधे-सादे होते हैं और इनका रहन-सहन भी सादा होता है। पुरुष हल्का-मोटा वस्त्र पहनते हैं तथा नारियाँ सूती साडियाँ पहने रहती हैं। नारियाँ आभूषणों की शौकीन होती हैं और हुमेल, हैकल, हंसुली, चूड़ी, घुमची की माला-गुरियाँ तथा गिलट के कड़ा-छड़ा आदि पहनती हैं। इनके मकान फूस व खपरैल के बने होते हैं। घर के अन्दर मिट्टी, अलुमीनियम, लकड़ी, लोहा और पत्थर के बर्तन प्रयोग में लाये जाते हैं। अगेरिया नारियाँ अपने बदन पर गोदना गोदवायें रहती हैं। इनके पुरुष भी हाथों में गोदना गोदाते हैं। इनमें मदिरा-पान का चलन है और नर-नारी दोनों मदिरा का सेवन करते हैं। भूत-प्रेतों में ये विश्वास करते हैं, किन्तु शिक्षा-प्रसार के साथ-साथ इस प्रकार के अन्धविश्वासों में अब कमी होती जा रही है।

ये लोग सदियों से सामन्ती व्यवस्था द्वारा शोषित और उत्पीड़ित किये गये हैं जिसके फलस्वरूप इनका जीवन बड़ा विषम है। फिर भी ये सरल जीवन जीते हुये हर दशा में अपने को सुखी और सन्तुष्ट रखने का प्रयास करते हैं। अगेरिया संगीत-प्रेमी होते हैं और नर-नारी दोनों मिलकर नाचते-गाते हैं जिससे अपने दुख और चिन्तायें भूले रहते हैं। करमा नृत्य सर्वाधिक लोकप्रिय है। इनके साहित्य में लोक कथायें, लोकगाथायें और लोक-नाट्य शामिल है। लोक-नृत्य की भाँति इनके लोगों में लोक-गीत और लोक-कथायें बड़े लोकप्रिय हैं। इनके गीतों में इनके जीवन की पूरी झाँकी दिखाई देती है और इनके लोक साहित्य में क्षेत्र की सांस्कृतिक परम्परा की अभिव्यक्ति पाई जाती है। चूँकि अगेरिया जाति के लोगों का जीवन कठिन और विषम होता है अतः अनेक लोक-गीतों में जीवन और संसार के प्रति उदासीनता का आभास स्पष्ट रूप से मिलता है। इनकी भाषा में

अवधी, भोजपुरी और छतीसगढ़ी भाषाओं का मिश्रण पाया जाता है और ये तदनुसार खिचड़ी भाषा बोलते हैं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से अगेरिया जनजाति में शिक्षा का प्रसार अवश्य हुआ है तथा इनकी आर्थिक दशा में भी सुधार हुआ है। तथापि अब भी इनके समाज में शिक्षा की बड़ी कमी है और नारी-शिक्षा तो अति अल्प पाई जाती है। अतः इनमें शिक्षा का प्रसार ज़ोरों से किया जाना चाहिये। इनके क्षेत्रों में आश्रम पद्धति विद्यालय खोले जाने चाहिये विशेषकर बालिकाओं के लिये- क्योंकि उनमें शिक्षा की बड़ी कमी पाई जाती है। इसके अलावा अगेरिया युवकों को विविध उद्योग-धन्धे लगाने हेतु प्रशिक्षण देना चाहिये जिससे कि वह प्रशिक्षित होकर अपने उद्योग-धन्धे लगाकर अपने पैरों पर खड़े हो सकें। इसके लिये सरकार द्वारा इन्हें पर्याप्त अनुदान व ऋण दिया जाना चाहिये विशेषकर लौह-उद्योग लगाने के लिये क्योंकि सदियों से ये लोग लोहे का काम करते आये हैं। उद्योग-धन्धों से जो सामान बनेगा उसकी बिक्री हेतु भी सरकार द्वारा आवश्यक नीति और व्यवस्था अपनाई जानी चाहिये तभी उनके उद्योग-धन्धे ठीक से चल सकेंगे। इसके अतिरिक्त इनकी बस्तियों में जो शराब के ठेके खुले हैं या शराब की भट्ठियाँ लगी हैं उन्हें वहाँ से यथाशीघ्र हटाना होगा वरना ये शराब पीकर अपना सब पैसा शराब में वहा देंगे और इनमें जो आर्थिक प्रगति दिखाई देती है उसे शून्य होते देर नहीं लगेगी।

कोरवा

कोरवा जनजाति के लोगों का विश्वास है कि ईश्वर ने जब सृष्टि की रचना की तभी कोरवा जाति की भी उत्पत्ति हुई थी। अर्थात कोरवा जाति सृष्टि की प्राचीनतम जातियों में एक है। इसे द्रविड़ शाखा की जाति माना गया है- कुछ विद्वानों का मानना है कि द्रविड़ भाषा के "कु" शब्द से "कोरवा" की उत्पत्ति हुई है जिसका अर्थ होता है- पृथ्वी का पर्वत। अन्य विद्वानों का कहना है कि "कू" शब्द से "कोरवा" बना है और "कू" का अर्थ नक्षत्र होता हैं।

इनकी दो मुख्य उपजातियाँ हैं- पहाड़ी व डीहा। पहाड़ी उपजाति के लोग पहाड़ों पर रहते हैं और डीहा उपजाति के सदस्य मैदानी भाग के टीलों पर रहते हैं। यह जनजाति चार वर्गों में विभाजित है- (i) डीह कोरवा (ii) पहाड़ कोरवा (iii) करन कोरवा और (iv) अगरिया कोरवा। इसके अलावा इनमें सात उपशाखायें पाई जाती हैं : (1) गुलरिया (2) हारिल (3) हुहार (4) मुण्डा (5) मूरा (6) पआरी, और (7) लेथी। हिन्दू जातियों की भाँति इन उपजातियों और उपशाखाओं में श्रेणियाँ पाई जाती हैं अर्थात् एक उपजाति अपने को दूसरी उपजाति से श्रेष्ठ या निम्न समझती है। हिन्दुओं में इसे वर्ण-व्यवस्था का नाम दिया गया है जिसने समाज को सैकड़ों जातियों और वर्गों में बांट रखा है।

कोरवा : विवाह की शर्त तीरंदाजी

कोरवा जनजाति उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और बिहार में बसती है। मध्य प्रदेश के जशपुर और बिहार के पलामू जिलों में यह अधिकतर पाये जाते हैं। उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर और सोनभद्र जिलों में यह अधिकांश रूप से निवास करते हैं। इनके अलावा

ललितपुर, झाँसी, जालौन, इटावा और आगरा जिलों, (उत्तर प्रदेश) में यह जनजाति अल्पसंख्या में पाई जाती है। सोनभद्र जिले के दुद्धी व सरगुजा परगनों तथा विहार के बाँका थाने में इनकी संख्या अधिक पाई गई है। तथापि इनके परिवार इने-गिने ही देखे जाते हैं। सन् 1981 की जनगणना के अनुसार उत्तर प्रदेश में इनकी कुल जनसंख्या दो हजार से कम थी। बहुत पहले एक सर्वेक्षण में उत्तर प्रदेश में इनके कुल 52 परिवार मिले थे जिनकी कुल आबादी लगभग 500 पाई गई थी।

कोरवा जाति के लोग अब भी पहाड़ों और घने वनों में रहते हैं जहाँ नगरीय सभ्यता की किरणें अभी प्रवेश नहीं कर पाईं। यह फूस की झोपड़ियों में निवास करते हैं और प्रायः निर्वस्त्र (नंगे) रहते हैं या केवल कमर में लँगोटी बाँधे रहते हैं। कोरवा अकेले ही रहते हैं अर्थात् अन्य जातियों के साथ यह नहीं रहते। इनकी बस्तियाँ अलग होती हैं। इनकी अपनी भाषा-बोली है जिसे ये ही समझ सकते हैं। यह एक शिकारी जाति है जो वन के पशु-पक्षी का शिकार करते हैं। चिड़ियों और बन्दरों का शिकार मुख्यतया करते हैं। इनके शिकार करने की शैली विचित्र होती है। रात में जब पशु-पक्षी रैन बसेरा करते हैं तब कोरवा शिकार करने को निकलते हैं। अपने धनुष-बाण और लम्बी लकड़ी या बांस लेकर जाते हैं। बांस या लम्बी लकड़ी के एक सिरे पर पुआल-सूखे पत्ते आदि बाँधकर जलाते हैं जिसे पेड़ के ऊपर दिखाते हैं। यदि पेड़ के ऊपर पक्षी या बन्दर दिखा तो साथी कोरवा उसे बाण से मार देता है और घायल बन्दर लुढ़ककर नीचे गिरता है। यह अपने विषैले और शक्तिवान बाणों से शेर-चीता व भालू तक को मार देते हैं। फिर शिकार को घर लाकर बिना मसाला पकाकर खा जाते हैं। अधिकतर यह मांसाहार और फलाहार करते हैं। अन्न का भोजन में प्रयोग बहुत कम होता है वन में उपलब्ध कन्द-मूल का आहार करते हैं। जब इन्हें भूख लगी और शिकार की सम्भावना नहीं पाई गई तो कन्द-मूल या चकवड़ के पत्ते महुआ में पकाकर खा लेते हैं और इस प्रकार अपनी भूख शान्त करते हैं।

यह अपनी जाति-उपजाति में ही विवाह करते हैं। दूसरी उपजातियों में विवाह करने पर विवाह के बाद अपनी उपजाति से अलग होना पड़ता है। इनके यहाँ पर्दा-प्रथा बिलकुल नहीं है। एक झुग्गी में यह पूरे परिवार के साथ रहते हैं और प्रायः नग्न या अर्धनग्न अवस्था में रहते हैं। ऐसी स्थिति में यौनाचार के मामले में कोई दुराव-छिपाव सम्भव नहीं है और पर्दा करने का प्रश्न नहीं उठता। विवाह में दहेज-प्रथा बिलकुल नहीं है- वैसे इनके पास दहेज में देने के लिये कुछ होता भी नहीं है। विधवा-विवाह, तलाक-प्रथा और पुनर्विवाह का इनमें चलन है। इनके यहाँ विवाह का विधान विचित्र किन्तु रुचिकर व शौर्यपूर्ण होता है। धनुष-बाण में वर को निपुण होना चाहिये। कन्या किसी लक्ष्य पर बाण चलाने को कहती है। यदि वर उस लक्ष्य के भेदन में सफल हुआ

तभी उस वर-कन्या का विवाह होगा- अन्यथा नहीं। इस परीक्षा से यह सिद्ध हो जाता है कि लड़का शिकार करके लड़की का भरण-पोषण और रक्षा करने में सक्षम है। इस प्रकार की प्रथा देश के उत्तर-पूरब में नागा आदि जनजातियों में भी पाई जाती है जहाँ नागा युवक तीर-कमान से हत्या करके नरमुण्ड इकट्ठा करते हैं जिनके आधार पर नागा युवती द्वारा विवाह हेतु उनका वरण किया जाता है। महाभारत-काल में अर्जुन पांडव का द्रौपदी के साथ विवाह भी ऐसे हुआ था। द्रौपदी के स्वयंवर में बाँस गाड़कर उनके ऊपर एक मछली लगाई गई थी और उसके नीचे तेल भरा एक बर्तन रखा गया था। उस बर्तन के तेल में मछली की केवल परछाई देखकर उसकी आँख में तीर भेदना था। अर्जुन के अतिरिक्त इस लक्ष्य-भेदन में और कोई राजा सफल नहीं हुआ और इस प्रकार द्रौपदी द्वारा अर्जुन को जयमाला पहनाई गई।

कोरवा लोगों में जातीय पंचायतों की प्रथा है- इन पंचायतों द्वारा आपस के सभी विवादों व झगड़ों का निपटारा किया जाता है। बिरादरी के मुखिया और पंचों की राय पंचायत में मानी जाती है। पंचायतों में पुरुषों के साथ महिला भी भाग लेती हैं और दोनों मिलकर निर्णय लेते हैं। हिन्दुओं के देवी-देवताओं को यह भी पूजते हैं- सूर्य, चण्डी, नागदेव डीह, शीतला और ज्वालामुखी देवी की ये पूजा करते हैं। अग्नि-देव की भी यह पूजा करते हैं। आगन्तुक का स्वागत व आतिथ्य यह शराब और शिकार से करते हैं। किन्तु कोई आगन्तुक या अतिथि इनकी सभ्यता (नग्नता) पर हँस नहीं सकता और न ही उनकी बहू- बेटियों से मज़ाक़ कर सकता है। ऐसा करने पर उसे कोरवा के विष बुझे तीरों का शिकार होना पड़ेगा। कोरवा धनुर्धारी ऐसे व्यक्तियों को दौड़ा-दौड़ा कर मार देते हैं जिनसे बचाव को कोई रास्ता नहीं होता। हिन्दुओं की भाँति यह मुर्दे को जलाते हैं किन्तु इनके यहाँ मुर्दा गाड़ने (दफनाने) की भी प्रथा है। चेचक-प्लेग जैसी महामारी से मरे व्यक्ति को यह न जलाते हैं ओर न दफनाते हैं बल्कि उसे जंगल में फेंक आते हैं या नदी के जल में प्रवाहित कर देते हैं। साँप काटे व्यक्ति की लाश को भी इसी प्रकार वन और नदी में फेंक दिया जाता है। पारसी लोग भी मुर्दे को न जलाते हैं और न दफनाते हैं बल्कि लाश को पेड़ के ऊपर टांग देते हैं जिसे गिद्ध-कौआ आदि पक्षी खाकर अपना उदर-पोषण करते हैं।

कोरवा लोगों का जीवन बड़ा संघर्षमय और कठिन होता है। यह साधनहीन हैं और अभावग्रस्त भी। फिर भी लोकगीतों और लोकनृत्यों द्वारा यह अपना मनोरंजन करते हैं। इनके मनोरंजन का मुख्य साधन "करमा" होता है जिसमें यह नृत्य व संगीत का आयोजन करते हैं और वृहत् आयोजन करते हैं। इसमें कोरवा नर-नारी शराब पीकर एक साथ रात भर नाचते हैं। इनके लोकगीतों और लोकसंगीत में इनके जीवन की विविध

विसंगतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। इस प्रकार आमोद-प्रमोद करके यह मस्त रहते हैं और अपने अभावों की चिन्ता नहीं करते।

इस जनजाति में शिक्षा का बड़ा अभाव है। पहाड़ों और वनों के निवासी ये कोरवा पहले अपने बच्चों को पढ़ने नहीं भेजते थे। इनके लिये शिक्षा का न तो कोई महत्त्व था और न कोई उपयोगिता। किन्तु अब यह बच्चों को पढ़ने विद्यालय भेजने लगे हैं जो एक अच्छा लक्षण है। इनका जीवन और रहन-सहन अत्यन्त सादा व साधारण होता है। इनकी झोपड़ी में दो-एक बर्तनों के अलावा कुछ नहीं होता। घर में एक भी बिस्तर (ओढ़ना-बिछौना) नहीं होता। पुआल और फूस ही इनका ओढ़ना-बिछौना होता है। सर्दी के मौसम में ठण्ड लगने पर आग जला लेते हैं और तापकर रात बिताते हैं। कोरवा अपनी झोपड़ी में ताला नहीं लगाते क्योंकि उनकी झोपड़ी में कोई ऐसा सामान ही नहीं होता जिसके लिये उन्हें ताला लगाना पड़े। कहते हैं कि सम्राट अशोक (मौर्य-काल) के राज्य में कोई घरों में ताला नहीं लगाता था पर उनके समय में प्रजा बड़ी सम्पन्न थी और शासन इतना उत्तम था कि चोरी करने का कोई साहस नहीं करता था।

कोरवा जाति की आर्थिक दशा अति दयनीय है। इनके पास अर्थ नहीं के बराबर है। खेती नाममात्र की होती है। शिकार और मज़दूरी करके यह अपना जीवन-यापन करते हैं। वनों से तेंदू-पता तोड़ते हैं और बहेड़ा इकट्ठा करते हैं। वनों की अन्य उपजों को बेंचकर यह अपनी रोज़ी चलाते हैं। वन-वासी होने के कारण वन में ही रहना पसन्द करते हैं- बाहर रोज़ी की तलाश में नहीं जाना चाहते। इनकी नारियाँ बड़ी कर्मठ होती हैं और पुरुषों के सभी आर्थिक कार्यों में सहायक होती हैं। इनमें शिक्षा की सर्वाधिक आवश्यकता है जिससे यह अपने जीवन को उन्नत एवं परिष्कृत कर सकें। इसके लिये इनके बच्चों को आश्रम पद्धति विद्यालयों में भेजा जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त इनके आर्थिक-सुधार हेतु इन्हें भूमि आवंटित की जाय जिस पर यह खेती कर सकें। विभिन्न उद्योग-धन्धों में इन्हें लगाने की बड़ी आवश्यकता है जिसके लिये सरकार को इनकी पर्याप्त आर्थिक सहायता भी करनी चाहिये।

कोल

भारतवर्ष में आर्यों के आक्रमण के पूर्व सैंकड़ों जनजातियों एवं वर्तमान दलित जातियों का राज्य रहा है। यही जातियाँ इस देश की मूल निवासी हैं जिन्हें आदिवासी कहा जाता हैं। इन्हीं जनजातियों में से एक कोल जनजाति है जिसका देश के अनेक भूभाग पर शासन हुआ करता था। अनेक प्राचीन ग्रन्थों में कोल जाति का वर्णन मिलता है। सन्त कवि तुलसीदास ने भी अपने रामचरित मानस में कोल-किरातों का निम्नवत् वर्णन किया है :

'वन-हित कोल-किरात किशोरी। रची विरंचि विषय रस भोरी।' गजेटियरों में कोलों का उल्लेख मिलता है। विद्वान-लेखक क्रुक ने "ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज" में कोल जाति पर काफी लिखा है और कहा है कि सर्वत्र कोल एक लड़ाकू और शिकारी जाति के रूप में पाई जाती है।

उत्तर प्रदेश के दक्षिणी भाग में कोल जाति मुख्यतः पाई जाती है। मध्य प्रदेश और बिहर में भी कोल काफी संख्या में बसे हुये हैं। उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर, सोनभद्र, वाराणसी, इलाहाबाद और बाँदा जिलों के दक्षिणी भूभाग (पठार क्षेत्र) में इनकी बस्तियाँ काफी देखने को मिलती हैं। मिर्जापुर (सोनभद्र) के अहरौरा व उसके आस-पास, घोरावल अघोरी, सिंगरौली, जसौली, लालगंज और मड़िहान आदि क्षेत्रों में कोलों की बहुलता पाई जाती है। कहा जाता है कि पूर्व में यह रींवा के वनों में रहते थे। राजा गुलाब सिंह के समय में रीवाँ में भयंकर अकाल पड़ा- तब इन्हें रोज़ी-रोटी की तलाश में रीवाँ छोड़ना पड़ा। तभी इनके पूर्वज रीवाँ छोड़कर उत्तर प्रदेश के दक्षिणी भूभाग में आकर बस गये। सर्वप्रथम इनके पूर्वज रीवाँ से आकर अहरौरा में बस गये। सोन नदी के किनारे और जहाँ भी स्थान मिला वहाँ यह लोग बस गये। पूरे उत्तर प्रदेश में सन् 1981 की जनगणना में इनकी जनसंख्या लगभग 2 लाख पाई गई।

इतिहासकारों का कहना है कि कोल एक समय अहरौरा राज्य के शासक हुआ करते थे। अहरौरा में अमीर राजाओं के आक्रमण पर कोलों का वहाँ से पलायन आरम्भ हुआ। इस क्षेत्र में स्थित सक्तेगढ़ में पुराना किला आज भी वर्तमान है। मुगल शासन के समय कोलों पर काबू पाने हेतु शक्तिसिंह द्वारा यह किला बनवाया गया जो अकबर का एक सेनापति और महाराणा प्रतापसिंह का छोटा भाई था। उस समय कोल बड़े शक्तिशाली तथा समृद्धिशाली थे और उन पर काबू पाना आसान नहीं था। सक्तेगढ़ से पूरब एक परगने का नाम "कोलना" है जहाँ कोल प्रचुरता में पाये जाते हैं। आज भी कोलना नामक स्थान वर्तमान है जहाँ एक समय कोलों का ही आधिपत्य था।

कोलों की अनेक उपजातियाँ हैं जिनमें बारवारिया, तुरकेला, ठकुरिया, ममासा, मोसासी, रउतिया, राजबोरिया और रजवाड़े प्रमुख हैं। रजवाड़े नाम से प्रकट होता है कि कभी कोल जाति का शासन था जिसका उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है। लोकगाथाओं में भी वर्णन है कि कोल विजयगढ़ के शासक थे। उस काल में कोल विकसित तथा समृद्धिशाली जाति थी किन्तु आज इसकी स्थिति दयनीय और शोचनीय है। इनका रंग काला और शरीर स्वस्थ व बलिष्ठ पाया जाता है। इनकी नारियों का स्वास्थ्य भी अच्छा होता है और शरीर गठा हुआ होता है। इन्हें द्रविड़ शाखा की जनजाति कहा गया है जो देश के मध्य भाग (विन्ध्याचल पर्वत के अंचल) में बसी हुई है।

हिन्दुओं के अनेक देवी-देवताओं को कोल भी मानते हैं। बड़का (बड़ा) देव की पूजा यह विशेष तौर पर करते हैं जिसमें नारियल, चुँदरी व मिठाई आदि चढ़ाते हैं। इसके अलावा डीह और ब्रह्मा की भी बड़ी पूजा करते हैं और उन्हें प्रसन्न रखने हेतु मुर्गा, सुअर व बकरे की बलि चढ़ाते हैं। पड़िहा, दखिनही विन्धवासिनी, भगवती और सिमौरी देवी की भी इनके यहाँ पूजा होती है। कोल जाति शबरी और बिरम्ही देवी के पूजक है। इनका मानना है कि शबरी बिरम्ही (ब्रह्मा की पत्नी) की बेटी थी। शबरी के विवाह में मुर्गे व बकरे आदि काटकर उनके मांस का भोजन पकाया गया था जिसे शबरी ने पसन्द नहीं किया और वह विवाह-मण्डप छोड़कर वन को चली गई जहाँ उसने बारह वर्ष घोर तपस्या की। वन में पके बेर जमा करती थी और उन्हें आगन्तुकों को खिलाती थी। बारह वर्ष बाद वहाँ राम सीता और लक्ष्मण सहित पहुँचे। शबरी ने राम को भी पके व मीठे बेर खिलाये जिस पर राम बहुत प्रसन्न हुये और शबरी से वर माँगने पर हठ किया तो उसने बिरम्ही की पूजा करने का वर माँगा। इसके बाद वह प्राण-शून्य हो गई और राम ने वहीं उसका क्रिया-कर्म किया। तभी से कोलों में शबरी और बिरम्ही की पूजा का चलन है।

कोल जनजाति के लोग मन्दिरों में तो नहीं जाते पर तीर्थयात्रा करने जाते हैं और गंगा-स्नान के लिये भी जाते हैं। यह लोग भूत-प्रेत और टोना-टोटका पर विश्वास करते हैं। भूत-प्रेतों की पूजा ओझा लोग करते हैं और ओझाओं की इस जाति में बड़ी मान्यता है। इनमें यह धारणा व्याप्त है कि ओझा ही भूत-प्रेतों से उन्हें मुक्ति दिला सकते हैं। हर संकट और कष्ट का निवारण केवल ओझा ही कर सकते हैं। दवा-दारू पर इनका विश्वास नहीं होता जितना कि ओझाई-देवाई पर। अन्य जन-जातियों में भी ओझाओं की इसी प्रकार मान्यता पाई जाती है और समाज में उनका विशिष्ट व महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। हिन्दुओं की भाँति इनमें भी मुर्दे जलाने और अन्त्येष्टि क्रिया करने की प्रथा हैं।

कोलों के बहुत से रीति-रिवाज हिन्दू-धर्म के रीति-रिवाज जैसे हैं। ये लोग अपनी जाति और गोत्र में ही विवाह के बाद वर-वधू प्रायः अलग रहते हैं। परिणामस्वरूप इनके

परिवार छोटे होते हैं। पाश्चात्य देशों में भी बहुत पहले से विवाह के बाद पति-पत्नी अपने माता-पिता के परिवार से अलग रहते हैं। इनमें बाल-विवाह का प्रचलन है, दस-बारह वर्ष की उम्र में ही विवाह कर देने की प्रथा है। दहेज की कुप्रथा इनकी जाति में नहीं है जो बड़ी अच्छी बात है। तथापि कन्या पक्ष अपनी श्रद्धा एवं सामर्थ्य के अनुसार कुछ धन या सामान वर-पक्ष को देता है। पुनर्विवाह व विधवा-विवाह इस जनजाति में आरम्भ से होते आये हैं जो एक अच्छी प्रथा कही जायेगी। कुछ हिन्दू जातियों में विधवा-विवाह का पूर्ण निषेध है जिसके फलस्वरूप उनकी विधवाओं का सारा जीवन यातनाओं और कष्टों में बीतता है और उन्हें घोर नारकीय जीवन जीना पड़ता है। इनके यहाँ पुरुष और स्त्री को स्वेच्छा से भी विवाह करने की स्वतंत्रता है। यह अलग बात है कि ऐसे विवाह होने पर बिरादरी के देवान (चौधरी) नवदम्पति को डाँट-डपट करके उन पर कुछ अर्थदण्ड लगाते हैं। इसी प्रकार चोरी-बदमाशी, किसी की बेटी को अपने घर रख लेने और अन्य अनैतिक आचरण करने पर भी दोषी व्यक्तियों पर अर्थदण्ड लगाया जाता है।

कोलों में बिरादरी पंचायत-प्रथा का चलन है और बिरादरी-पंचायतें बड़ी शक्तिशाली होती हैं। समय-समय पर बिरादरी की सभायें होती हैं जिनमें पंचों द्वारा अपराधों की सुनवाई की जाती है और दण्ड देने का निर्णय लिया जाता है। गम्भीर अपराध करने पर कुछ समय के लिये बिरादरी से बाहर कर दिया जाता है। दोषी व्यक्तियों से जो अर्थदण्ड प्राप्त होता है उससे सार्वजनिक उपयोग की वस्तुयें खरीदी जाती हैं जैसे टाट, दरी, बर्तन, आदि। शादी-विवाह आदि अवसरों पर इन बर्तनों और सामग्री का सामूहिक उपयोग किया जाता है। बिरादरी द्वारा इसका भी प्रावधन होता है कि इस सार्वजनिक सम्पत्ति का रखवाला कौन होगा। और हिन्दू जातियों की तरह इनके यहाँ भी ब्राह्मण और नाई विवाह-संस्कार सम्पन्न कराते हैं। विवाह की वैदिक और लौकिक-दोनों विधियाँ कोलों में पाई जाती हैं। विवाह के बाद परिवार में नारी की भूमिका मुख्य है और एक प्रकार से वही परिवार की मुखिया होती है।

इस जनजाति के लोग सादा जीवन बिताते हैं, इनका रहन-सहन बड़ा सादा होता है। पुरुष कम वस्त्र पहनते हैं। प्रायः नंगे बदन रहते हैं और और कमर पर केवल लंगोटी पहने रहते हैं। स्त्रियाँ मोटे कपड़े की धोती पहने रहती हैं- धोती के अलावा अधिकांश नारियों के तन पर दूसरा वस्त्र नहीं होता। इसका एक प्रमुख कारण इनकी गरीबी भी है। अन्य नारियों की भाँति कोल नारियाँ भी आभूषण पहनना पसन्द करती हैं। बाजूबंद, कड़ा, हैकल, कंगन आदि इनके मुख्य आभूषण हैं। पुरुष गले में ताबीज-गण्डा (जन्त्र) आदि पहनते हैं। सुहागिन नारियाँ गहनों के अलावा चूडियाँ भी पहनती हैं और माथे पर सिन्दूर लगाकर माँग भरती हैं। जैसा कि हिन्दुओं के यहाँ प्रथा है- कोलों में भी विधवा

नारी शृंगार नहीं करती। विधवा होने पर वह अपने माथे का सिन्दूर पोंछ देती हैं और हाथों की चूड़ियां फोड़ डालती हैं। अपितु अपने विवाह की वर्ष-गाँठ के दिन केवल देवर द्वारा पहनाने पर विधवा चूड़ियाँ पहन लेती हैं- सिन्दूर तब भी नहीं लगा सकतीं। सभी पर्व-त्यौहार कोलों द्वारा जोश और उमंग के साथ मनाये जाते हैं और ऐसे अवसरों पर नर-नारी दोनों शृंगार करते हैं।

जिस प्रकार इनका रहन-सहन सादा है उसी प्रकार इनका खान-पान भी सादा और साधारण होता है। कोदौं, साँवा, मकई, बेझरी, ज्वार, आदि मोटे अनाज यह खाते हैं। चावल, दालें और गेहूँ कभी-कभी विशेष अवसरों पर खाने को मिलता है। पर्वों-त्यौहारों, दावतों, आदि में ही गेहूँ, दाल, चावल इन्हें खाने को नसीब होता है। दूध और फल इन्हें खाने को शायद ही कभी मिलता हो, हाँ जंगली फल अवश्य मौसम में उपलब्ध हो जाते हैं। इनके नौनिहालों (बच्चों) को भी दूध नसीब नहीं होता जो बड़ा खेदजनक है। वन्य निवासी होने के कारण इन्हें कन्द-मूल आदि भी खाने को मिल जाता है। कोल स्वभाव से शिकारी और मांसाहरी होते हैं। अतः जंगल के पशुओं का शिकार करके उनका मांस खाते हैं। इनमें शराब पीने की भी आदत है और प्रायः यह स्वयं द्वारा बनाई शराब पीते हैं।

कोल जनजाति के लोग बड़े सच्चे, पवित्र और निश्छल आचरण वाले होते हैं। अपनी सत्यनिष्ठा एवं मर्यादा की आन वाले यह होते हैं तथा अपनी आन की रक्षा के लिये जान भी दे देते हैं। वैसे यह लोग विनम्र और सरल स्वभाव के होते हैं और अपने बड़ों का आदर करते हैं तथा आदर के साथ झुककर नमस्ते-प्रणाम करते हैं। शान्तिपूर्ण जीवन बिताने के आदी हैं और अपने काम से काम रखते हैं। इनकी बस्तियों में आमोद-प्रमोद के कोई साधन (व्यवस्था) नहीं होते। शिकार खेलना इनका सबसे बड़ा मनोरंजन होता है। नाचने-गाने बजाने का इनमें शौक है। अतः फुर्सत के समय रात में ये एकत्र होकर लोक-गीतों व लोकनृत्यों द्वारा अपना मनोरंजन करते हैं। कोलदादर और कोलदहाकी इनके प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय लोकगीत हैं। नर-नारी मिलकर इन लोकगीतों को कोल गाते हैं जिसमें ढोल-मंजीरे आदि बाजा भी बजाते हैं। इनके लोकगीत इनके जीवन की विविध विधाओं पर आधारित होते हैं- अर्थात इनके लोकगीत इनके जीवन की झांकी और झलकियों के समान होते हैं।

कोल जनजाति में शिक्षा की बड़ी कमी पाई जाती है। इनमें शिक्षित व्यक्तियों की संख्या बहुत कम है। साक्षरता लगभग 15% ही पाई जाती है। बच्चों को अधिकांशतः प्रारम्भिक विद्यालय के स्तर तक की ही शिक्षा सुलभ होती है। उसके बाद यह बच्चों को पढ़ने नहीं भेजते। दस वर्ष का बच्चा हुआ नहीं कि उसे भूस्वामियों के यहाँ उसके

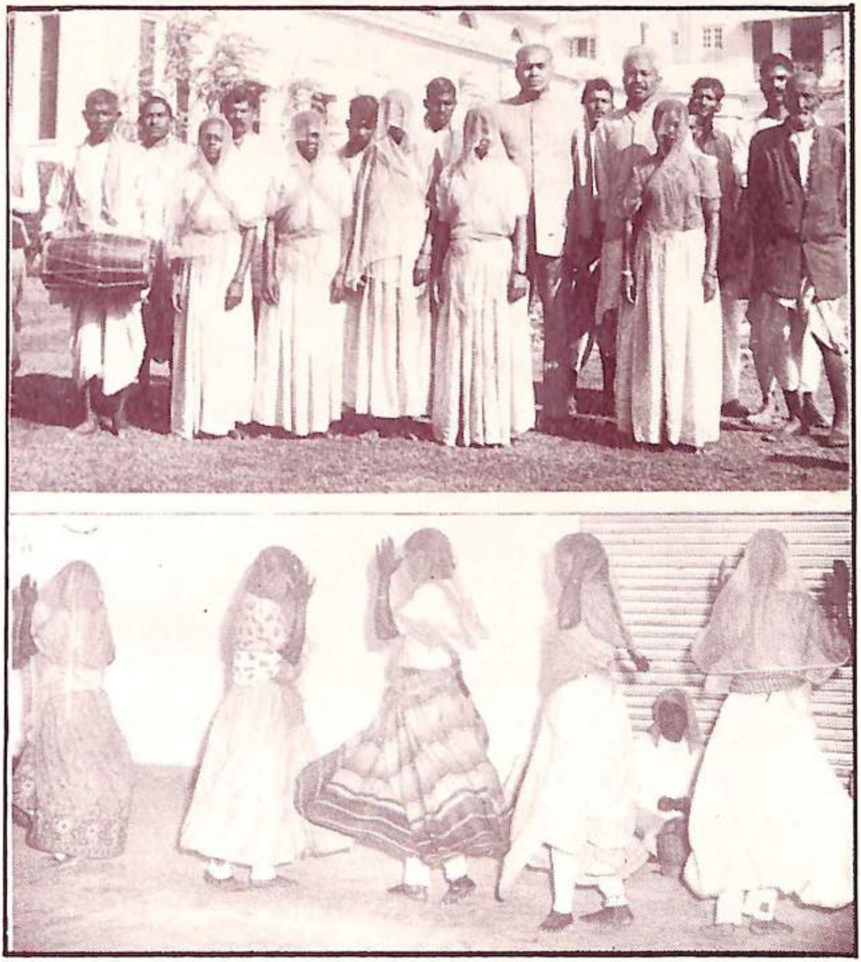

(ऊपर) गणतंत्र-दिवस के अवसर पर बाँदा जिले की कोल जनजाति के नर्तक श्री बी० गोपाल रेड्डी, राज्यपाल उत्तर प्रदेश के साथ (नीचे) कोलों का दादरा नृत्य

माता-पिता हलवाही-चरवाही के लिये भेज देते हैं। हलवाही करते-करते वह बालक अपने मालिक का बन्धुआ श्रमिक बन जाता है। जीवन भर वहाँ उसे काम करना पड़ता है और इस प्रकार ऋण की जगह काम करते-करते वह भूस्वामी का क्रींतदास हो जाता है। यही दशा कोल नारियों की है। पति-पत्नी दोनों मिलकर मालिक के यहाँ रात-दिन काम करते हैं तब जाकर कहीं खाने भर को अनाज जुटा पाते हैं। पूरा दिन काम करने पर इन्हें केवल दो किलो साँवा दिया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सरकार द्वारा बनाये गये न्यूनतम पारिश्रमिक अधिनियम इन बेचारे कोलों पर लागू नहीं किये जाते।

अधिकांश कोल परिवार भूमिहीन हैं। जो हलवाही-चरवाही नहीं करते हैं वे बीड़ी-पत्ता तोड़ने, महुवा बीनने व दोने-पत्तल बनाने का काम करके अपने परिवार का पालन-पोषण करते हैं। नर-नारी दोनों मिट्टी खोदने और वनों में लकड़ी तोड़ने व काटने का काम करते हैं। ऐसा कोई काम नहीं है जिसमें नारियाँ पुरुषों को सहयोग न प्रदान करती हों। यही नहीं, छोटी उम्र से बच्चे भी रोजी-रोटी हेतु काम पर लगा दिये जाते हैं। कभी-कभी तो बच्चों को क्षुधा शान्ति के लिये भीख तक माँगना पड़ता है। रोज़ी के लिये यह साहूकारों, ठेकेदारों और मालिकों के चंगुल में सदैव फंसे रहते हैं और चाहते हुये भी उनके चंगुलों से छुटकारा इन्हें नहीं मिलता। इन मालिकों, साहूकारों और ठेकेदारों द्वारा कोल नारियों का बड़ा शोषण किया जाता है-यहाँ तक कि उनके साथ यौनाचार भी किया जाता है।

सदियों से कोलों का बड़ा शोषण हो रहा है। आज भी यह शोषित जनजाति है। इतिहास कहता है कि कभी यह एक शासक और सम्पन्न जाति थी किन्तु आज इसकी स्थिति बड़ी शोचनीय है। इनकी जीविका का कोई ठोस साधन नहीं है। जीवन भर इन्हें अनगिनत अन्याय और अत्याचार अलग सहने पड़ते हैं। इन्हें न नौकरियाँ मिलती हैं और न करने को काम। बड़ी बेबशी और लाचारी का जीवन इन्हें जीना पड़ रहा है। इस दयनीय स्थिति से उबारने के लिये इन्हें पहले शोषण से मुक्त कराना होगा। इनमें शिक्षा-प्रचार की सबसे अधिक आवश्यकता है। शिक्षित हो जाने पर यह अपने उत्थान का प्रयास स्वयं करेंगे। शिक्षा द्वारा ही इनमें चेतना आयेगी कि वे क्यों शोषित जीवन बिता रहे हैं और यह भी जानेंगे कि उनके मौलिक अधिकार क्या हैं। अपने अधिकारों की प्राप्ति हेतु शिक्षित व्यक्ति ही संगठित हो सकते हैं और संघर्ष कर सकते हैं। स्वतंत्र भारत में कोल जनजाति के लोगों को भी वे सभी सुविधायें मिलनी चाहिये जो एक स्वतंत्र देश के नागरिक को प्राप्त होती हैं वरना स्वतंत्र देश में भी कोल अपने मालिकों के अधीन परतंत्र बने रहेंगे।

खरवार

खरवार पूर्वांचल (उत्तर प्रदेश) की प्रमुख आदिम जाति है। कुछ लोगों का कहना है कि ये कत्था बनाने का व्यवसाय करते हैं जिसके लिये खैर (कत्था) के पेड़ों को काटते रहते हैं-जिस पर इनकी जाति का नाम खैरवा या खरवार पड़ा। उत्तर प्रदेश में यह जाति वाराणसी, मिर्जापुर, सोनभद्र और इलाहाबाद जिलों के कैमूर क्षेत्र में अधिकतर पाई जाती है इसके अलावा यह जाति मध्यप्रदेश और बिहार के उन भूभागों में पाई जाती है। जो उत्तर प्रदेश से लगे हुये हैं। सोन नदी की तराई में यह अधिकतर बसे हुये हैं। देश के अन्य भागों में भी यह जनजाति पाई जाती है।

खरवार एक शासक जाति थी जिसके ऐतिहासिक प्रमाण हैं। इनका राज्य उत्तर प्रदेश और बिहार में दूर तक फैला था। पलामू (बिहार) जिले में ये अठारह हजारी के नाम से जाने जाते थे क्योंकि वहाँ एक ही स्थान पर इनकी आबादी अठारह हजार के लगभग थी। संथाल परगना (बिहार) के अनेक भागों पर खरवारों का शासन था और सोनघाटी इनके रहने की जगह थी। मिर्जापुर के अगोरी दुर्ग पर इनका आधिपत्य था और सिंगरौली राज्य के ये राजा थे। विजयगढ़ राज्य के पचासों गाँव और दुद्धी-अगोरी के बीसों मौजे खरवारों के अधीन थे। आज भी इन क्षेत्रों पर खरवारों को सम्मानजनक नाम ''गोंहा'' शब्द से सम्बोधित किया जाता है। खरवारों के लोकप्रिय एवं प्रसिद्ध राजाओं अलियार-बलियार को आज भी सम्मान के साथ याद किया जाता है।

मिर्जापुर के गज़ेटियर में उल्लेख है कि 11वीं - 12वीं सदी में खरवार जाति अपने वैभव के शिखर पर थी और तभी उसका पतन प्रारम्भ हो गया था। 'रजत-जयन्ती-भूषण' में वर्णन है कि चन्देल राजाओं ने मिर्जापुर के दक्षिणी भूभाग पर सन् 1203 ईसवी के बाद आक्रमण किया और इनके मदन शाह को परास्त करके उस क्षेत्र के राजा बन गये। इसी के साथ चन्देलों ने अगोरी व विजयगढ़ के किलों पर कब्ज़ा किया। बाद में राजा मदनशाह के पौत्र राजा शामशाह ने रीवां के राजा की सहायता से चन्देलों से पुनः युद्ध किया जिसमें चन्देल राजा संसारशाह को पराजित किया। युद्ध में तो राजा शामशाह विजयी हुये किन्तु उन्हें वनों व पहाड़ियों में शरण लेनी पड़ी। कुछ बड़े-बूढ़े का कहना है कि अपनी स्वतन्त्रता और आन-मान की रक्षा हेतु खरवार घने वनों, कन्दराओं तथा नदियों की तलहटी में उतर आये थे और वहीं अपने निवास बना लिये थे। कुछ भी हो-खरवारों का इतिहास बड़ा गौरवमय और शानदार रहा है। कहा जाता है कि प्राचीन काल में वे इतने शक्तिशाली थे कि मौर्यकालीन राजा भी इनकी शक्ति, युद्धकला, पराक्रम और अद्वितीय संगठन-क्षमता से डरते थे और लोहा मानते थे।

खरवारों की कई उपजातियाँ पाई जाती हैं- सूरजवंशी, चन्द्रवंशी, रघुवंशी, दुआलवंशी, कुर्रा, खेरी, भोगता या गोंजू, भझिया, देशावरी, राउत, खैरहा, मझियाली आदि। उपजातियों में यह विभाजन देश व स्थान के आधार पर कदाचित हुआ है। विभिन्न क्षेत्रों में खरवारों के रहन-सहन, खान-पान और वेश-भूषा में भी अन्तर दृष्टिगोचर होता है। धनुषबाण के युद्ध में इनका सामना करना बड़ा कठिन है। वाणों के तीक्ष्ण वार करके ये शेर, चीते, भालू और सुअर तक को मार गिराते हैं। इस जनजाति के लोग बड़े बहादुर और लड़ाकू होते हैं। अपने मान-सम्मान के लिये मर मिटने वाली यह जाति जानी जाती है जिसकी समानता दूसरी किसी जाति में नहीं पाई जाती।

खरवार बलिष्ठ शरीर वाले होते हैं और खूँखार दिखाई देते हैं। इनकी नारियाँ पुरुषों की भाँति साहसी होती हैं। सत्य हेतु सर्वस्व न्यौछावर कर देना इनका असाधारण गुण होता है। इनमें अनुशासन, सत्यनिष्ठा और एकता बहुत पाई जाती है। इस जाति के लोग मांसाहारी और शाकाहारी दोनों होते हैं। धार्मिक पर्व-त्यौहारों और सामाजिक उत्सवों पर ये मदिरापान भी करते हैं।

एक खरवार युवती (ज़िला - मिर्जापुर)

यह जनजाति हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा करती है जिनमें बघउत, वनसत्ती, दूल्हादेव, घमसान, गोरइया, शिव, दुर्गा, हनुमान आदि प्रमुख हैं। इनके अलावा ये पीपल, नीम, सेमल आदि वृक्षों की भी पूजा करते हैं। नाग-बिच्छू आदि जन्तुओं की भी इनके यहाँ पूजा होती है। होली, दशहरा (नवरात्रि), अनन्त चतुर्दशी, जिउतिया या जीवित

पुत्रिका आदि त्यौहारों की खरवारों में बड़ी मान्यता है। इन पर्वों पर ये खूब खुशियाँ मनाते हैं- खाते-पीते हैं और नाचते-गाते हैं। ऐसे अवसरों पर इनके द्वारा करमा नृत्य का आयोजन होता है। इनके समाज में ओझाओं का विशिष्ट स्थान होता है क्योंकि ये ओझाओं पर विश्वास करते हैं और उन्हें मानते हैं।

इनका रहन-सहन सादा होता है। इनके पुरुष घुटनों तक धोती पहनते हैं। सर पर पगड़ी बाँधते हैं और तन पर कुर्ता, कमीज और बण्डी डालते हैं। अपने हाथों द्वारा निर्मित मिट्टी और फूस के मकानों में रहते हैं। इनकी नारियों साड़ी पहनती हैं। इन्हें आभूषण बड़े प्रिय हैं किन्तु आर्थिक दशा अच्छी न होने के कारण इनके द्वारा अधिकतर चाँदी के आभूषणों का प्रयोग किया जाता है। बाजू, हँसुली, हैकल, कड़ा, बेरवा, नथिया, गुरिया और मूँगा व कर्णमूल आभूषण सर्वप्रिय हैं। खरवार गोदना के शौकीन होते हैं- विशेषकर इनकी नारियाँ। ये लोग जादू-टोना को मानते हैं और इनकी नारियाँ टोना करने में बड़ी दक्ष होती हैं।

इनमें शिक्षा की बडी कमी है जिसका प्रमुख कारण गरीबी है। इनकी अपनी भाषा बोलचाल की है जिस पर स्थानीय प्रभाव होता है। अनुनासिक ध्वनियों का प्रयोग इनकी भाषा में पाया जाता है और शब्द का उच्चारण इनके द्वारा खींचकर किया जाता है। इनकी वाणी कर्कश होती है और बोलने में इनके द्वारा रे, तोर, मोर, केकर, ओकर आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। शिक्षा-प्रचार की इनमें बड़ी आवश्यकता है जिसके लिये इनके क्षेत्रों में अनेक आश्रम पद्धति विद्यालय खोले जाने चाहिये। इन विद्यालयों में निःशुल्क शिक्षा के अलावा इन छात्रों को निःशुल्क भोजन, वस्त्र, आवास आदि की भी व्यवस्था होती है।

खरवारों की आबादी मुख्यतया पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में पाई जाती है। सन् 1951 की जनगणना के अनुसार पूर्वी भारत में इनकी कुल जनसंख्या लगभग एक लाख थी। सन् 1941 की जनगणना के अनुसार बिहार में इनकी संख्या 78000 से अधिक थी। इनके अलावा बंगाल, उड़ीसा और बम्बई में इनका विस्तार हुआ है जहाँ ये रोजगार की तलाश में जाते रहते हैं। क्षेत्र और आबादी में इनका विस्तार तो हुआ किन्तु इनकी संगठन-शक्ति बहुत क्षीण हो गई है। इनके परिवार सर्वत्र गरीबी और अशिक्षा से ग्रस्त रहते हैं। जिस भूमि पर ये कभी शासक थे वह भूमि इनसे छिन गई और अब यह भूमिहीन हैं। जिन वनों में इन्होंने शरण ली थी वहाँ उद्योग-धन्धे लग जाने से ये वहाँ से विस्थापित हो गये हैं और दर-दर की ठोकरें खा रहे हैं। सदियों से शोषित रहने के कारण अब वह मज़दूरी और हलवाही करते हैं तथा मालिकों के पशुओं की चरवाही करते हैं। खदानों में काम करते हैं। जिन वनों पर यह पहले आश्रित थे, अब वहाँ की लकड़ी

काटने की मज़दूरी करते हैं और अपने परिवार का पोषण करते हैं। अपने लिये उन वनों से अब वह दातून, पत्ता-लकड़ी कुछ नहीं ले सकते। इनके बच्चे भी वनों में बीड़ी-पत्ता तोड़ते हैं, लकड़ी काटते हैं और पशु चराते हैं। उनके माता-पिता इसीलिये उन्हें पढ़ने नहीं भेजते क्योंकि वे रोज़ी कमाने में उनकी सहायता करते हैं।

संक्षेप में इनकी आर्थिक दशा यह है कि खेती करने हेतु इनके पास भूमि नहीं है। उद्योग-धन्धे करने के लिये इनके पास पूँजी नहीं है। बेरोजगारी से ये बुरी तरह से पीड़ित हैं। साहूकारों से ऋण लेकर ऋणग्रस्त होकर बँधुआ-जीवन बिताने को बाध्य हैं। अकाल, सूखा, बाढ़ आदि दैविक विपत्ति आने पर मैदानी क्षेत्रों में इन्हें भीख तक माँगते देखा गया है। इनकी इस दशा का एक कारण यह भी है कि इनमें न तो संगठन है और न ही चेतना। चेतना और संगठन लाने के लिये आर्थिक-राजनैतिक नेतृत्व का इनमें बड़ा अभाव है। काश ! इनमें शीघ्र शिक्षा प्रचार हो और अपनी राजनैतिक व आर्थिक दशा सुधारने के लिये इनमें पर्याप्त चेतना व संगठन का उदय हो। इस दिशा में इनकी जातीय पंचायतें बड़ी प्रभावी हो सकती हैं क्योंकि चौधरियों को इनके समाज में बड़ा महत्त्व दिया गया है और इनकी पंचायतें बड़ी शक्तिवान होती हैं।

गोंड

गोंड भारत की प्रमुख आदिम जातियों में गिनी जाती है यह विन्ध्याचल के आस-पास और भारत के मध्य भाग में अधिकांशतः पाई जाती है। उत्तर प्रदेश में गोंड वाराणसी, मिर्जापुर, सोनभद्र, बाँदा, हमीरपुर, झाँसी, जालौन और ललितपुर जिले में बसे हुए हैं। सन् 1981 की जनगणना के अनुसार उत्तर प्रदेश में इनकी जनसंख्या दो लाख से अधिक थी। सोन नदी के आस-पास भी इनकी घनी बस्तियाँ पाई जाती हैं। उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश के अलावा गोंड बिहार में भी पाये जाते हैं।

इस जाति का अतीत बड़ा शानदार और गौरवशाली रहा है। गोंडवाना-क्षेत्र का नामकरण गोंडों की प्रधानता से हुआ जहाँ इनका शासन सैकड़ों वर्षों तक रहा है। 16वीं शताब्दी में गोंडों का राज्य वैभव एवं समृद्धि से पूर्ण था। उस समय के गोंडवाना राज्य में भोपाल, होशंगाबाद, नरसिंहपुर, जलालपुर, देवगढ़, माण्डला, चाँदा, दमोह, सागीर आदि क्षेत्र शामिल थे। इस राज्य के शासक बड़े प्रतापी और पराक्रमी हुये हैं। इनकी राजवंशावली के 48वें राजा संग्रामसिंह मराठों और मुसलमानों से युद्ध में पराजित हुये थे। अतएव युद्ध में हारने पर उन्होंने अपनी सेना व अनुयायियों के साथ वनों में शरण ली। उसके बाद से इस जनजाति का पतन आरम्भ हो गया। आज भी गोंड पर्वतीय क्षेत्रों और वनों में अधिकतर निवास करते हैं।

गोंड द्रविण शाखा की एक जाति कही जाती है। आरम्भ में गोंडों में केवल दो उपजातियाँ थीं। (1) राजगोंड और (2) धुर गोंड। राजगोंड शासक वर्ग होता था और शेष वर्ग धुर गोंड कहलाते थे। गोंडों में एक दर्जन से अधिक उपजातियाँ पाई जाती हैं जिनके नाम हैं-राजगोंड, ददेव, कललिया, नेतम, पोइया, मारपानी, मारकामर, पादल, ओमपाल, धोली, कोहकोपाल, इलामतूले, मुदिपाल, कालाप, मारा या मारिया हैं। गोंड जाति के परधान (प्रधान) उच्च वंश के होते हैं और समाज में उनका स्थान बड़ा ऊँचा होता है। मारा या मारिया उपजाति के गोंड काफी पिछड़े हैं और तदनुसार समाज में उनका स्थान नीचा होता है।

वनों में निवास होने के कारण यह एक शिकारी जनजाति हैं। गोंड अधिकांशतया माँसाहारी होते हैं। प्रातः होते ही यह वनों में शिकार करने निकल जाते हैं और दिन भर शिकार हेतु वनों में घूमते रहते हैं। पशुओं का शिकार इनका एक मुख्य उद्यम भी है। वनों में तीर-कमान से प्रायः शिकार करते हैं। पशुओं और मछलियों का शिकार करके ये उन्हें आग में भूनकर खा जाते हैं और प्रायः शाम को ही घर लौटते हैं। इनके अलावा वनों में उपलब्ध फल और कन्द-मूल का यह आहार करते हैं। इस प्रकार ये वनवासी साग-पात, कन्दमूल-फल आदि खाकर अपने को स्वस्थ रखते हैं। इनका शरीर बड़ा सुडौल व गठा हुआ और बलिष्ठ होता है।

गोंड मांस व मदिरा दोनों का सेवन करते हैं ये मदिरा-पान बहुत करते है। इनका पूरा परिवार मदिरा-पान करता है जिसमें नर-नारी और बच्चे सभी शामिल होते हैं। शराब के अलावा यह गाँजा, भाँग, तम्बाकू और बीड़ी भी पीते हैं। नशे की लत इनमें इतनी अधिक पायी जाती है कि पूरा परिवार नशे में तबाह हो जाता है। परिवार की जो भी आय होती है वह सब नशे की भेंट चढ़ जाती है। नशे का दुर्व्यसन इनमें बढ़ता जा रहा हैं मद्य-निषेध का इन पर कोई प्रभाव नहीं है। इनकी शोचनीय आर्थिक दशा का एक प्रमुख कारण इनमें नशे की आदत है जिसका त्याग इनके हित में अति आवश्यक है।

अन्य जनजातियों की भाँति गोंड भी आमोद-प्रमोद प्रिय होते हैं। प्रत्येक गाँव में एक ऐसा घर होता है जहाँ रात को सभी युवक-युवती एकत्र होते हैं। यह एक विशाल गृह होता है जिसके सामने बड़ा आँगन होता है। इसे गोतुल कहते हैं (बस्तर में इसे गोतुलगृह कहते हैं)। गाँव के सभी युवक-युवती इसके सदस्य होते हैं। इसके प्रबन्धन हेतु कुछ पदाधिकारी भी नियुक्त किये जाते हैं। यह गोतुल इनकी संस्कृति के अनुसार एक प्रकार का क्लब होता है इस गोतुल में गोंड युवक-युवती सम्मिलित रूप से मनोरंजन करते हैं जिसमें नाच-गाने का आयोजन होता है। आमोद-प्रमोद के दौरान मदिरा पान भी करते हैं। युवक-युवतियाँ नाचते-गाते हैं और अपना मनोरंजन करते हैं। इन गोतुलों में इन्हें यौन-शिक्षा भी प्राप्त होती है। गोतुल में युवक-युवती एक-दूसरे के निकट आते हैं और आपस में प्रेम-सम्बन्ध हो जाने पर विवाह भी कर लेते हैं।

(बाएं) - एक गोंड युवती (दाएं) - एक गोंड वृद्ध

गोतुलों में मनोरंजन-कार्यक्रम प्रायः नित्य होते हैं जिस प्रकार नगरों में अभिजात्य वर्ग के लोग अपने क्लबों में मनोरंजन करते हैं। इससे आपसी सद्भाव और स्नेह बढ़ता

है। विशेष अवसरों पर यहाँ विशेष कार्यक्रम किये जाते हैं जैसे करमा का आयोजन। होली-दीवाली आदि उत्सव यहाँ बड़ी धूमधाम से मनाते हैं। इनके अलावा यह रामनवमी व खिचड़ी आदि त्यौहार भी मनाते हैं। स्त्री-पुरुष दोनों शृंगार करके ऐसे आयोजनों में भाग लेते हैं। नारियाँ अपने बालों को फूलों से सजाती हैं। पुरुष दाहिने हाथ में चाँदी या गिलट का मोटा कड़ा पहनते हैं। गले में मूँगा की माला नारी-पुरुष दोनों पहनते हैं। युवक-युवतियों के साथ प्रौढ़ नर-नारी भी इन उत्सवों में मदिरा-पान कर खूब मस्ती से नाचते-गाते है, इनके मनोरंजन में लोकनृत्य और लोकगीत प्रमुख होते हैं। करमा नृत्य का आयोजन यह लोग बड़ी उमंग और जोश के साथ करते हैं जिसमें सभी उम्र के युवक-युवती, बालक-बालिकायें तथा प्रौढ़ स्त्री-पुरुष शामिल होते हैं। इन उत्सवों में यह साथ-साथ रात भर नाचते-गाते और झूमझूमकर करमा खेलते हैं। वैसे इनका जीवन संघर्षमय, अभावग्रस्त और दुखपूर्ण होता है किन्तु ऐसे अवसरों पर वे अपना सब दुख भूलकर भरपूर मनोरंजन करते हैं।

हिन्दुओं के देवी-देवताओं को गोंड भी पूजते हैं। इनके प्रधान देवता करमदेव हैं और करमा-नृत्य करमदेव का ही पूजन है। करमदेव की पूजा का विधान बड़ा लम्बा होता है। इसके अतिरिक्त गोंड ब्रह्मदेव, नागदेव, दूल्हादेव व शंकर आदि देवी-देवताओं को भी मानते हैं। शिकार जाते समय यह मुसवासी देव की पूजा अवश्य करते हैं और खेती से अधिक अन्न-उत्पादन हेतु बढ़ावन देव की पूजा करते हैं तथा वृक्षों में पीपल व सेमल आदि की पूजा करते हैं। गोंड तीर्थाटन में विश्वास करते हैं किन्तु नित्य स्नान-पूजा करना यह आवश्यक नहीं समझते।

गोंडों का रहन-सहन अत्यन्त साधारण होता है। गरीबी के कारण कम वस्त्र ही इनके शरीर पर देखने को मिलते हैं। पर्वों, त्यौहारों और उत्सवों पर यह अपने शरीर को आकर्षक ढंग से सजाते हैं किन्तु मूंगे और जड़ी-बूटियों की मालाओं तथा वन में उपलब्ध फूल-पत्तों से। वन के फल-पत्तों से शृंगार करने में यह निपुण होते हैं। फूल-माला को जनेऊ के रूप में भी पहन लेते हैं। जीवन से ऊबे किन्तु मन के राजा होते हैं। मोर-पंखों का ताज बना कर उत्सवों में पहने रहते हैं। (किसी समय इनके पूर्वज स्वर्ण-मुकुट पहनते थे जिनमें हीरे-मोती जड़े होते थे)।

इनके घर मिट्टी और फूस के बने होते हैं। झोपड़ी के अन्दर ऐल्यूमिनियम और मिट्टी के दो-चार बर्तन होते हैं। बाँस की चारपाई होती है जिस पर पुआल का बिस्तर होता है। अस्त्र-शस्त्र के नाम पर झोपड़ियों में कुल्हाड़ी और तीर-कमान मिलते हैं जिनके द्वारा यह शिकार करते हैं और अपनी आत्म-रक्षा भी। नदी-घाटियों में इनकी बस्तियाँ प्रायः पाई जाती हैं किन्तु बस्तियों में यह संगठित रहते हैं और एक-दूसरे के सुख-दुख

में शामिल होते हैं। किसी समय इस जाति के लोग शासक थे और सम्पन्न थे किन्तु अब यह विपन्न जाति हो गई है। पहले तो यह वनों मे निर्वस्त्र रहते थे किन्तु अब लँगोटी लगाये रहते हैं। आज भी कुछ गोंड-पुरुष अपने तन को पत्तों और पेड़ की छालों से ढके रहते हैं। इनकी नारियों के तन पर प्रायः एक ही वस्त्र (धोती) पाई जाती है। इनके बच्चे प्रायः नंगे घूमते हैं या केवल गंजी व कापीन पर गुजर करते हैं।

दो गोण्ड नारियाँ (बातें करती हुईं) (उत्तर प्रदेश)

गोंड जनजाति के लोग रूढ़िवादी होते हैं। पुरानी प्रथाओं और रीति-रिवाजों को कभी नहीं छोड़ते और उन पर चलने का यथासम्भव प्रयास करते हैं। लोक-प्रथाओं में इनका पूरा विश्वास होता है तथा सामाजिक नियमों व प्रथाओं का कठोरता से पालन करते हैं। लोक-मान्यताओं को यह शास्त्रीय मान्यताओं से कहीं अधिक महत्त्व देते हैं। दक्षिण दिशा की ओर पैर करके नहीं सोते क्योंकि दक्षिण दिशा में यमराज का वास बताया जाता है। इनके समाज में ओझाई की बड़ी मान्यता है अतः असाध्य रोगों को भी झाड़-फूँक से ठीक करने में विश्वास रखते हैं। यह बड़े अन्धविश्वासी भी होते हैं। भूत-प्रेत में विश्वास करते हैं। डीह की पूजा करते है और बलि चढ़ाते हैं जिससे देवता प्रसन्न रहें। इनके यहाँ गाँव का वृद्ध ही पंच होता है जिनकी बात पर यह मर-मिटने को तैयार रहते हैं। छोटे-मोटे झगड़ों का निपटारा इनके यहाँ मुखिया कर देता है जो दोनों पक्षों को डाँट-डपटकार विवादों का निस्तारण करके उनमें सुलह करा देता है। इनके समाज में पंचों और मुखिया की बड़ी मान्यता होती है। हिन्दुओं की तरह इनमें छुआछूत की कुप्रथा भी पाई जाती है और यह जातिवादी होते हैं।

गोंडों में विवाह की अनेक प्रथायें प्रचलित हैं। बाल-विवाह का प्रचलन अब भी है। अधिकांशतः इनके विवाह गोतुलगृह में ही तय हो जाते हैं और वर-वंधू के माता-पिता को

इसके लिये कोई प्रयास नहीं करने पड़ते हैं। शादी-विवाह में इनके यहाँ अधिक खर्च नहीं करना पड़ता। थोड़े खर्च से भी विवाह हो जाता है। बारात वर-पक्ष के स्थान पर वधू-पक्ष के यहाँ से सज कर वर-पक्ष के यहाँ आती है और वर पक्ष वाले बारातियों का स्वागत और आवभगत करते हैं। इनके समाज में सगे-सम्बन्धी ऐसे अवसरों पर बड़ा सहयोग करते हैं। विवाह आदि अवसरों पर यह खाली हाथ नहीं आते बल्कि अपने साथ खाने-पीने का कुछ सामान भी लाते हैं जिससे विवाह का खर्च कम हो जाता है। विवाहों में नाच-गाने का बड़ा आयोजन किया जाता है जिसमें मांस-मदिरा का सेवन भी कराया जाता है। विवाहोपरांत वर-वधू का एकांत में मिलन होता है जिसमें वधू वर से पर्दा नहीं करती।

कहीं-कहीं वर-वधू के मध्य अँगूठी के आदान-प्रदान से ही विवाह सम्पन्न हो जाता है। एक प्रथा के अनुसार कन्या अपने वर को ढूँढ़ती है और गाँव के बड़े-बूढ़ों के समक्ष फल-फूल से वर का पूजन करती है। विवाह-सम्बन्ध हो जाने पर यदि वर निर्धन पाया जाता है तो वह वधू के घर जाकर गृह-कार्य करता है और ससुराल में कम से कम पाँच वर्ष रहता है। वहाँ उसे अपने परिश्रम और आचरण से ससुराल वालों को सन्तुष्ट रखना पड़ता है। पाँच वर्ष पूरा होने पर वर-वधू अलग रह सकते हैं। गन्धर्व-विवाह का भी इनके यहाँ प्रचलन है जिसके अन्तर्गत वर-वधू का बलात् हरण करता है और बाद में उससे विवाह करता है। अवैध-विवाह भी इनके यहाँ मिलते हैं-अर्थात विवाह के पूर्व वर-वधू में अवैध सम्बन्ध हो जाते हैं। बाद में पंच लोग वर-वधू को डाँट-डपटकर उनमें विवाह करवा देते हैं। वैदिक विधि से भी कुछ शिक्षित गोंड विवाह करते हैं जिनमें मण्डप की व्यवस्था की जाती है। सगे-सम्बन्धी और मित्र मण्डप में एकत्र होते हैं और फिर विधिवत् पाणिग्रहण-संस्कार सम्पन्न होता है। कुछ पुरुष एक से अधिक विवाह भी करते हैं। गोंड समाज में विधवा-विवाह की बड़ी अच्छी प्रथा है और यदि पति का छोटा भाई विवाह योग्य हुआ तो अधिकांशतः देवर से ही विधवा भाभी का विवाह कर दिया जाता है।

गोंड जनजाति की आर्थिक दशा बड़ी खराब है। जो जाति गोंडवाना राज्य की सदियों शासक रही, उसके सदस्य भूमिहीन हो गये और दूसरों के खेतों और भूमि पर हलवाही व चरवाही करते हैं। इनके चन्द लोग ही व्यापार-व्यवसाय में लगे हुये हैं। अधिकांश लोग मजदूरी करते हैं। मिट्टी की खदानों में काम करते हैं, वनों से शहद निकाल कर बेंचते हैं। भेड़-बकरी और मुर्गी-पालन का व्यवसाय करते हैं। जंगलों से जड़ी-बूटी निकालकर बेचते हैं, चिड़ियाँ फंसाकर बेंचते हैं। वाद्ययंत्री बनाते हैं और विविध प्रकार की कारीगरी करके परिवार का भरण-पोषण करते हैं। जिनके पास कुछ खेती है वे अब भी पुराने ढंग से खेती करते हैं और सांवा, कोदों, मक्का, बाजरा व सरई आदि की फसलों से उदर-पूर्ति

करते हैं। इनके वच्चे होश संभालते ही रोज़ी-रोटी के चक्कर में फंस जाते हैं। घोर-गरीबी और अशिक्षा के कारण इनमें उन्नत और सुखी जीवन के प्रति इच्छा नहीं रह गई है। इनमें शिक्षा की समुचित व्यवस्था नहीं है-विद्यालयों में इनके स्तर के अनुकूल शिक्षा नहीं दी जाती। इनकी आर्थिक दशा ठीक करने के लिये इनको भूमि दी जाय जिस पर यह खेती कर सकें तथा उद्योग-धन्धों में इन्हें नौकरी और काम दिया जाय। इसके साथ इन्हें शिक्षित करने का व्यापक अभियान चलाया जाये तभी इनके स्तर में सुधार हो सकता है।

घसिया (घासी)

घासी या घसिया जनजाति मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और बिहार में पाई जाती है। कहा जाता है कि पहले यह जाति मध्य प्रदेश के सरगूजा जिले में बसती थी जहाँ से यह उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर और सोनभद्र जिलों तथा बिहार के पलामू जिलों में फैल गई। सन् 1981 की जनगणना के अनुसार उत्तर प्रदेश में इसकी जनसंख्या लगभग 5000 थी। घसिया जनजाति की सात कुरी (उपजातियां) पायी जाती हैः-

1. अरिलखंदा 2. सूरज बंशी 3. बांगर 4. भैंसा 5. सोनवान 6. जनता 7. कटेहरी। इनकी, 'बादी', उपजाति बिहार के पालामू और मध्य प्रदेश के सरगूजा जिले में पायी जाती है।

यह अपनी ही कुरी (उपजाति) में प्रायः विवाह करते हैं। कटहा (महापात्र ब्राह्मण) इनके यहाँ विवाह-संस्कार सम्पन्न कराते और पूजा-पाठ करते हैं। इनके यहाँ दहेज-प्रथा नहीं के बराबर है। इस जाति के विवाहों में अधिकांशतः वर-पक्ष द्वारा ही अधिक खर्च किया जाता है। 'कन्या पक्ष द्वारा वर को लोटा, थाली, गिलास, कटोरी आदि बर्तन दिये जाते हैं। सामर्थ्य के अनुसार कन्या पक्ष वाले वर को पशु आदि भी दहेज में देते हैं। तथापि दहेज देने की इनके यहाँ अनिवार्य जैसी प्रथा नहीं पायी जाती। बारात में इनका दूल्हा घोड़े या सवारी पर नहीं जाता बल्कि बारात के साथ पैदल चलता है। इसी प्रकार इनके यहाँ दूल्हन पालकी या सवारी में विवाह के बाद विदा नहीं होती बल्कि दूल्हा के साथ वह भी पैदल चलती है। विवाह के बाद इस जाति मे गौना की प्रथा है और विवाह व गौना के अवसर पर बिरादरी को भोज दिया जाता है तथा नृत्य-गाने का आयोजन किया जाता है।

घसिया हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। अधिकांशतः अउण्डी, काली माई, ज्वालामुखी, शारदा, बघउत, नीलकण्ठ (शिव) और बनसत्ती देवताओं की पूजा इनके द्वारा की जाती है। महुआरी के पास पहाड़ पर घासी लोगों का पुराना मन्दिर है जो शिव-मन्दिर है। शिव जी की यह विधिवत पूजा नाच-गाने के साथ करते हैं और बलि भी चढ़ाते हैं। बलि के मांस को ये प्रसाद के रूप में ग्रहण करते हैं। पितृ-पूजा भी घासी लोग करते हैं। जन्म, अन्नप्राशन, मुण्डन, विवाह, गौना व मृत्यु-संस्कार आदि इनके प्रमुख पर्व हैं जिन्हें ये मानते हैं। मुण्डन का त्यौहार विधिवत मनाया जाता है जिसमें सर के बाल (झलरी) कटाये जाते हैं और मुण्डन के बालों को मनौती के अनुसार किसी एक देवी-देवता पर चढ़ाते है। ऐसे अवसर पर कुछ लोगों द्वारा बिरादरी को भोजन भी कराया जाता है।

पुत्र-जन्म, अन्नप्राशन, जनेऊ, विवाह, गौना व मृत्यु-संस्कार आदि पर्वों पर आदिवासियों के यहा प्रायः नाच-गाने का आयोजन होता है जिसमें घसिया कलाकारों को

(ऊपर) गणतंत्र-दिवस के अवसर पर मिर्जापुर जिले की घसिया जनजाति के नर्तक श्री बी० गोपाल रेड्डी राज्यपाल, उत्तर प्रदेश के साथ। (नीचे) घसिया नर्तक झपटा (कर्मा) नृत्य करते हुए।

बुलाया जाता हैं। नाच-गाने में घसिया दक्ष और बड़े निपुण होते हैं। अतएव दूसरी जाति वाले भी नाच-गाने के लिए घसिया कलाकारों को बुलाते हैं, और इनके आ जाने पर नृत्य-गाने का विशाल आयोजन किया जाता है। नृत्य करने के उपलक्ष्य में इनको पुरस्कार मिलता है, अनाज और रुपये भी मिलते हैं और नृत्य के अन्त में बढ़िया स्वादिष्ट शाकाहारी भोजन खाने के लिए दिया जाता है तथा पीने को दारू मिलती है। वैसे ये पेशेवर नर्तक होते हैं अतः अपने आप पता लगाकर ये ऐसे मांगलिक अवसरों पर नाच-गाना करने पहुँच जाते हैं। और चूँकि ये वर्ष पर्यन्त सभी प्रमुख पर्व-त्यौहारों पर नाच-गाना करते हैं अतः फसल तैयार होने पर इन्हें किसान-मालिकों द्वारा खरबन-पताई में पाँच किलोग्राम फसल का अन्न दिया जाता है जिससे इनका पूरे वर्ष का खर्च चलता है। खाली समय में यह मादल बाजा बनाने और बेंचने का काम करते हैं या गाँव-गाँव में जाकर सभी घरों के सामने नाच-गाना करते हैं और जब इनके यहाँ पर्व-त्यौहार मनाते हैं तो अपने साले व बहनोई को नाच-गाना करने हेतु बुला लेते हैं।

घासी लोगों का प्रमुख व्यवसाय है- मादल (वाद्य यंत्र) बनाना, उसे बेंचना और मादल बाजे के साथ नाच-गा करके मांगना। इससे जो आय होती है उससे ये गुजारा करते हैं। पहले खेती करने के लिए इनके पास भूमि नहीं होती थी। सरकार द्वारा भूमिहीनों को कृषि हेतु भूमि आवंटित की गई है और घसिया भूमिहीनों को भी इस योजना में भूमि मिली है जिस पर अब खेती करते हैं जिससे इन्हें भर पेट खाना मिलने लगा है। पूर्व में नाच-गाने से ये रोजी चलाते थे किन्तु उससे इनको सदैव भरपेट भोजन नहीं मिलता था। खेती के अलावा शिल्प का भी ये कुछ काम करते हैं जैसे भैंस के सींग से कंघी बनाना, जिन्हौरा के डण्ठल, बांस व लकड़ी के कंघे बनाना। खजूर-बांस सींके से चटाई, परदे व डलिया आदि बनाना। वनों के फल-फूल, कन्द-मूल आदि इक्कट्ठा करके बेंचते हैं। घास-दाने एकत्र करके बेंचते हैं। कहीं-कहीं हलवाही व चरवाही भी करते हैं, पशुपालन भी करने लगे हैं। कारखानों में और कारखानों के बाहर मज़दूरी करते हैं। ऐसा करने से इनकी आर्थिक दशा अब से पहले से बेहतर है।

घसिया जनजाति के लोग हिन्दी अच्छी तरह समझते हैं और स्थानीय बोली के साथ हिन्दी बोलते हैं। इनकी बोली में भोजपुरी भाषा का काफी प्रभाव पाया है जाता विशेष कर बिहार, मिर्जापुर और सोनभद्र में बसे घसियों की भाषा व बोली में। ध्वन्यात्मक शब्द भी इनकी बोली में काफी पाये जाते हैं उदाहरणार्थः सरसर, गुटरगू, छमाछम इत्यादि शब्दों का। इनकी बादी उपजाति जो बिहार में रहती है, की बोली में बिहारी भाषा का बड़ा प्रभाव पाया जाता है। अपितु इनकी भाषा की अपनी कोई लिपि नहीं है।

इनका रहन-सहन अति साधारण और सादा होता हैं। पुरुषों के शरीर प्रायः निर्वस्त्र

होते हैं- या लंगोटी (विहंटी) में ही रहते हैं। अब धोती-कुर्ता पहनने लगे हैं। बच्चों को साफ-सुथरा रखते हैं और उन्हें विद्यालय भेजने लगे हैं। कहा जाता है कि इनकी सामाजिक एवं शैक्षिक चेतना जागृत हुई है जिसके परिणामस्वरूप यह अब बच्चों को पढ़ने भेज रहे हैं। शिक्षित होने पर यह निश्चित रूप से अपना विकास करेंगे जिससे इनकी उन्नति होगी। इनके अन्दर की हीन-भावना अब धीरे-धीरे समाप्त हो रही है जो बड़ा शुभ लक्षण है। स्वयं उठकर अपनी प्रगति करने की भावना इनमें जन्म ले रहीं है। पहले इनका बड़ा शोषण किया जाता था जिसमें बड़ी कमी हुई है। अब इनका खुले आम शोषण बहुत कम है। शोषण के विरुद्ध यह अपनी आवाज उठाने लगे हैं और अपने अधिकारों की रक्षा हेतु संघर्ष करने लगे हैं। शिक्षा-प्रसार के साथ इनमें संगठन की भी आवश्यकता है जिससे कि संगठित होकर अपना शोषण न होने दें।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत इनके विकास हेतु सरकार द्वारा अनेक कार्यक्रम चलाये गये हैं जिनसे इन्हें लाभ पहुँचा है। विविध उद्योग-धन्धे लगाने हेतु इन्हें सरकार द्वारा आर्थिक सहायता देने का प्रावधान है। अतः ऋण अनुदान देने के पूर्व इनके उद्यमियों को उचित प्रशिक्षण देने की नितान्त आवश्यकता है और इनके द्वारा निर्मित उत्पादों (सामानों) के विक्रय की पर्याप्त व्यवस्था सरकार द्वारा की जानी चाहिए। इनके बच्चों को सामान्य शिक्षा के साथ-साथ व्यावसायिक शिक्षा भी दी जानी चाहिए। तभी शिक्षा की उपयोगिता इन्हें दिखाई देगी। इनके अलावा स्थानीय कल-कारखानों, कार्यालयों और औद्योगिक प्रतिष्ठानों में घसिया-युवकों को नौकरी व काम दिलाना होगा जिससे कि इनकी आर्थिक स्थिति में अपेक्षित सुधार हो सके।

घसिया नर्तकों द्वारा कर्मा (नृत्य)

चेरो (बैगा)

चेरो को कहीं-कहीं बैगा भी कहते हैं। ये दोनों जनजातियाँ पुजारी वर्ग में आती हैं और कैमूर पर्वत की निवासी हैं। कैमूर पर्वत के क्षेत्र में बसने वाले आदिवासियों के यहाँ चेरो या बैगा पुजारी (पुरोहित) का काम करते हैं। चेरो और बैगा के बीच विवाह-सम्बन्ध भी होते हैं। चेरो के कई वर्ग होते हैं जिनके नाम हैं- महतो चौधरी, नागवंशी, चन्द्रवंशी, सूरजवंशी व पाण्डुवंशी। आजकल चेरो जाति के सदस्य अपने नाम के आगे "सिंह" लगाने लगे हैं। कहीं-कहीं भुंइहार और बैगा एक ही जाति के माने जाते हैं। भुंइहारों में सात कुरियां पाई जाती हैं- पटपरहा, बसिहा, चतरिहा, चननिहां, अमकोइया व कन्हंइहा आदि। यह जनजाति द्रविड़ मूल की बताई जाती है। मुख्य रूप में उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर व सोनभद्र जिलों तथा बिहार व मध्य प्रदेश के सीमावर्ती क्षेत्रों में चेरो-बैगा जनजाति पाई जाती है। सन् 1981 की जनगणना के अनुसार उत्तर प्रदेश में चेरो की संख्या लगभग 18000 (अट्ठारह हजार) पाई जाती थी।

चेरो (बैगा) जनेऊ पहनते हैं। पूजा-पाठी का काम करते हैं। प्रेत-बाधा आने पर ओझाई व झाड़-फूँक का काम करते हैं और आपदा से बचाव हेतु देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। विशेषकर बैगा के देवी की जो इनकी ईष्ट देवता है। ग्राम-देवता की भी गाँव को दैवी आपदा से बचाने के लिये पूजा करते हैं। राजबैगा खरवारों की पूजा करते है। पुश्तैनी भुंइहार को भी बैगा कहते हैं। पुजारी का काम सभी लोग नहीं कर सकते। चेरो, बैगा और भुंइहार आदि तो पुजारी हो सकते हैं किन्तु मांझी पुजारी नहीं हो सकते।

चेरो का इतिहास शानदार रहा है। कभी ये शासक थे। चेरो अपना सम्बन्ध चेरो साम्राज्य से बताते हैं। महुली के प्रसिद्ध बरियार शाह चेरो जाति थे जो नगर ऊँटारी में भैय्या साहब के साथ हुये युद्ध में मारे गये थे। आज भी उनकी पूजा मूड़ीसेमर (विंढमगंज) क्षेत्र में की जाती है। कहा जाता है कि मुगल सम्राट अकबर का एक चेरो सामन्त चैनपुर-शाहाबाद (बिहार) का शासक था। मध्यकालीन युग में कैमूर पर्वत क्षेत्र में चेरो, खरवार और गोंड जातियों का शासन था। अब भी इस क्षेत्र में अनुसूचित जातियों और जनजातियों की संख्या काफी पाई जाती है। केवल मिर्जापुर और सोनभद्र के जिलों में ही इन जातियों की संख्या कुल जनसंख्या की लगभग 35 प्रतिशत होती है पहले यह जातियाँ पूरे कैमूर क्षेत्र में रहती थीं किन्तु गैर आदिवासियों के हाथों पराजित होने पर उनके विस्तार के साथ ये लोग मुख्य स्थानों से हटकर पर्वतीय क्षेत्रों में चले गये जहाँ इन्हें मुक्त और एकान्त जीवन सुलभ हुआ और इस प्रकार जो वहाँ के शासक कहलाते थे-गिरिजन

और आदिवासियों कहलाने लगे। पहाड़ों में बसने के बाद भी इनकी त्रासदी का अंत नहीं हुआ और गैर आदिवासीयों द्वारा इनका शोषण अब भी जारी है।

चेरो-बैगा हिन्दू देवी-देवताओं को मानते हैं। ग्राम-देवता की ये अवश्य पूजा करते हैं। दुद्धी (सोनभद्र) तहसील में कोटारानी, मिरगारानी और ज्वालामुखी देवी की पूजा करते हैं। इनके अलावा काली, दूल्हादेव, बरमदेव, उरिडहवार, बरहिया और बुद्धू देवता की पूजा इनके द्वारा की जाती है। बैगा जाति का अपना देवता-घमासान है जिसकी पूजा वे स्वयं करते हैं। मिर्जापुर जिले की गज़ेटियर' में उल्लेख है कि सरगुजा की कुरुसी नदी में पानी का देवता रहता है जिसकी पूजा बैगा इसलिये करते हैं कि वर्षा और फसल अच्छी हो। इस क्षेत्र के लोगों का मानना है कि बंका पहाड़ी पर क्रोध का देवता 'महारानी' देव रहता है जिसके क्रुद्ध होने पर क्षेत्र में महामारियां फैलती हैं। अतः महामारियों से बचने के लिये बैगा क्रोध के इस दानव की पूजा करते हैं।

चेरो और बैगा अन्धविश्वासी होते हैं। ओझाई में विश्वास करते हैं। गाँव में कोई विपत्ति आने पर चेरो बैगा गाँव में घूम-घूम कर हांक लगाते हैं। इस क्रिया में यह एक कौपीन लपेटे निकलते हैं। और शेष बदन नंगा रहता है श्याम वर्ण के ये पुजारी बांस में लाल झण्डी लगाये पूरे गाँव की परिक्रमा करते हैं। फिर गाँव भर के लोगों को एक स्थान पर इकट्ठा करके पूजा करते हैं। यह पूजा गाँव को आने वाली आपदा से बचाव हेतु की जाती है। पूजा में गाँव की नारियाँ एकत्र होकर गीत गाती हैं। इन पूजाओं में पीपल और नीम-वृक्ष के नीचे पशु-बलि भी दी जाती है। इस प्रकार इन पुजारियों द्वारा सीधे-सादे और भोले-भोले आदिवासियों का शोषण किया जाता है। पढ़े-लिखे लोगों का विश्वास अब इन सबसे उठने लगा है। शिक्षित हो जाने पर वे अब समझने लगे हैं कि यह सब ढोंग और आडम्बर है। इन अन्धविश्वासों को वह अब मान्यता नहीं दे रहे हैं।

चेरो-बैगा लोगों के मकान छप्पर के या खपरैल के होते हैं। इनके घर प्रायः गाँव के किनारे बने रहते हैं ताकि ये दैवी-आपदाओं से गाँव की रक्षा कर सकें। गाँववासियों का विश्वास है कि उनके पुजारी दैवी विपत्तियों से उनकी रक्षा करने में समर्थ हैं। पहले ये वनों में रहते थे और तीर-कमान से पशुओं और पक्षियों का शिकार करके उन्हें खाते थे। जहाँ इन्हें शिकार अधिक मिलता था वहीं झोपड़ी बनाकर निवास करने लगते थे। शिकार के अलावा जंगल में कन्दमूल इकट्ठा करके खाते थे और उसी पर गुजारा करते थे। अब यह एक स्थान पर रहकर अन्य काम करने लगे हैं और काम के स्थान पर या उसके आस-पास छप्पर या खपरैल के घर बना लेते हैं। इनमें जो लोग शिक्षित हो गये हैं वे नौकरी भी करने लगे हैं जिसके फलस्वरूप इनके रहन-सहन में उन्नति हुई है।

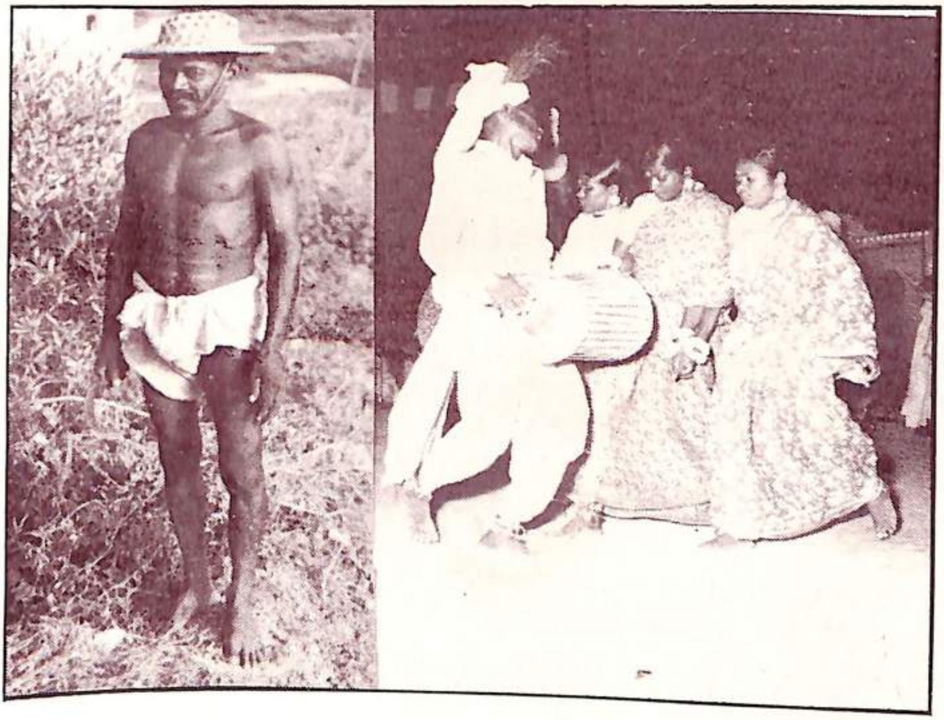

(बाएँ) एक चेरो किसान (दाएँ) दुद्धी नृत्य (चेरो नर्तकों द्वारा) (जिला - सोनभद्र)

चेरो और बैगा जनजाति का मुख्य व्यवसाय पुरोहिती (पूजा-पाठ) हुआ करता था। पुरोहिती के अलावा ये गोचारण और पशुचारण का काम अपने सामन्तों के यहाँ करते थे किन्तु ठेकेदार और सामन्त लोगों के हाथों इनका बड़ा शोषण होता था। पहले ज़मींदारों और साहूकारों के यहाँ से डेंढ़ा-बाड़ी पर ये अनाज उधार लेते थे और फसल के अन्त में ड्यौढ़ा अनाज वापस करते थे। कई पीढ़ियाँ गुजर जाती थीं किन्तु फिर भी साहूकार से कभी उऋण नहीं हो पाते थे। निरन्तर ऋणग्रस्त होने पर साहूकार के अधीन ये बन्धुआ जीवन जीने पर विवश रहते थे। पुरोहिती करने पर ज़मींदारों के यहाँ से फसल कटने पर कुछ अनाज मिला करता था जिसे "सीधा" भी कहते हैं। फसल के शतांश या अल्पांश के रूप में ज़मींदारों द्वारा इन्हें यह अनाज दिया जाता है। इसी प्रकार ज़मींदारों के यहाँ हलवाही-चरवाही करने पर भी इन्हें प्रतिमाह एक आना पूर्व में दिया जाता था जो अब एक रुपया हो गया होगा।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद अब इस स्थिति में बड़ा परिवर्तन हुआ। विविध उद्योग-धन्धों में इन्हें अब काम मिल जाता है जहाँ एक दिन में 24 -25 दोना-पत्ते बनाकर बेंच देतें हैं, महुआ, आँवला, हर्रे व बहेड़ा वनों से एकत्र करके बेंचते हैं। ऐसा करने से उनकी आय में निश्चित रूप से वृद्धि हुई है और फलस्वरूप अब ये ऋण-मुक्त होने लगे हैं जो बड़े संतोष की बात है। पूजा-पाठ करने से यजमानी में इन्हें भी भूमि मिली है उस पर ये खेती करने लगे हैं। वनों से मधु व चिरौंजी एकत्र करके बेंचते हैं। पत्तों की छाता (खलड़र) बनाकर बेंचते हैं। पटपरहा उपजाति के लोग खलड़र बनाने का काम प्रायः करते हैं। इन्हें जो भी काम मिल गया उसे कर लेते हैं और अपने श्रम की कमाई में सुखी रहते हैं। अब भी अधिकांश चेरो-बैगा की दशा यह है कि ये रोज कुआँ खोदते हैं और तब इन्हें पीने का पानी मिलता है- फिर भी ये जिस हालत में हैं, मस्त रहते हैं और कोई चिन्ता नहीं करते।

चेरो और बैगा प्रायः अपनी कूरी (गोत्र) में ही विवाह करते हैं और दोनों पक्ष मिलकर विवाह-उत्सव मनाते हैं जिसमें बिरादरी वालों को दावत दी जाती है। दावत में खूब खाना-पीना और नाच-गाना होता है। इनमें दहेज प्रथा बिल्कुल नहीं है जो बड़ी अच्छी बात है क्योंकि जिन गैर आदिवासी जातियों में दहेज की कुप्रथा व्याप्त हो गई है उनमें कन्याओं के माता-पिता अत्यन्त दुःखी हैं। बेटी के विवाह में दहेज की इतनी अधिक माँग बढ़ती जा रही है कि बेचारे माता-पिता उसे देने में समर्थ नहीं होते। इधर-उधर से ऋण लेकर और अपनी सम्पत्ति बेंचकर बेटी के हाथ पीले करते हैं और जो दहेज नहीं जुटा पाते उनकी बेटियाँ अविवाहित पड़ी रहती हैं। यही नहीं, यदि दहेज में कुछ कमी हो गई या विलम्ब हुआ तो विवाह के बाद ससुराल वाले वधू को बहुत यातनायें देते हैं जिनसे तंग आकर उन्हें आत्महत्या तक करना पड़ रहा है। अनेक मामलों में तो विवाह के बाद भी अतिरिक्त दहेज की माँग वधू से की जाती है और न देने पर उसे जीवित जला देते या मार देते हैं। इसे दृष्टिगत रखते हुये कहना पड़ेगा कि वनों और पहाड़ों में रहने वाले आदिवासी बहुत अच्छे हैं जिनमें दहेज रूपी दानव ने अभी प्रवेश नहीं किया है।

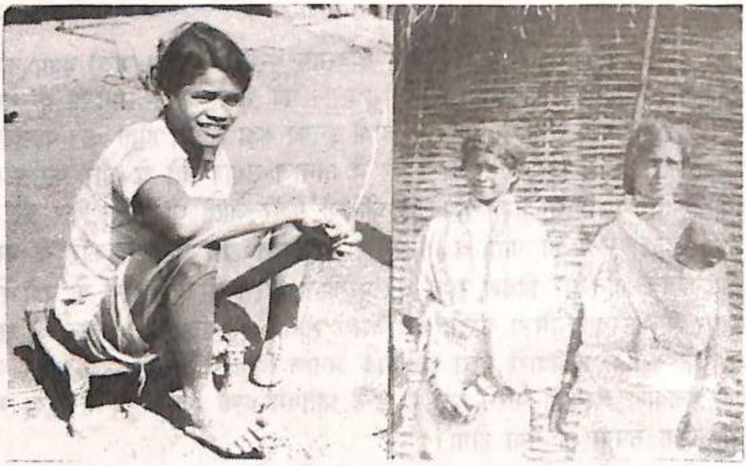

बैगा (उत्तर प्रदेश) के युवक एवं युवतियाँ

ये लोग लोकनृत्य एवं लोकगीत के बड़े प्रेमी होते हैं। करमा नृत्य इनमें सर्वाधिक लोकप्रिय है। दिन भर कठिन श्रम करने के बाद ये जब अपनी मड़इया (झोपड़ी) में लौटते हैं तो खाना खाने के बाद कई परिवार मिलकर "करम-यज्ञ" करते हैं अर्थात् करमा नृत्य करते हैं। मादल (एक बाजा) की थाप पर ये खूब नाचते गाते हैं। इसमें पुरुष गाते-बजाते हैं और नारियाँ अकेले ही नाचती हैं। इनके लोक गीतों में अवधी और भोजपुरी दोनों ही भाषाओं के शब्द मिलते हैं और इनके गीतों में इनकी संस्कृति व इनके जीवन की पूरी झांकी मिलती है। इनका साहित्य धनी है जिसमें बड़े शोध की आवश्यकता है। अभी तक इस दिशा में कोई विशेष काम नहीं हुआ है।

करमा नृत्य करते हुए बैगा (ज़िला - मिर्जापुर)

इन जनजातियों की अपनी बिरादरी पंचायतें होती हैं जो बड़ी प्रभावी व शक्तिवान होती हैं। इनके सामाजिक विवादों का निस्तारण इन पंचायतों द्वारा किया जाता है- जातीय चौधरियों द्वारा वादों की सुनवाई करके उन पर निर्णय दिया जाता जो सर्वमान्य होते हैं और जो इन निर्णयों को नहीं मानता उसे जाति से निकाल दिया जाता है। सामाजिक वादों के अलावा इन पंचायतों द्वारा कतिपय पारिवारिक वादों का निपटारा किया जाता है। इन पंचायतों में वादी-परिवादी को कुछ खर्च नहीं करना पड़ता और सुनवाई के बाद वहीं उसी समय निर्णय भी सुना दिया जाता है। इसके विपरीत देश की वर्तमान दीवानी और फौजदारी अदालतों में वादी-परिवादी वर्षों दौड़ते रहते हैं, घर बेंचकर मुकदमा लड़ते हैं और तबाह हो जाते हैं। फिर भी बरसों फैसला नहीं होता और दीवानी मुकदमा तो पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है। काश! हम आदिवासियों की बिरादरी पंचायतों से कुछ अच्छी बातें लेकर अपना सकते।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व इन जनजातियों की आर्थिक दशा बड़ी खराब रही है किन्तु अब इनमें धीर-धीरे सुधार हुआ है तथा शिक्षा-प्रचार के साथ इनकी आर्थिक उन्नति भी हुई है। शिक्षित होकर ये अपना जीवन-स्तर सुधारने के लिये प्रयत्नशील हैं। पहले इनके स्वास्थ्य, शिक्षा, आवास आदि की किसी को चिन्ता नहीं थी। अब पंचवर्षीय योजनाओं में इस पर सरकार का ध्यान गया है और इनके लिए अनेक कल्याणकारी- योजनायें बनाई गई हैं। इसके अलावा अब इन जनजातियों में भी चेतना का उदय हुआ है, इनकी मानसिकता में भी परिवर्तन हुआ है। तथापि इनके विकास हेतु जो भी योजना बनाई जाय उसमें निम्नांकित बिन्दुओं का विशेष ध्यान रखा जाना चाहियेः-

(1) इनकी रुचि के अनुसार इन्हें विविध उद्योग-धन्धों में लगाया जाना चाहिये।

(2) इनमें शिक्षा-प्रचार हेतु अलग से विद्यालय खोलना चाहिये। आश्रम पद्धति विद्यालयों में इनके बच्चों को भेजना चाहिये और प्रौढ़ों को साक्षर बनाने का अभियान चलाना चाहिये।

(3) वर्तमान अन्धविश्वासों से इन्हें मुक्ति मिलनी चाहिये।

(4) इनके जन-मानस में व्याप्त हीन-भावना को निकाल देना चाहिये।

❖ ❖ ❖

धांगर (ओरांव धांगर)

धांगर देश की प्राचीन जनजातियों में गिनी जाती है और इसे ओरांव धांगर के नाम से भी जाना जाता है। इस जाति की अपनी कुछ विशेषतायें हैं। कैमूर पर्वत के दक्षिण-पूर्वी भाग में यह जनजाति बसी हुई है। बिहार के दक्षिण-पश्चिमी भाग, जो उत्तर प्रदेश की सीमा से लगे हैं, में इनकी बस्तियाँ काफी संख्या में पाई जाती हैं। उत्तर प्रदेश के सोनभद्र जिले की दुद्धी तहसील में धांगर जनजाति अधिकांशतः पाई जाती है। विशेषकर दुद्धी के उत्तरी-पूर्वी भाग में। मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश) जिले के विजयगढ़ परगने के मैदानी भागों में भी इनकी कुछ बस्तियाँ स्थित हैं। सन् 1971 ईस्वी की जनगणना के अनुसार उत्तर प्रदेश में धांगरों की संख्या 25000 के लगभग पाई गई थी।

यह जनजाति द्रविड़ प्रजाति की बताई जाती है। ये लोग श्याम वर्ण के होते हैं। इनका कद अधिक लम्बा नहीं होता किन्तु इनका शरीर स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट होता है। ओरांव जाति में सात कुरियाँ (उपजाति) पाई जाती हैं- मांझी, खरवार, चेरा, धांगर आदि। ये लोग अपनी कुरी के अन्दर ही विवाह करते हैं। इनके यहाँ डोला-शादी होती है जिसमें वर अपनी वधू को लाने हेतु पैदल ससुराल जाता है और समस्त बारातियों के साथ वधू को अपने घर पैदल ही लाता है। विवाह के अवसर पर दूल्हा और दुलहिन अपने शरीर पर लाल-पीले रंग के वस्त्र धारण करते हैं जो ऐसे मांगलिक अवसरों पर शुभ माने जाते हैं। विवाह के बाद वर अपने कन्धे पर कुल्हाड़ी लिये व वंधू के साथ गाँठ जोड़े गाँव की देवी-देवताओं के स्थानों पर जाकर उनकी पूजा करता है और उस पूजा के बाद ही अपने घर में प्रवेश कर सकता है। हर्ष के इस मांगलिक अवसर पर इनके यहाँ खूब नाच-गाने का कार्यक्रम होता है और बिरादरी के लोगों को दावत दी जाती है जिसे भोज-भात कहते हैं। विवाह के अलावा पुत्र-जन्म, नकछेदन, अन्नप्राशन, छठी-बरहों व गवन आदि मांगलिक अवसरों पर भी ये लोग अपने सम्बन्धियों और बिरादरी वालों को अपने घर दावत देते हैं जिनमें भोज-भात दिया जाता है और नाच-गाने का आयोजन होता है। नाच-गाने में ये लोग प्रायः करमा ही नाचते-गाते हैं क्योंकि उस क्षेत्र में करमा नृत्य ही सबसे अधिक लोकप्रिय है।

धांगर जिन देवी-देवताओं को पूजते हैं उनमें करम देवता, गँवहरे, वनसत्ती इन्द्रासनी आदि देवता प्रमुख हैं। ये लोग पशु-पूजक हैं जिसमें बघउत देव के रूप में बाघ की पूजा सबसे अधिक होती है, वृक्षों की पूजा भी ये करते हैं जैसे निंबिया भवानी के रूप में नीम की पूजा, पिपरहवा बाबा के रूप मे पीपल की पूजा और सेमरहवा देव के रूप में सेमल वृक्ष की पूजा की जाती है। इन देवताओं के नाम पर मनौती भी की जाती

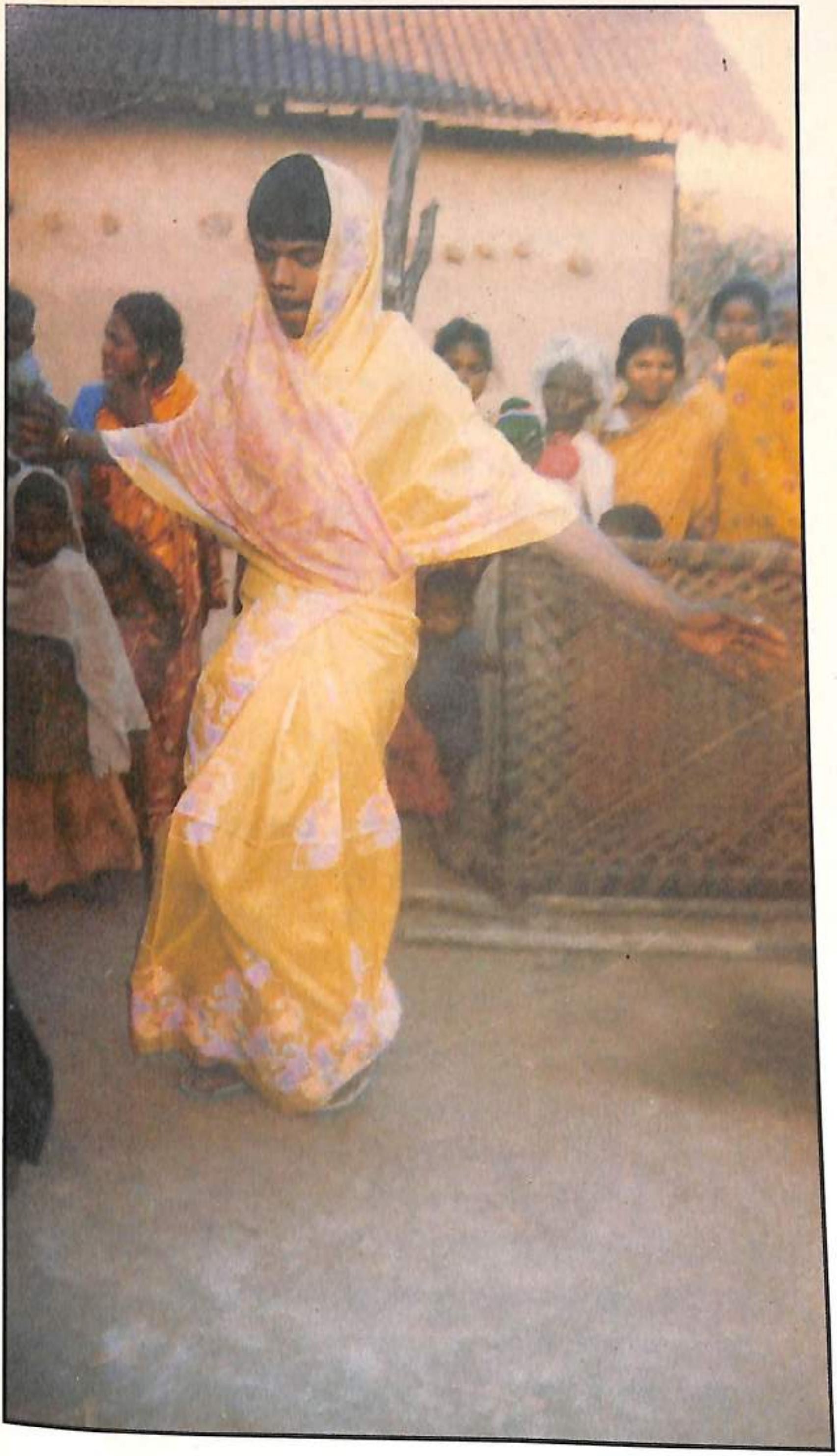

धांगर नर्तक और दर्शक

है और मनौती पूरी होने पर बघउत देवता की पूजा मिट्टी के घोड़े और कलश चढ़ाकर की जाती है। कभी-कभी देवता-स्थान पर मुर्गे की बलि भी चढ़ाई जाती है। सावन के महीने मे नीम के पेड़ की एक डाल पर देवी का झूला डाला जाता है जहाँ नारियाँ समूह में देवी के गीत गाती हैं। अन्य आदिवासियों की भाँति औरॉव ओझाई-देवाई में भी विश्वास करते हैं। अनेक रोगों और कष्टों के निवारण हेतु ये ओझा के पास जाते हैं जो झाड़-फूँक के द्वारा रोगों को ठीक करता है। इनके समाज में ओझा का विशिष्ट स्थान होता है और उसकी बात को बड़ी मान्यता दी जाती है।

भुइंया जनजाति की तरह पहले ओरॉव भी मुख्यतः मिट्टी का काम करते थे। मिट्टी खोदना और ढोना इनका मुख्य व्यवसाय हुआ करता था। यह अपने को मिट्टी के शैतान और मिट्टी के राजा कहते थे। मैदानी भागों में बसने वाले ओरॉव खेती करते हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व जब इनके पास भूमि नहीं थी तब ये गाँव के बाहर घूम-फिर कर अपनी रोज़ी कमाते थे और जहाँ इन्हें काम मिलता था, वहीं ये अपनी झुग्गी-झोपड़ी डालकर बस जाते थे। जब वहाँ काम समाप्त हो जाता तो ये अन्यत्र रोज़ी की तलाश में चले जाते। वनों के पास यह प्रायः अपनी बस्ती बसाते थे क्योंकि तीर-कमान से यह पशु-पक्षियों का शिकार करते हैं। जब इनके पास-खेती नहीं थी तब यह भुखमरी में सताये जाने पर कभी-कभी अपराध भी कर डालते थे। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद सरकार द्वारा इन्हें खेती करने हेतु भूमि दी गई है जिस पर यह खेती करने लगे हैं और अब इनके स्थायी मकान बन गये हैं। फलस्वरूप अब गृहस्थी लादे रोज़ी की तलाश में इनका घूमना-फिरना बहुत हद तक बन्द हो गया है। अब यह भुखमरी से पीड़ित नहीं हैं अतः इन्हें अपराध करने की अब आवश्यकता नहीं रह गई है। खेती के अलावा यह पशु-पालन भी करते हैं और खाली समय में पास के औद्योगिक स्थानों पर जाकर ये मिट्टी-गिट्टी का काम भी कर आते हैं जिससे अतिरिक्त आय भी हो जाती है।

कैमूर पर्वत के अन्य आदिवासियों की भाँति धांगर लोगों का रहन-सहन सादा और साधारण कहा जायेगा किन्तु जबसे इनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है और इनके क्षेत्र के वातावरण में परिवर्तन हुआ तब से ये आधुनिक सभ्यता की ओर अग्रसर हो रहे हैं। अब ये अच्छे वस्त्र पहनने लग गये हैं और स्वच्छ मकानों में रहते हैं। पूर्व की भाँति झुग्गी-झोपड़ी में रहना अब यह पसन्द नहीं करते। बच्चों को पढ़ने भेजते हैं और शिक्षा में रुचि ले रहे हैं। मदिरा-पान भी अब यह कम करते हैं जबकि पहले नित्य मदिरा का सेवन करते थे। शिक्षित परिवार अब अन्धविश्वासों को छोड़ रहे हैं और सबसे बड़ी बात यह है कि धांगर लोग अब हीनभाव से मुक्त हो रहे हैं जो बड़ी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

धांगर नारियों को आभूषण प्रिय हैं और वे अनेक आभूषण पहनती हैं जैसे हंसुली, हुमेल, हैकल, कड़ा-छड़ा, बाजूबन्द, ऐरन, नाथिया आदि। शरीर के विभिन्न अंगों पर इनकी नारियाँ गोदना गोदाती हैं जबकि धांगर युवक अपने माथे और हाथ पर ही गोदाते हैं। गोदना के अलावा पुरुष कान में लुरकी और गले में गण्डा-ताविज और घुमची माला भी पहनते हैं। इनकी नारियाँ रंग-बिरंगी मालायें गले में पहनने की शौकीन हैं।

साहित्य के क्षेत्र में धांगर भाषा धनी है। इनकी बोली में संस्कृत भाषा के शब्दों और क्रिया-पदों की बहुलता पाई जाती है। उदाहरणार्थ कान को श्रवण, आँख को चक्षु, ओंठ को ओष्ठ, बाल को कच और पानी को अम्बु कहते हैं। इसके विपरीत इनकी बोली में कतिपय शब्दों का प्रयोग बिल्कुल भिन्न है। जैसे दूध को दुग्धई, दाल को अमरवी, तरकारी को किल, पेट को कुली, छाती को धुकधुकी, माथे को लिलार, स्त्री को मुक्कर, बालक को खद्दर, माता को अइयो और आदमी को आलर बोलते हैं। इसी प्रकार धांगर बोली की रचना भी भिन्न पाई जाती है जो भाषा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यथा "बालक रोता है" को "खद्दे चरिबाल लागे" कहते हैं। "स्त्री भात खाती है" को "मुक्का-मुक्की ओना लागी" कहते हैं और 'गरीबों को अधिक मज़दूरी चाहिये' को "गरीबान बेसी खाकरा चाही" बोलते हैं। इनकी जनसंख्या तो अधिक नहीं पाई जाती किन्तु इनका साहित्य अवश्य धनी पाया जाता है जिसमें अनेक भाषाओं और बोलियों के शब्दों का मिश्रण है अतएव धांगर भाषा और साहित्य में बड़े शोध की आवश्यकता है तथा साथ ही साथ इस साहित्य के संकलन और प्रकाशन की भी आवश्यकता है।

पनिका

पनिका जनजाति पनिखा, पंखा तथा कोट्टावर नाम से भी जानी जाती है। पनिका लोग पंखा बनाने और बेंचने का काम करते हैं जिस पर पर इनका नाम पनिका, पनिखा और पंखा पड़ा। औरों के लिये ये पानी की ढुलाई का भी काम करते हैं। इसलिये भी इन्हें पनिका कहा जाता है। यह जाति मिर्जापुर, सोनभद्र और इलाहाबाद जिले के दक्षिणी भाग में पाई जाती है जो कैमूर पर्वत के क्षेत्र में आता है। यह तीनों जिले उत्तर प्रदेश के दक्षिणी भाग में स्थित है। सोनभद्र जिला की दुध्धी तहसील में इनकी संख्या अधिक पाई जाती है। सन् 1981 की जनगणना में उत्तर प्रदेश में पनिका जाति की जनसंख्या लगभग 4000 पाई गई थी।

पनिका द्रविड़ प्रजाति के हैं। इनका वर्ण श्याम होता है। नाक चिपटी होती है और बाल घुँघराले व काले होते हैं। इनका शरीर गठा हुआ और बलिष्ठ होता है। इस जनजाति की 11 शाखायें पाई जाती हैं-बिरगेट, चिकौजिया, गैगोएर, कुमरिया, कोरवा, मोरई, पनेरिया, पोरवार, रटिया, सरिमा, और सुनयनी। पनिका अपने नाम के अन्त में प्रायः उपनाम (कुलनाम) के स्थान पर भी "पनिका" लिखते हैं। उदाहरणार्थ-रामप्यारे पनिका जो इस जाति के सबसे बड़े राजनेता थे जो विधानसभा तथा लोक-सभा के सदस्य भी रह चुके हैं। यद्यपि श्री पनिका ने इस जनजाति के विकास एवं उत्थान हेतु काफी कार्य किया है तथापि पनिका जाति अब भी राजनैतिक, शैक्षिक एवं आर्थिक क्षेत्र में बहुत पिछड़ी है।

इन लोगों का रहन-सहन अति साधारण है, गरीबी के कारण भी इनका जीवन सादा होता है। वस्त्र के नाम पर पुरुषों के तन पर केवल एक वस्त्र (बिंहटी) पाया जाता है। सिर पर पत्तों की टोपी लगाये रहते हैं। नारियों के तन पर केवल धोती मिलेगी। बच्चे नंग-धड़ंग और धूल-धूसरित मिलते हैं जिनके बाल बिल्कुल सूखे होंगे और छोटे बच्चों की नाक प्रायः बहती मिलेगी। मकान के नाम पर इनकी झुग्गियाँ ही मिलेंगी। जिनके आँगन को सूखी झाड़ियों और काँटों से घेर कर रखते हैं। किसी-किसी गाँव में एक-दा घर खपरैल के भी दिख जाते हैं। अधिकांश लोग भूमिहीन होते हैं और अपने रहने तक के लिये इनके पास भूमि नहीं होती। वन-विभाग की भूमि पर ही यह झोपड़ियों में सैकड़ों वर्षों से इसी प्रकार रहते आये हैं। अधिकतर पनिका लोग बन्धुआ श्रमिकों का जीवन जीने पर विवश होते हैं। इस क्षेत्र की जनजातियों के बारे में आम कहावत है कि इनके पास न तो रहने को भूमि है, न पहिनने को कपड़े और न खाने को रोटी। जीने के लिए यह तीनों वस्तुयें अनिवार्य हैं और पनिका जाति पर यह सभी लागू होती हैं।

पनिका एक शिकारी जनजाति है। अपने धनुष-बाण से वन के पशुओं का शिकार करके परिवार का पालन-पोषण करते हैं। ढुलाई का काम इनका खानदानी काम है। जिनके पास कुछ भूमि है वे उस पर खेती करते हैं। कुछ लोग दूसरों के खेतों में हलवाही करते हैं या मालिकों के पशु चराते हैं। इनकी कृषि-भूमि प्रायः असिंचित होती है जिस पर उपज कम होती है। शेष लोग मज़दूरी करते हैं। आस-पास के कारखानों और औद्योगिक प्रतिष्ठानों में भी कुछ लोगों को श्रमिक वर्ग की नौकरियाँ मिल गई हैं। इनकी जाति के चन्द लोग ही व्यापार व नौकरी में मिलते हैं। जाड़ा हो या गर्मी-रोज़ मज़दूरी पर जाना पड़ता है तब कहीं दो बार खाना नसीब होता है। हलवाही से केवल दो किलो मोटा अनाज प्रतिदिन की दर से मिलता है। नारियों और बच्चों को केवल पाँच रुपये दिन मजदूरी मिलेगी। पत्थर तोड़ने पर 10-15 रुपये रोज़ की मज़दूरी मिल जाती है। तथापि इन्हें नित्य काम नहीं मिलता है। अतः जिस दिन इन्हें काम नहीं मिलता-उस दिन ये जंगलों से लकड़ी-पत्ती इकट्ठा करके बेंचते हैं और तब कहीं इनके पेट में दाने जाते हैं। कुछ नहीं मिला तो वन में उपलब्ध कन्द-मूल खाकर ही काम चलाते हैं। इनकी आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय है जिसके फलस्वरूप 90 प्रतिशत पनिका औसत जीवन-स्तर से नीचे का जीवन व्यतीत करते हैं।

इस जनजाति के लोग अन्य जनजातियों की भाँति शोषण का जीवन जीते हैं। वन विभाग के अधिकारी-कर्मचारी इनका बड़ा शोषण करते हैं। सैकड़ों वर्षों से ये वनों के अन्दर निवास करते हैं। किन्तु अब इन्हें वहाँ से बेदखल करके भगाया जा रहा हैं। वनों से लकड़ी इकट्ठा कर ये लोग उसे बेंचकर अपनी, रोज़ी चलाते थे किन्तु अब इन्हें वहाँ से लकड़ी क्या दातून भी नहीं तोड़ने देते। सदा से यह वनवासी रहे हैं और वनों की लकड़ी-पत्ता पर इनकी जीविका चलती थी किन्तु अब उस पर रोक लग गई है। यही नहीं, वन विभाग के कर्मचारियों द्वारा इनसे बड़ी बेगार ली जाती है और इनके द्वारा पैदा की गई वस्तुओं को मिट्टी के दाम खरीदा जाता है या कोई दाम नहीं दिया जाता है। आपत्ति करने या पैसा माँगने पर इनकी पिटाई की जाती है तथा अन्य शारीरिक व मानसिक यातनायें दी जाती हैं। पुलिस द्वारा इन्हें सहायता और सुरक्षा के स्थान पर निराशा ही हाथ लगती है। यही नहीं, पुलिस कर्मियों द्वारा भी इन्हें मारा व सताया जाता है। परिणामस्वरूप ये लोग पुलिस और वन विभाग के कर्मचारियों से बहुत डरते हैं। ये कर्मचारी इनसे पैसे ऐंठते हैं और न देने पर झूठे मुकदमों में फँसा देते हैं। श्री राजप्यारे पनिका का कहना था कि जिस भूमि पर ये सैकड़ों वर्षों से बसे हैं-उस पर इनका कब्जा वर्ग-4 का ही लिखा गया है और भूमि का स्वामी वन विभाग को दर्ज किया गया है। इस प्रकार इनका जीवन वास्तव में बड़ा दुःखी है और सुखी हैं-इनके शोषक ठेकेदार, दुकानदार, साहूकार, बड़े किसान या वन-विभाग व पुलिस के कर्मचारी इत्यादि।

एक पनिका परिवार

आर्थिक दशा अच्छी न होने से इनका भोजन बड़ा सादा और रूखा-सूखा होता है। वन में ये महुवा-डहुवा बीनते हैं और उसे पकाकर खाते हैं। कन्द-मूल जो उपलब्ध हुआ-उसी को खाकर काम चलाते हैं। बनों में सरई-महुवा और चकवड़ सहज रूप में पाया जाता है जो इनका मुख्य खाद्य होता है। वैसे चकवड़ पत्ती खाकर ये रोगग्रस्त भी हो जाते हैं, किन्तु उसे जीने के लिये खाना इनकी विवशता है। हलवाही-चरवाही और मालिकों के यहाँ मज़दूरी में जो इन्हें मोटे अनाज मिलते हैं उन्हीं की रोटी और भात खाकर ये उदरपालन करते हैं। वनों में पशुओं का शिकार करके उनका माँस खाते हैं। सुअर व गाय का माँस भी खाते हैं और शराब पीते हैं। इनके यहाँ नर-नारी शराब, बीड़ी और सिगरेट पीते हैं।

पनिका लोगों का जीवन कठिन और श्रमयुक्त होता है। इसके बावजूद भी ये मस्ती का जीवन व्यतीत करते हैं क्योंकि इनकी आवश्यकतायें और आकांक्षायें बहुत कम होती हैं। दिन-भर कठिन परिश्रम करते और पसीना बहाते हैं तो शाम कौड़ा के पास वैठकर किस्सा-कहानियाँ सुनते हैं जिससे इनका मनोरंजन होता है। कभी-कभी किस्सा-कहानी सुनते-सुनते पूरी रात काट देते हैं। लोरिकी, बिरहां और करमा लोक-नृत्य का भी आयोजन विशेष अवसरों पर किया जाता है। विविध पर्वों और अवसरों पर इनके द्वारा नाटक व खेल-तमाशों का भी आयोजन किया जाता है। मनोरंजन के आयोजनों में इनका मुख्य बाजा मादल होता है। मादल का स्वर जब वन में गूँजता है तो ये अपने सभी दुःख-दर्द भूल जाते हैं। नर-नारी दोनों मिलकर गीत गाते हैं बाजे के साथ नाचते हैं। यही नहीं इनकी नारियाँ खेत और खदान में काम करने जाती हैं तब भी समूह में गाती हैं जिससे इन्हें शीघ्र थकावट नहीं आती और संगीत के साथ हाथ-पैर जल्दी चलते हैं।

पनिका जाति के लोग हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा करते हैं-मुख्यतः काली, दुर्गा, ज्वालामुखी देवी और दूल्हा देवी की पूजा करते हैं। इनके बहुत से रीति-रिवाज़ भी हिन्दुओं के रीति-रिवाज़ से मिलते हैं। ये ओझाई पर विश्वास करते हैं और अपने रोग-सन्ताप के निवारण हेतु ओझाओं द्वारा झाड़-फूँक कराते हैं। अतः ओझाओं का इनके यहाँ विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। अपने आपसी वादों-झगड़ों का निपटारा जातीय पंचायतों द्वारा करते हैं। ये पंचायतें शक्तिवान होती हैं जिनके निर्णय सर्वमान्य होते हैं। सुअर का मांस खाकर व शराब पीकर किसी एक स्थान पर ये रात में इकट्ठा होते है और पंचायत करते हैं। इसमें बड़े-बूढ़े भी भाग लेते हैं। इन पंचायतों में विभिन्न प्रकार के पारिवारिक, पारस्परिक और सामाजिक वादों का निपटारा होता है। बिरादरी के मुखिया का इन बिरादरी पंचायतों में वर्चस्व होता है। मुखिया के आदेश पर ये पूरा गाँव लूटने को तैयार हो जाते हैं किन्तु ऐसा ये करते नहीं।

पनिका जनजाति के लोग स्वाभिमानी तथा स्वेच्छाचारी होते हैं-ये न तो दूसरों के मामलों में हस्तक्षेप करते हैं और न ही अपने मामलों में किसी का हस्तक्षेप पसन्द करते हैं। स्वभाव से ये हठी-दुराग्रही और कठोर होते हैं। तथापि ये सत्यनिष्ठ, परिश्रमी और साहसी होते हैं तथा बात के धनी होते हैं। दिये गये वचन के पक्के होते हैं। जैसी भी परिस्थिति में हों- ये उसी में जीने-मरने के आदी होते हैं। अन्य हिन्दू जातियों की भाँति इनमें कुछ जातियाँ अपने को दूसरी जातियों से उच्च समझती हैं और तदनुसार उनसे व्यवहार करती हैं। इन्हें अपने मन का राजा कहा जाता है।

इस जाति में शिक्षा की बड़ी कमी है जो इनकी शोचनीय आर्थिक दशा का एक मुख्य कारण है। इनमें शिक्षा-प्रचार हेतु अनेक आश्रम पद्धति विद्यालय खोले जाने चाहिये तथा इनमें शैक्षिक व आर्थिक चेतना उत्पन्न की जानी चाहिये। शिक्षा के बिना इसका कोई विकास सम्भव नहीं है। और इनकी आर्थिक दशा सुधारने के लिये सरकार द्वारा इनके क्षेत्र में विभिन्न व्यावसायिक व औद्योगिक योजनाओं का लाभ इन्हें सुलभ कराना होगा। सन्तोष की बात है कि अब पनिका-अभिभावकों द्वारा बच्चों को पढ़ने हेतु विद्यालयों में भेजा जाने लगा है।

परहिया

परहिया जनजाति उत्तर प्रदेश के दक्षिणी भाग (मिर्जापुर और सोनभद्र जिलों) में पाई जाती है कैमूर की पर्वत की तराई में यह जाति बसी है मुख्यतया दुद्धी तहसील के बमनी नेरपुर ब्लाक के गाँवों में। सन् 1981 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या एक हजार से अधिक थी। इस जनजाति का कोई प्रामाणिक इतिहास-भूगोल नहीं मिलता है। कुछ लोगों का कहना है कि यह बंगाल के राजमहल-पर्वतीय क्षेत्र के मूल निवासी हैं जिस पर इनका नाम परियाह या परहिया पड़ा। तो कुछ का कहना है कि इस जाति के लोग बहुत बड़ा ढोल बजाते थे। अतः इनका नाम परहिया पड़ा। इस जाति की छः उपजातियाँ:- भनिया, भुसार, गोहवा, गुड़ार, सिरा और मनयारे बताई जाती हैं जिन पर शोध करने की आवश्यकता है।

इनका मुख्य पेशा खेती है। जो भूमिहीन हैं वे खेतिहर मज़दूर हैं। किसानी के साथ-साथ यह लासा-लाही इकट्ठा करने, बगई घास काटने और उसकी रस्सी बनाकर बेंचने व बीड़ी-पत्ता तोड़ने आदि का काम करते हैं। खेती के अलावा यह दुद्धी, रेणुकोट, कोटा, बीना व सिगरौली आदि के औद्योगिक प्रतिष्ठानों में भी काम करने लगे हैं। मज़दूरी से जो आय होती है उसमें मस्त रहते हैं। मन हुआ तो काम पर गये और जब मन नहीं आया तो नहीं गये। तथापि पहले की तरह इनकी रोज़ी-रोटी की समस्या अब विकट नहीं हैं। अर्थात यह अब भूखे नहीं रहते हैं। इनकी नारियाँ पुरुषों से कम काम नहीं करती। किसानी में पुरुषों को पूरा सहयोग देती हैं। इसके अलावा पशु-पालन व मछली मारने का काम करती हैं। घर के लिये ईंधन एकत्र करती हैं तथा पानी लाने का काम नारियाँ ही करती हैं। गृहस्थी संभालने और भोजन आदि पकाने का काम अलग जिसे केवल नारियाँ ही करती हैं।

पूर्व में कन्दा गोड़ना इनका मुख्य व्यवसाय था और कन्दा ही इनका मुख्य भोजन हुआ करता था। यह बिरइन कन्दा, जेठी कन्दा, बइर, नकवा, लासा तथा खुरसा का भी काम करते थे। जंगली फल-खुरसी को यह बैठाकर या पानी में उबालकर खाते थे। कन्दों की यह खेती करते थे और उसे बेंचते भी थे।

परिहया लोगों का रहन-सहन बड़ा सादा है। शहरी और तथाकथित सभ्य वातावरण से यह बहुत दूर हैं। प्रकृति की गोद में रहने वाले इन लोगों के मकान मिट्टी और फूस के बने होते हैं। यह वनों के पास रहना अधिक पसन्द करते हैं। यह लोग सीधे-सादे होते हैं और इनके जीवन व व्यवहार में बनावट नहीं पाई जाती। जो इनका हो गया उसे यह अपना सर्वस्व मानते हैं। किन्तु जो इन्हें धोखा देता है उसे यह क्षमा नहीं करते और

उसकी जान लेने पर आमादा हो जाते हैं। यह लोग सच बोलते हैं, दिये गये वचन को निभाते हैं और ईमानदार होते हैं। एक बार जो ठान लिया उसे पूरा करके मानते हैं। अपनी धुन के पक्के होते हैं।

इस जनजाति के लोग धार्मिक प्रवृत्ति के पाये जाते हैं। धर्म-कर्म में इनका बड़ा विश्वास है। धरती माता, बाबा, डिहवार, वनसन्ती और गवहेर देवताओं की यह पूजा करते हैं। महारानी माई को यह विशेष मानते हैं जिन पर सफेद बकरे की बलि चढ़ाते हैं। बलि का प्रसाद यह आपस में बाँटकर खाते हैं। मनौती पूरी हाने पर यह नाच-गाने का आयोजन करते हैं और देवता का जुलूस निकालते हैं तथा जुलूस के साथ देवी-पूजन करते हैं। उपरोक्त के अलावा यह हिन्दुओं के अन्य देवी-देवताओं को भी मानते हैं। हिन्दुओं के प्रमुख त्यौहार फगुआ (होली), दशहरा, चैत, रामनवमी, सोहराई (दीवाली), एकादशी, तिलशकरा (खिचड़ी) आदि भी इस जनजाति द्वारा धूमधाम से मनाये जाते हैं। इन पर्वों में यह लोग छककर दारू पीते हैं और प्रफुल्लित होते हैं। शराब के अलावा यह हुक्का और तम्बाकू भी पीते हैं। इनके यहाँ जातीय पंचायतें वर्तमान हैं जो क्रियाशील और प्रभावी भी हैं। बिरादरी में महतो का महत्त्वूपर्ण स्थान होता है जिसके निर्णय और आदेशों को समाज द्वारा आदर दिया जाता है।

इनके यहाँ लोक-वेद दोनों रीतियों से विवाह करते हैं। वैसे बाल-विवाह, दहेज-विवाह, विच्छेद-विवाह और पनुर्विवाह इनके यहाँ प्रचलित हैं। इनके समाज में वर-कन्या के तलाश की समस्या नहीं पाई जाती है। लड़की-लड़के का मन पट गया तो विवाह तय हो गया। इस मामले में परिवार या पैसे का दखल नहीं चलता। दहेज-प्रथा इनमें नहीं के बराबर है। अपितु वर-वधू पक्षों में जिसके पास पैसा अधिक होता है-वह खान-पान पर खूब खर्च करते हैं। इनके यहाँ विवाह में सभी नाचते-गाते हैं-एक तरह से मांगलिक अवसरों पर इनके यहाँ नाचना अनिवार्य सा होता है और विवाह होने के बाद भी इनके समाज में एक साथ नाच-गाना जारी होता है। समाज में नारियों की स्थिति अच्छी है और वह सामाजिक कार्यों में पुरुषों के साथ बढ़-चढ़कर भाग लेती हैं।

परहिया नर-नारी गहनों के शौकीन होते हैं और इनके कुछ गहने विचित्र भी होते हैं। हाथ के गहनों में खिलहा व बनवारिया प्रमुख हैं। बनवारिया गिलट धातु का वज़नदार गहना है जिससे यदि किसी पर वार कर दिया जाय तो वह चौंधिया जायेगा और यदि वह

एक परहिया वृद्ध एवं बालक

सतर्क न हुआ तो इसकी मार से गिर भी सकता है। मूँगे-मुनिया की मालायें इनमें बड़ी लोकप्रिय हैं-विशेषकर नारियों में। ये मूँगे वनों में उपलब्ध होते हैं। आभूषणों के अलावा यह लोग गुदने के बड़े शौकीन होते हैं, नर-नारी दोनों गुदना कराते हैं। पुरुष मुख्यतः बाहों और माथे पर गुदना गुदाते हैं जबकि स्त्रियाँ बाँह, कलाई, गला, सीना, गाल और जाँघों तक में गुदवाती है। इनका गहना है कि मरने पर सारे गहने तो घर वाले उतारकर रख लेते हैं और गोदना ही एक ऐसा गहना है जो साथ जाता है।

परहिया एक शिकारी जाति है और तीर-कमान इनके मुख्य हथियार होते हैं। तीर चलाने में यह बड़े प्रवीण होते हैं। इनके समाज में कहा जाता है कि जो तीर-कमान चलाना नहीं जानता वह कुजाति होता है। यह लोग टोना-टोटके में भी विश्वास करते हैं। डायन, चुड़ैल और भुताइन की पूजा की परम्परा इनके यहाँ पाई जाती है। किन्तु शिक्षित व्यक्ति इन अन्ध-विश्वासों को अब छोड़ते जा रहे हैं। इनकी उप जातियाँ आपस में तो भेद-भाव नहीं मानतीं किन्तु एक-दूसरे को अपने से ऊँचा या नीचा अवश्य समझती हैं। ऊँच-नीच का यह भेद-भाव शिक्षा के प्रसार से कम होगा। अतएव इनमें शिक्षा-प्रचार की उतनी ही आवश्यकता है जितनी इनकी आर्थिक-दशा में सुधार की।

बैसवार

यह जनजाति उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर, सोनभद्र और वाराणसी जिलों में पाई जाती है। सोनभद्र जिले की दुध्धी तहसील में इनकी बस्तियाँ सर्वाधिक हैं। सन् 1981 की जनगणना के अनुसार उत्तर प्रदेश में इनकी कुल जनसंख्या 16145 दर्ज की गई थी। इनमें सात उपजातियाँ (शाखायें) होती हैं- सोहागपुरिया, मौझरी, रनतिया, बंसइत, खड़इत, चौधरी और मोटरिहा। कदाचित व्यवसाय के आधार पर इन उपजातियों के नाम पड़े हैं। जैसे बंसइत बाँस की लकड़ी से डलिया आदि बनाने का काम करते हैं तो खड़इत घरों के छाने-छापने का काम करते है और मोटरिहा बोझा ढोने का काम करते हैं। बैसवार अपने को हिन्दुओं के वैश्य वर्ण से जोड़ते हैं और अपने नाम के आगे बैसवार या वर्मा लिखते हैं। यह अपने को समियवंशी भी कहते हैं। दूसरी जातियों से यह छुआछूत मानते हैं- यहाँ तक कि उनका छुआ या पकाया प्रायः नहीं खाते और अपनी गंगरी (घड़े) को अन्य जातियों से छूने नहीं देते।

कैमूर पर्वत की अन्य जनजातियों की अपेक्षा बैसवारों की स्थिति बहुत अच्छी पाई जाती है। आरम्भ से ही यह एक सम्पन्न जाति रही है। इनके पास भूमि काफी है जिस पर यह खेती करते हैं और पशु-पालन करते हैं। उपजाऊ भूमि होने के कारण खेती में उपज अच्छी हुआ करती है। अब इनकी भूमि की स्थिति बदल गई है- कुछ भूमि बूड़ में चली गई हैं जो जल-मग्न रहती है और कुछ पर अनपरा के विद्युत-गृह बन गये हैं। थोड़ी भूमि बची है। अनपरा तापीय विद्युत गृहों के लिये इनसे जो भूमि ली गई, उसका प्रतिकर इन्हें अच्छा मिला। यह प्रतिकर इनके लिये वरदान सिद्ध हुआ जिससे इनकी आर्थिक दशा सुधर गई। भूमि बेंचने से जो धनराशि मिली उससे ये दुकानदारी-ठेकेदारी आदि का काम करने लगे। उस पैसे से बच्चों को पढ़ाया जो विभिन्न दफ्तरों और कारखानों में नौकरी करते हैं। इस प्रकार बैसवार जनजाति के लोग आर्थिक तंगी में नहीं पाये जाते जो बड़े सन्तोष की बात है।

पहले यह खेती के अलावा मुख्य रूप से सूत कातने का धन्धा किया करते थे। खेतों में कपास बोते थे और रुई से पूनी बनाते थे। पूनियों से हथकरघों में सूत कातते थे और उस सूत से कपड़े बुनते थे। गाँवों और स्थानीय बाज़ारों में पहले यही कपड़ा अधिकांशतः बिकता था क्योंकि इसी के वस्त्र लोग आमतौर से पहनते थे। खाली समय में अब भी बैसवार जाति के कुछ परिवार सूत कातने का काम करते हैं विशेषकर बैसवार नारियाँ बड़े चाव से सूत कातती हैं। कुछ लोग मज़दूरी भी करते हैं- खानों व खदानों में काम करते हैं। क्षेत्र में स्थापित औद्योगिक प्रतिष्ठानों में भी यह कुशल और अकुशल श्रमिकों के रूप में काम करते देखे जाते हैं। बेरोज़गारी इस जनजाति में बहुत कम दिखाई देती है।

एक बैसवार महिला

आर्थिक स्थिति अच्छी होने से इनका रहन-सहन अच्छे स्तर का पाया जाता है। इनके मकान प्रायः पक्के बने होते हैं जो देखने से सम्पन्न लोगों के घर लगते हैं। अधिकांश मकानों की बनावट अच्छी और आधुनिक पाई जाती है। मकान के अन्दर बड़ा आँगन रखने का रिवाज़ है और आँगन के अन्दर कुआँ बनाते हैं जिसका पानी पीते हैं। कुयें से पानी खींचने के लिये मोठ (ढेकुल) लगा होता है। कुछ मकान दो मंजिल के भी देखे जाते हैं। मकान के चारों ओर कुछ लोग चहारदीवारी भी बनाते हैं। मकान प्रायः बरामदों से युक्त होते हैं जिन पर सुन्दर और मज़बूत खपरैल की छत होती है। मकानों के अन्दर कुछ लोग नक्काशीदार लकड़ी के द्वार, खम्भियाँ और सुगियाँ लगाते हैं। द्वार के अतिरिक्त लकड़ी के चौखट और किवाड़ों में भी नक्काशी का काम कुछ मकानों में दिखाई देता है हैं जिससे यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इनकी आर्थिक-दशा अब अच्छी हो गई है और सभी खाते-पीते लोग हैं।

बैसवार जाति के लोग भी हिन्दू देवी-देवताओं को पूजते हैं जिनमें प्रमुख हैं- गोरइया देव, दूल्हादेव, दुर्गा, गँवहरे, बघउत, वनसन्ती, शिव। प्रत्येक देवता की पूजा का प्रयोजन अलग-अलग होता है। जैसे गोरक्षा हेतु गोरइया देव की पूजा करते हैं तो नव-दम्पति की रक्षा व कल्याण हेतु दूल्हादेव की पूजा की जाती है। दुर्गा की पूजा शुत्रओं, भूत-प्रेतों आदि से रक्षा के लिये करते हैं। गाँव में सभी के मंगल-कल्याण के लिये गँवहरे देवता की पूजा करते हैं। वन्य-जन्तुओं से रक्षा हेतु बघउत और वनसन्ती देवता की पूजा की जाती है। विश्व और समाज के कल्याण हेतु शिव की पूजा होती है जो इनमें विश्व-बन्धुत्व की व्याप्त भावना का द्योतक है। इन देवताओं की पूजा की परम्परा इनमें बहुत पुरानी है जिसे वंश-परम्परा हम कह सकते हैं। इन देवताओं की पूजा में पशु-बलि दी जाती है और जो लोग बलि नहीं चढ़ा सकते वे देवता पर रोट-मिठाई चढ़ाते हैं।

देवी-देवताओं की पूजा की भाँति इनमें भी हिन्दुओं के त्यौहार अधिकतर मनाये जाते हैं। नाग-पंचमी, जन्माष्टमी, तीज, दशहरा, दीवाली, होली, एकादशी, जिउतिया, ललड़ी व छठ आदि सभी पर्व-त्यौहार ये मानते हैं और बड़े जोश-उत्साह के साथ उन्हें मनाते हैं। ओझाई में यह लोग विश्वास करते हैं और विविध रोग-कष्टों के निवारण हेतु ये उनसे झाड़-फूँक कराते हैं। तथापि शिक्षित व्यक्तियों में यह अन्ध-विश्वास कम हो रहे हैं। इनकी शिक्षित युवा पीढ़ी इस पर विश्वास नहीं करती कि ओझा की झाड़-फूँक से रोग-कष्ट दूर होंगे। वे अब रोगों के इलाज के लिये वैद्य और डाक्टर के पास जाते हैं। पहले इनमें मदिरापान बहुत होता था। विशेषकर पर्व-त्याहारों और मांगलिक अवसरों पर किन्तु शिक्षा के प्रभाव से अब यह मदिरा-पान कम करने लगे हैं। शिक्षित होने पर इनमें

प्रगति करने की भावना आई है और ये अन्य प्रगतिशील समाजों के साथ चलना पसन्द करते हैं जो एक बड़ा शुभ संकेत है।

जनजातियों के रीतिरिवाज़ अन्य जातियों से कुछ भिन्न होते हैं। बैसवार जाति के रीतिरिवाज़ कुछ तो भिन्न होते हैं और कुछ बड़े विचित्र होते हैं। इनके यहाँ विवाह के बाद जब वधू ससुराल में गृह-प्रवेश करती है तब बकरे की बलि दी जाती है। यही नहीं, बकरे के काटने से भूमि पर जो रक्त बहता है उसे पाँवों से कचरती हुई वधू गृह-प्रवेश करती है। तदुपरान्त वह बलि के मांस का प्रसाद ग्रहण करती है। वधू के जब प्रथम पुत्र जन्म लेता है तब भी घर में पूजा होती है और बलि दी जाती है। बलि और पूजा के समय इनके यहाँ टुटेरी गीत गाये जाते हैं और जोश के साथ इस उत्सव को मनाया जाता है। गाय-भैंस चरा के वन से पहली बार लौटने पर भी पशु-बलि दी जाती है तथा बलि के प्रसाद को पशु चराके लौटने वाले व्यक्ति को विशेष रूप से खिलाते हैं। इसके अतिरिक्त जन्म, विवाह, गौना, अन्नप्राशन, गोचारण आदि संस्कारों के अवसर पर बलि देने की परम्परा बैसवारों में पाई जाती है।

मृत्यु होने पर इस जनजाति में भी हिन्दुओं की तरह मुर्दे को जलाकर अन्तिम संस्कार करने की प्रथा है। यदि शीतला (चेचक) हो जाय तो मुर्दे को भूमि के अन्दर दस दिन गाड़ कर रखते हैं। फिर उसे अन्दर से निकालकर या तो जला देते हैं या नदी आदि में प्रवाहित कर देते हैं। हिन्दुओं की भाँति ही इनमें अन्तिम क्रिया-कर्म करने और पितरों को गया पहुँचाने की प्रथा है। पितरों को पिण्डदान के लिये जब कोई व्यक्ति गया जाता है तो गाजे-बाजे और बड़ी धूमधाम के साथ उसकी गाँव-निकासी करते हैं। गया से लौटने पर इनके यहाँ भी भोज करने की परम्परा है।

इनकी बोलचाल की भाषा वही होती है जो उस क्षेत्र के निवासी बोलते हैं। वैसे इनका अपना भी कुछ साहित्य है जो बिखरा पड़ा है। इनके लोक-गीतों, लोरिकी व बिरहा आदि में इनके साहित्य की झलक मिलती है। लोक-गीतों के अलावा ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, जन-जीवन व संस्कार सम्बन्धी गीतों में भी इनके साहित्य का भास होता है तथा इनके संघर्षमय जीवन की गहरी अनुभूति पाई जाती है और साथ-साथ रचयिता की कल्पना-शक्ति की ऊँची उड़ान भी उनमें मिलती है। इनके गीतों में वर्तमान जन-जीवन की विडम्बनाओं का सजीव चित्रण प्रकट होता है और भाषा में स्थानीय बोली व क्षेत्रीयता का बड़ा प्रभाव देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ शिव पहाड़ी को सउपहारी और स्वर्ण-वर्षा को सोनबरसा बोलते हैं। क्रिया-पदों में "नहीं" के लिये "नइखै" और "ह" के लिये "हवै"

या बाटै बोलते हैं। "गया था" के लिये "गइलरहे" कहते हैं और पढ़ता है के लिये "पढ़उथे" या "पढ़ी थे" कहते हैं। इनके गीतों के अन्तिम शब्द के उच्चारण में "तनाव" पाया जाता है। अर्थात् उसे खींचकर बोला जाता है।

कैमूर क्षेत्र की अन्य जनजातियों की अपेक्षा बैसवारों में शिक्षा का प्रचार अधिक पाया जाता है जो इनकी प्रगति का बड़ा शुभ लक्षण है। बैसवारों में यह चेतना आई है कि उनकी सन्तान पढ़-लिखकर अपना जीवन अच्छा बनाये और शिक्षित व सुखी रहे। इस क्षेत्र में अभी शैक्षणिक सुविधायें उत्तम नहीं पाई जातीं परन्तु जैसे-जैसे परिस्थितियाँ और सुविधायें अनुकूल होती जायेंगी इनका पिछड़ापन दूर होता जायेगा और गँवारूपन भी जाता रहेगा। सरकार द्वारा इस दिशा में आश्रम पद्धति विद्यालय खोले गये हैं जिनमें इन जातियों के छात्रों को निःशुल्क शिक्षा के साथ, भोजन, वस्त्र व पुस्तकें आदि भी निःशुल्क उपलब्ध कराये गये हैं। आवास-निर्माण तथा उद्योग-धन्धों के लिये भी आर्थिक सहायता इन्हें सरकार द्वारा दी जा रही हैं। अपने सर्वांगीण विकास हेतु इनमें इच्छा-शक्ति प्रबल है अतएव कोई कारण नही है कि अन्य विकसित जातियों की भाँति बैसवार भी विकसित जाति न बन सके।

भुइयाँ

भुइयाँ जनजाति उत्तर प्रदेश के दक्षिणी कैमूर पर्वत के आंचल में पाई जाती है और उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त मध्य प्रदेश व बिहार में भी इस जनजाति के लोग पाये जाते हैं। इनकी आबादी उत्तर प्रदेश में अधिक नहीं है। सन् 1981 की जनगणना के अनुसार उत्तर प्रदेश में इनकी जनसंख्या आठ हज़ार से कुछ अधिक थी। भुइयाँ शब्द "भू" या "भुई" के आधार पर पड़ा है। भुइयाँ के अर्थ है- भू (भूमि) से उत्पन्न। भूमि से उत्पन्न होने के कारण ही भुइयाँ अपने को ज़मीन का आदमी समझते हैं।

पहले यह भूमि के मालिक हुआ करते थे। भुइयाँ और खरवारों का कहना है कि पूर्व में उनके पूर्वज भूस्वामी (ज़मींदार) थे जिन्होंने अपनी सुख-सुविधा और भूमि की देखभाल के लिये बाहर के व्यक्तियों को बुलाया जो शरीर से शक्तिशाली थे, शिक्षित थे तथा बुद्धिमान भी थे। भूस्वामी भुइयाँ लोगों ने उन्हें नौकरी दी और भूमि का सारा प्रबन्ध उन पर छोड़कर मौज-मस्ती का जीवन बिताने लगे। इन बाहरी लोगों ने अपनी बुद्धि व बल की शक्ति से धीरे-धीरे भुइयाँ लोगों की सारी भूमि पर कब्ज़ा कर लिया और उन्हें बेघरबार व भूमिहीन बना दिया। यह बात यहाँ के अन्य आदिवासियों पर भी लागू होती है। पहले ये सभी आदिवासी भूस्वामी हुआ करते थे, बाद में सामन्ती व्यवस्था व विदेशी आक्रमणों से यह व्यवस्था अस्त-व्यस्त और भंग हो गई- अर्थात जो भूस्वामी थे- भूमिहीन हो गये और अपनी ही भूमि पर भूमिहीन-खेतिहर श्रमिक बन गये। इससे बड़ी विडम्बना इन आदिवासियों के लिये और क्या हो सकती है ?

भुइयाँ जनजाति की दो प्रमुख शाखायें हैं (राम और बैगा)। इनके अतिरिक्त इनकी दो अन्य उपशाखायें भी हैं- राय व रघुवंशी। मिर्जापुर और सोनभद्र के भुइयाँ आठ वर्गों में बँटे हैं- (I) तिरवाह (II) मगहिया (III) दण्डवार (IV) महतवार (V) महातक (VI) मुसहर (VII) भूनिहार और (VIII) भुइयार (भूमिपुत्र)। इन वर्गों के लोग आपस में रोटी-बेटी का सम्बन्ध रखते हैं और सभी अपने को भुइयाँ कहते हैं। अधिकतर भुइयाँ श्याम वर्ण और नाटे कद के होते हैं और उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट होता है। शारीरिक श्रम द्वारा यह अपनी जीविका चलाते हैं अतः कन्धों पर निरन्तर बोझ ढोने से इनके कन्धों पर घट्टे पड़ जाते हैं।

यह एक घुमन्तू जाति है। जहाँ रोजी मिली, बड़ी झुग्गी डालकर घर बना लिया-जहाँ चारा वहीं मारा। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से इनकी दशा में कुछ सुधार हुआ है। इनके आवास हेतु सरकार द्वारा इन्हें कुछ भूमि आवंटित की गई है जिस पर मिट्टी-फूस-खपरैल के मकान बनाकर भुइयाँ उनमें कुछ स्थायी रूप से रहने लगे हैं और अपनी जीविका हेतु

कुछ कारोबार भी करने लगे हैं। पहले यह वनों में प्राप्त कन्द-मूल और साग-पात खाते थे तथा मोटे अनाज (सावाँ, कोदों, मकई, महुआ, मेझरी आदि) खाकर गुजर करते थे। अब इन्हें मज़दूरी करने को मिलती है, स्त्री-पुरुष दोनों साथ काम करते हैं। अतः शाम को घर लौटने पर भरपेट दालभात खाते हैं और अन्य स्वादिष्ट भोजन भी कभी-कभी करने को मिल जाता है। इनके बच्चे पहले नंग-धड़ंग घूमा करते थे किन्तु अब वे कपड़े पहने घूमते हैं। भोजन के बाद एक स्थान पर एकत्र होकर आपस में गा-बजाकर अपना मनोरंजन करते हैं और इस प्रकार दिन भर की थकावट को दूर करते हैं। इस प्रकार इनका संसार इनकी झोपड़ी और कार्यक्षेत्र तक सीमित रहता है। देश की राजनैतिक गतिविधियों से ये कोई मतलब नहीं रखते और न ही इन्हें इसका ज्ञान रहता है कि राष्ट्र के सामने क्या समस्यायें हैं तथा क्या झमेले अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में चल रहे हैं।

जिला सोनभद्र के निर्माण में भुइयाँ श्रमिकों की भागीदारी रही है- विशेषकर अनपारा में जो अनेक विद्युत गृह बने हैं, उनके निर्माण में भुइयाँ श्रमिकों ने बड़ी संख्या में काम किया है। हज़ारों भुइयाँ श्रमिकों ने वहाँ वर्षों काम किया है- मिट्टी खोदने का समस्त कार्य वहाँ इन्हीं के द्वारा किया गया है। इनके निर्माण के दौरान भुइयाँ श्रमिकों ने सपरिवार अन्य आदिवासी श्रमिकों के साथ वहाँ रात-दिन बड़े परिश्रम और लगन से काम किया है। मिट्टी-खोदने, मिट्टी ढोना और खेतों पर मजदूरी के काम यह बड़े चाव से करते हैं क्योंकि मिट्टी से लगे काम करने में भुइयाँ जनजाति के लोग बड़े निपुण व पटु होते हैं।

यह हिन्दू देवी-देवताओं को मानते और पूजते हैं। करमा व मामो नृत्य इनमें लोकप्रिय है। नर-नारी मिलकर साथ-साथ नाचते-गाते हैं और अपना मनोरंजन करते हैं। उस समय दोनों मदिरा-पान करते हैं और खूब नाचते हैं। कहते हैं कि इनकी शराब पीने की आदत में कुछ कमी हुई है जो एक शुभ लक्षण है। हिन्दुओं की तरह यह अपने त्यौहार भी मानते हैं जिनमें जिउतिया पर्व प्रमुख है। इस पर्व में भी भुइयाँ खूब मदिरा-पान करते हैं और सब लोग मिल-जुलकर गाते-बजाते व खुशियाँ मनाते हैं।

इस जनजाति में शिक्षा की बड़ी कमी है फिर भी इनकी अपनी अलग भाषा है। प्रत्येक जनजाति की अपनी निजी भाषा होती है जो अपने आप में भिन्न व निराली होती है। इनकी भाषा में अनुनासिक ध्वनियों की बहुलता रहती है। दुद्धी तहसील (सोनभद्र) के भुइयाँ इस प्रकार बोलते हैं- "ये गऊँ आइनी। भिखिया देहम्। एक कवरा भतवा। बन्तवा इति बचवा के दीहुँ-भुखइले बा। पलामू बिहार के भुइयाँ बोलते हैं :-

"करम भइलै पातर। चलले जोगिया भीछा माँगे- करम भइले, पातर। चलल रनियाँ भीछा देवें-करम भवे पातरी।"

इनके गीतों के विश्लेषण से पता चलता है कि उनमें बड़ा ज्ञान, दर्शन व वैराग्य छिपा है और ये गीत इनकी जीवन-शैली व संस्कारों के अगणित चित्र हमारे समक्ष उपस्थित करते हैं जिन पर मनन-चिन्तन करने के लिये श्रोता को बाध्य होना पड़ता है। इनके लोकगीतों एवं विभिन्न मांगलिक अवसरों पर गाये जाने वाले गीतों का संकलन करके उन पर शोध किया जाना चाहिये जिससे कि इनकी, भाषा, साहित्य एवं संस्कृति की गहराई का पता लग सके।

स्वतंत्रता- प्राप्ति के बाद से भुइयाँ जनजाति के विकास हेतु सरकार द्वारा अनेक कल्याणकारी योजनायें चलाई जा रही हैं जिनके फलस्वरूप इनकी आर्थिक एवं शैक्षिक स्थिति में कुछ सुधार भी हुआ है। तथापि इनमें बड़ी हीनभावना पाई जाती है। सरकार द्वारा इनके बच्चों की शिक्षा हेतु विद्यालय भी खोले गये हैं। बच्चों में अधिक शिक्षा-प्रचार हेतु अनेक आश्रम पद्धति विद्यालय खुलने चाहिये जहाँ सम्पूर्ण शिक्षा (भोजन, वस्त्र, आवास समेत) निःशुल्क होती है। चूँकि अधिकांश भुइयाँ अपने बच्चों को पढ़ने स्कूल नहीं भेजते हैं अतः यह विद्यालय आवश्यक हैं। सरकार द्वारा भूमि का जो आवंटन किया गया है उसका सदुपयोग किया जाना चाहिये। शिक्षा समस्त विकास की कुन्जी होती है अतः जब ये लोग शिक्षित हो जायेंगे तो अपने विकास का रास्ता स्वयं ढूँढ़ निकालेंगे।

2

उत्तर प्रदेश व उत्तराञ्चल की अनुसूचित जनजातियाँ

थारू

यह जनजाति हिमालय पर्वत के नीचे तराई-क्षेत्र में पाई जाती है। इनकी बस्तियाँ लखीमपुर खीरी, गोण्डा, बहराइच, बलरामपुर, गोरखपुर, बस्ती, पीलीभीत आदि तराई जिलों में स्थित है। नैनीताल और ऊधमसिंह नगर के जिलों में इनकी बस्तियाँ सर्वाधिक पाई जाती हैं। कहा जाता है कि ये थार (राजस्थान) के निवासी थे- जिस पर इनको थारू कहा जाने लगा। मध्यकाल में मुस्लिम आक्रमणों के दौरान ये राजस्थान से भागकर हिमालय पर्वत की शरण में आये और तराई में बस गये-या तराई में ठहर गये। ''ठहरे'' से ये ''थारू'' कहलाये। राजस्थान में इनके पूर्वज शासक थे। तभी ये अपने नाम के आगे ''सिंह'' और ''राणा'' लिखते हैं। राजस्थान में जब मुस्लिम आक्रमण हुआ तो इनके साथ अनेक राजकुमारियाँ तथा राजघराने की महिलायें डोलियों में आई थीं। साथ में बहुत से दास और सेवक आये थे। भागकर आईं बहुत सी राजपूतानियों के पति या तो युद्ध में मारे गये थे या उनका पता नहीं लगा। अतः तराई में बसने के कुछ समय बाद इन्होंने अपने साथ आये सेवकों से विवाह कर लिया। तभी से थारू नारियाँ अपने को पुरुषों से श्रेष्ठ मानती हैं। कुछ थारू अपना उद्भव नेपाल के राजघराने से जोड़ते हैं क्योंकि नेपाल की तराई में भी थारू बसे हुये हैं और नेपाल में ये राणा, डेगौरी व खटौरिया नामों से जाने जाते हैं। कुछ भी हो कभी पूर्ण तराई क्षेत्र में इनका शासन और गौरवमय इतिहास रहा है।

इनकी प्रजाति मंगोलीय कही जाती है। पीलापन लिये इनका रंग कुछ गोरा कहा जायेगा। इनका कद सामान्य होता है। नाक चिपटी और मुँह चौड़ा पाया जाता है। थारू नारियाँ कुछ स्थूल शरीर की होती हैं किन्तु ये पुरुषों से अधिक गोरी व सुन्दर होती हैं। इनके परिवार स्त्रीप्रधान होते हैं। सबसे बुजुर्ग महिला परिवार की प्रधान (मुखिया) होती है जो सभी प्रकार के सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक और सांस्कृतिक मामलों में निर्णय लेती है जो सभी के लिये मान्य होता है। अभी तक इनमें संयुक्त परिवार-प्रणाली चली आ रही है किन्तु आधुनिक सभ्यता के प्रभाव से इस जनजाति में भी संयुक्त परिवारों का विघटन आरम्भ हो गया है। बाज़ार-हाट का काम अधिकतर नारियाँ ही करती हैं। खेती की उपज, सब्जी, अण्डे और मछली बेंचने नारियाँ ही जाती हैं क्योंकि वे इन कामों मे अपने को पुरुषों से अधिक चतुर व सक्षम समझती हैं। थारू नारियाँ प्रायः टोलियों में निडर होकर हाट-बाज़ार जाती हैं जहाँ से दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं को खरीदकर घर लाती हैं।

थारू लोग सुखी पारिवारिक जीवन में विश्वास करते हैं। यह मांसाहारी होते हैं और मछली इनका सबसे अधिक प्रिय भोजन है। तालाबों, झीलों और नदियों से ये स्वयं मछली मारकर लाते हैं। मछली पकड़ने में इन्हें दक्षता प्राप्त है। नर-नारी और बच्चे मिलकर मछली मारते हैं। छोटी मछलियों को ये अपने छप्परों पर फैलाकर धूप में सुखा लेते हैं और जब मछली मारने का मौसम नहीं होता तो इन सूखी मछलियों को उबालकर और फिर पकाकर खाते हैं। मछली के साथ ये चावल खाते हैं। ये लोग मदिरापान के बड़े शौकीन होते हैं और नर-नारी, बच्चे सभी शराब पीते हैं। पहले ये अपनी शराब स्वयं बनाते थे किन्तु अब अधिकांशतः सरकारी ठेकों से शराब लेकर पी जाती है। इनमें यह अन्ध-विश्वास है कि मदिरापान से मलेरिया नहीं होता है। इनमें शराब की इतनी अधिक लत पड़ गई है कि ये साहूकारों और तराई के रायसिखों से ऋण लेकर शराब पीते हैं और ऋण के बदले अपनी भूमि तक को गिरवी रख देते हैं। इस प्रकार इनकी खेती पर साहूकारों व रायसिखों का कब्जा बढ़ता जा रहा है। ऐसी भी शिकायतें आ रही हैं कि मदिरापान के दुर्व्यसन में फँसाकर इनके साहूकारों द्वारा थारू नारियों का यौन-शोषण भी किया जाता है।

थारू सभी हिन्दू त्यौहार मनाते हैं जिनमें होली, जिउँतिया, ललही छठ, अनन्त चतुर्दशी आदि प्रमुख हैं। होली के कई दिन पहले से नाच, गाना आदि आरम्भ हो जाता है। होली में इनके यहाँ भी फाग गाते हैं। अश्लील गाने भी होते हैं। भाभी व पत्नी आदि से रंग-अबीर खेलते हैं। इस त्यौहार के दौरान आपस में सभी हँसी-ठिठौलती भी करते हैं जिसे शुभ तथा अनिवार्य माना जाता है और जो ऐसा नहीं करते उन्हें पाप का भागीदार मानते हैं यह लोग घर-घर जाकर होली खेलते हैं और एक स्थान पर एकत्र होकर सभी मदिरापान करते हैं। यह प्रथा इनमें बहुत पहले से चली आ रही है किन्तु ज्यों-ज्यों इनमें शिक्षा का प्रचार हो रहा है- ये प्रथायें कम होती जा रही हैं। बड़े-बूढ़े भी अबीर और अश्लील गानों को बुरा मानते हैं।

होली नृत्य (नैनीताल के थारू)

यह जनजाति हिन्दू-धर्म को मानती है और हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा करती है। काली, भैरव, वीर, झारू, गरार, रतिनाथ व देवहार आदि देवताओं की ये पूजा करते हैं। पीपल, नीम के वृक्षों की भी पूजा की जाती है। बाघ, गाय, सर्प बिच्छू आदि जीवों को भी पूजा होती है। इनके कुछ देवी-देवता अलग से भी होते हैं। हिन्दुओं की भाँति यह भी तीर्थ-व्रत में विश्वास करते हैं। कथा-वार्ता प्रेम से सुनते हैं। फुर्सत में रात-भर बड़े-बूढ़ों से रोचक कहानियाँ सुनते हैं जो अधिकतर थारू जीवन व संस्कृति से सम्बन्धित होती हैं। ये कहानियाँ प्रायः बड़ी शिक्षाप्रद व ज्ञानवर्द्धक होती हैं। इसके अलावा ये अभिनय भी करते हैं। थारू लोग दुर्गा और काली देवी को पशु-बलि चढ़ाते हैं। यह शिव-पूजक भी हैं और पत्थर के स्थान पर पर बाँस के खुत्थ का शिवलिंग बनाकर पूजते हैं। इनमें यह विश्वास पाया जाता है। कि बाँस की पूजा से वंश की वृद्धि होती है। कदाचित इसीलिये ये बाँस के शिवलिंग की पूजा करते हैं। बाँस-पूजा की परम्परा अन्य जनजातियों में भी पाई जाती है।

थारू सीधे व सरल होते हैं और सादा जीवन जीते हैं। ईमानदारी के साथ अपना जीवन-यापन करते हैं। पुरुष और बालक पैण्ट, पाजामा, कुर्ता, कमीज़ व कोट आदि पहनते हैं। इनकी नारियाँ वस्त्राभूषणों की शौकीन होती हैं। अंगिया, लहँगा, ब्लाउज और ओढ़नी पहनती हैं कुछ स्त्रियाँ साड़ियाँ भी पहने देखी जाती हैं। अविवाहित बालिकायें ओढ़नी कन्धे से पहनती हैं जबकि विवाहित नारियाँ सर से पहनती हैं। अधिकतर नारियाँ कड़ा, कंगन, हँसुली, पहुँची, बिजली, सेहरा, झुमका, कर्णफूल व अँगूठी आदि आभूषण पहनती हैं।

थारुओं के घर उत्तर-दक्षिण की दिशा में होते हैं और सभी कमरों को एक कतार में रेल के डिब्बे की तरह बनाते हैं। अपने घरों का निर्माण ये स्वयं करते हैं जो अधिकांशतः कच्चे होते हैं। थारू स्त्रियाँ इन्हें मिट्टी से लीप-पोतकर बड़ा साफ-सुथरा रखती हैं। दीवारों पर नारियों द्वारा बड़ी सुन्दर चित्रकारी की जाती है। चित्रकारी में पशु का शिकार करते हुये मानव शिकारी आदि के चित्र बनाये जाते हैं जो आकर्षक होते हैं। घर के अन्दर अन्धेरा सा रहता है और प्रकाश की बड़ी कमी पाई जाती है। घर के अन्दर ही चूल्हा होता है किन्तु धुँआ बाहर निकलने की व्यवस्था नहीं होती है जिससे इन्हें नेत्र-रोग हो जाते हैं विशेषकर नारियों को जिन्हें अन्दर भोजन पकाना पड़ता है। इनके मकान में उसी प्रकार कई खण्ड पाये जाते हैं जैसे कि रेलगाड़ी में कई डिब्बे एक कतार में जुड़े होते हैं।

थारुओं की भाषा और बोली धनी है और इनका साहित्य भी समृद्ध बताया जाता है। नृत्य व संगीत-कला में यह प्रवीण होते हैं किन्तु आधुनिक सभ्यता के प्रभाव में आने से इनमें तेज़ी से परिवर्तन हो रहा है। जनजातीय और घुमन्तू जीवन से हटकर अब ये देश, समाज, काल और वर्तमान परिस्थिति के बारे में सोचने लगे हैं। जैसे-जैसे ये शिक्षित हो रहे हैं- अन्ध-विश्वासों को त्याग रहे हैं जो एक शुभ लक्षण कहा जायेगा। इनके क्षेत्र

में अनेक विद्यालय खुले हैं जहाँ ये निःशुल्क शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ-जहाँ इनका बाहुल्य है वहाँ इनके बच्चों के लिये आवासीय विद्यालय सरकार द्वारा खोले गये हैं। इन आवासीय विद्यालयों में शिक्षा के अलवा भोजन, वस्त्र, दवायें व पुस्तकें आदि भी इन्हें निःशुल्क उपलब्ध कराये जाते हैं।

थारुओं का मुख्य व्यवसाय खेती है जिसे ये पारम्परिक ढ़ंग से करते थे। विकास-योजनाओं और शिक्षा के प्रसार से अब ये लोग भी उन्नत ढंग से खेती करने लगे हैं तथा कुटीर उद्योग-धन्धों की ओर भी इनका ध्यान गया है। इनकी बस्तियाँ अधिकतर जंगलों या पर्वत के नीचे तराई में पाई जाती है। वहाँ ये मुख्यतः खेती करते हैं। खरीफ में ये मुख्यतः धान व मक्का की फसलें उगाते हैं, खेती के साथ-साथ ये पशु-पालन व मुर्गी-पालन भी करते हैं। फसलों की रक्षा हेतु ये खेतों में धोख लगाते हैं। लकड़ी के ढाँचे को कपड़े पहनाकर उसके ऊपर मिट्टी की हण्डिया रंगकर लगा देते हैं जिसे देखकर जंगली पशु खेत के अन्दर नही घुसते हैं। वे घोख को मानव समझते हैं। फसल पकने पर पहले पुजारी से पूजा कराते हैं- तब कहीं फसल को घर लाते हैं। इसे टोटका कह सकते हैं। थारू अपनी खेती स्वयं करते हैं। खेती के अलावा वनों से ये कन्द-मूल और जड़ी-बूटी एकत्र करते हैं जिसे बाजार में ले जाकर बेंच देते हैं। कुछ थारू महावत का भी काम करते हैं और ये इस काम में दक्ष होते हैं।

सामाजिक क्षेत्र में भी थारुओं के जीवन में बदलाव आ रहा है। नैनीताल व ऊधमसिंह नगर जिलों के थारुओं को छोड़कर अन्य थारुओं में काफी बदलाव आया है। शिक्षित होकर थारू युवक शहरों, में जाकर नौकरी करने लगे हैं और वहीं रहने लगे हैं जिससे उनका रहन-सहन बदला है और बोली भी बदली है। सिनेमा, टेलीविजन व रेडियो का प्रभाव इन पर तेज़ी से पड़ा है। नैनीताल व ऊधमसिंह नगर जिलों के थारू अपेक्षाकृत अपनी पुरानी परम्पराओं को अब भी पकड़े हुये हैं। इनमें जातीय पंचायत- व्यवस्था अब भी कायम है जिसके द्वारा आपसी व सामाजिक विवादों का निपटारा किया जाता है। ये पंचायतें अब भी बड़ी शक्तिशाली होती हैं और इनके द्वारा सामान्य आचरण के विभिन्न प्रकार के वादों का भी निर्णय किया जाता है। ये जातीय पंचायतें थारू समाज को एक सूत्र में बाँधे हुये हैं किन्तु क्या भविष्य में भी ये इसी प्रकार थारू समाज को एक सूत्र में बाँधकर रख सकेंगी ?

(ऊपर) एक थारू सुन्दर बाला
(नीचे) एक थारू घर के बाहरी भाग पर थारू नारियों द्वारा की गई चित्रकारी

बुक्सा (भोक्सा)

बुक्सा या भोक्सा जनजाति हिमालय पर्वत के नीचे तराई-भावर इलाके में पाई जाती है। थारुओं की भाँति यह एक प्राचीन जनजाति है जो उत्तर प्रदेश व उत्तरांचल के अधिकांश तराई-जिलों में निवास करती है। ये तराई के मूल निवासी हैं और मंगोल प्रजाति के बताये जाते हैं। इनका शरीर स्वस्थ और गठीला होता है। कद प्रायः छोटा होता है। रंग साँवला और चेहरा चौड़ा होता है तथा नाक- चपटी होती है। इनकी नारियों के शरीर की बनावट भी ऐसी ही होती है।

ये अपने को पँवार राजपूतों के वंशज बताते हैं। कुछ लोगों का मत है कि ये मराठों द्वारा जब महाराष्ट्र से भगाये गये तो यहाँ आकर देहरादून के आस-पास बस गये। एक मत के अनुसार इनके पूर्वज धारा नगरी (राजस्थान) से भागकर आये थे और मुस्लिम शासकों द्वारा वहाँ से भगाये गये थे। कुछ बुक्साओं का कहना है कि टेहरी के राजा सुखदास के निमंत्रण पर ये शिकार खेलने का कौशल सिखाने यहाँ आये थे। यह भी कहा जाता है कि इनके पूर्वजों की नारियाँ राजस्थान के राजघरानों की महिलायें थीं। मुस्लिम शासकों द्वारा आक्रमण किये जाने पर इन महिलाओं को डोलियों में हिमालय पर्वत की ओर भेज दिया गया था। तराई क्षेत्र में आकर डोलियाँ रख दी गईं और राजघराने की ये महिलायें अपने साथ आये सम्बन्धियों तथा दासों व सेवकों के साथ यहीं बस गईं।

राजस्थान से भागने पर ये महिलायें अपने पतियों और परिवार के सदस्यों से बिछुड़ गई थीं अतः वे तराई में बस गई तो अपने साथ आये सेवकों से उन्होंने विवाह कर लिया। उन्हीं के वशंज ये बुक्सा कहे जाते हैं। इसी पृष्ठभूमि में कदाचित बुक्सा नारियाँ अपने को बुक्सा पुरुषों से श्रेष्ठ मानती हैं। अपने ही गोत्र में बुक्सा दो पीढ़ियों तक विवाह नहीं करते। विवाह के बाद गोत्र में परिवर्तन नहीं होता और पिता का जो गोत्र होता है वही गोत्र उसके पुत्रों का होता है। एक से अधिक विवाह की इनमें प्रथा है और यह प्रायः दो विवाह करते हैं। विधवा-विवाह का इनमें चलन है जिसे एक अच्छी प्रथा कहा जायेगा। विवाह के बाद दामाद अपनी ससुराल में सास-ससुर के पास रहता है और इस प्रकार इनमें घर-जमाई प्रथा का प्रचलन है। यह प्रथा भारत की कई अन्य जनजातियों में भी पाई जाती हैं। विवाह में दहेज भी दिया जाता है।

बुक्साओं में पर्दा-प्रथा नहीं है और ये जात-पाँत के भेद-भाव में विश्वास करते हैं। अर्थात बुक्साओं में ऊँची और नीची जातियाँ पाई जाती हैं। हिन्दुओं के देवी-देवताओं को ये पूजते और मानते हैं- शिव, काली, दुर्गा, लक्ष्मी, राम, कृष्ण आदि की ये पूजा करते हैं। तथापि काशीपुर की चामुण्डा देवी इनकी प्रमुख देवी हैं (काशीपुर के पास के क्षेत्र में

बुक्सों का बाहुल्य भी पाया जाता है।) इनके अलावा यह अपने ग्राम-देवता की भी पूजा करते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि इनकी धार्मिक परम्परायें हिन्दुओं की तरह हैं।

यह लोग भूत-प्रेत, टोना-जादू और तंत्र-मंत्र आदि में विश्वास करते हैं। पशु-बलि देवी-देवता को प्रसन्न करने हेतु करते हैं। धरती-माता, सूर्य और चन्द्र की भी पूजा करते हैं। हिन्दुओं की तरह होली, दीवाली, दशहरा, जन्माष्टमी, नवरात्रि आदि सभी त्यौहार मनाते हैं जिनमें सामूहिक नृत्य का आयोजन किया जाता है। ये लोग संगीत, नृत्य व कला के प्रेमी हैं। विभिन्न पर्वों, त्यौहारों और सामाजिक उत्सवों पर ये लोग नर-नारी मिलकर नाच-गान करते हैं और सामूहिक रूप से खुशियाँ मनाते हैं। नृत्य में ये पूरा शृंगार करते हैं विशेषकर बुक्सा नारियाँ। इनमें आभूषणों के प्रति विशेष आकर्षण पाया जाता है और बुक्सा नारियाँ सर से लेकर पैरों तक अनेक आभूषण पहनती हैं। इनकी नारियाँ हाथों में कड़ा-चूड़ी, पाँवों में कड़ा, गले में माला गुरियाँ और कानों में कर्णफूल अवश्य पहनती हैं। माथे पर टीका-बिन्दी लगाती हैं। पत्थर व लकड़ी आदि के गहने तथा गुरियाँ ये स्वयं बना लेती हैं। आधुनिक सभ्यता के प्रभाव में बुक्सा लोग भी कंघी, रिबन, लिपस्टिक, क्रीम, साबुन, नकली आभूषण व चेहरे पर लगाने का पाउडर आदि का प्रयोग करने लगे हैं।

पहले बुक्सा जनजाति में शिक्षा की बड़ी कमी थी। अब स्थान-स्थान पर इनके लिये विद्यालय खोले गये हैं जहाँ इन्हें निःशुल्क शिक्षा उपलब्ध है। अनेक स्थानों पर आवासीय विद्यालय भी सरकार द्वारा चलाये जा रहे हैं जहाँ बुक्सा छात्रों को शिक्षा के अतिरिक्त निःशुल्क भोजन व वस्त्र आदि की भी व्यवस्था है। परिणामस्वरूप इनमें शिक्षा का प्रसार हुआ है और उसी के साथ इनके जीवन-स्तर में भी सुधार हुआ है। इनके आचार-विचार, खान-पान और रहन-सहन में भी शिक्षा के कारण परिवर्तन हो रहा है तथा रूढ़िवादिता में भी कमी आ रही है। शिक्षित व्यक्तियों में अन्ध-विश्वास भी कम हो रहा है।

बुक्सा जनजाति के लोग धीरे-धीरे शिक्षित हो रहे हैं। नई पीढ़ी में शिक्षा का ज़ोर हो रहा है तथापि थारुओं की अपेक्षा ये लोग शिक्षा के क्षेत्र में अधिक पिछड़े हैं। शिक्षा के कारण इनकी आर्थिक दशा में भी सुधार हो रहा है। इनके घरों में भी ट्रांजिस्टर-रेडियो और टेलीविजन पाये जाते हैं। बुक्सा युवक घड़ी और चश्मा लगाये देखे जाते हैं और बाइसिकिल से चलते हैं। कुछ सम्पन्न व्यक्तियों के पास मोटर साइकिल और स्कूटर भी पाये जाते हैं।

बुक्सा लोगों का मुख्य पेशा खेती है। कुछ बुक्सा परिवारों के पास काफी भूमि पाई जाती है। तराई की यह भूमि बड़ी उपजाऊ है और कम परिश्रम करके भी इस भूमि में

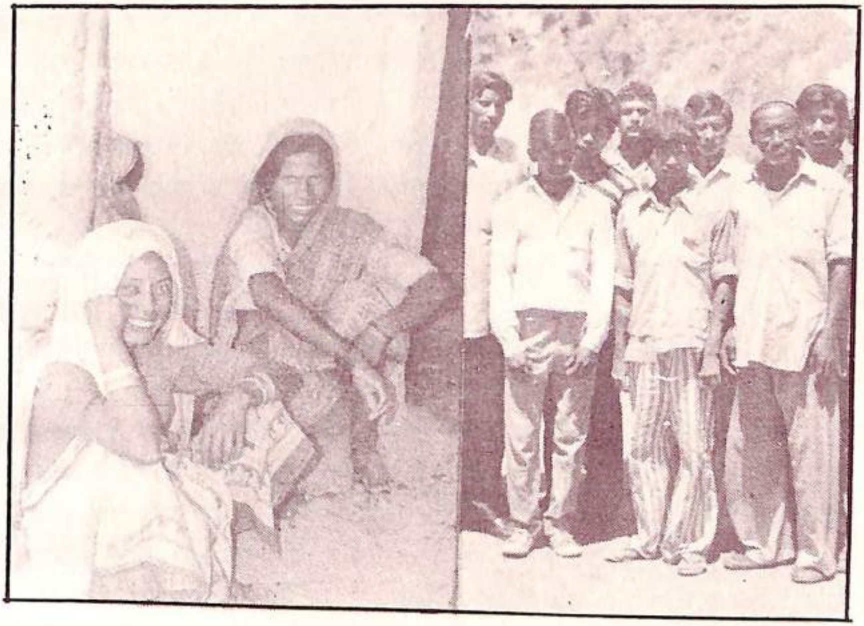

जिला ऊधमसिंह नगर (उत्तरांचल) की भोक्सा नारियाँ एवं पुरुष

अनेक प्रकार की फसलें उगाई जा सकती हैं। खेती के अलावा ये खेती से सम्बन्धित विभिन्न उद्योग-धन्धों और शिल्प का काम करते हैं। लकड़ी-लोहे का काम, मकान बनाने का काम, विभिन्न प्रकार के उपकरणों, अस्त्र-शस्त्र, डलिया-टोकरी और मछली पकड़ने के जाल बनाने में यह दक्ष होते हैं। मछली पकड़ने में यह बड़े कुशल होते है। खेती के साथ-साथ यह पशुपालन भी करते हैं। इनमें मदिरा पान की लत पाई जाती है जिसके लिये यह स्थानीय साहूकारों और रायसिखों से ऋण लेते हैं। देश-विभाजन के बाद से रायसिख पाकिस्तान से भागकर तराई में आकर बस गये। इनमें अपराध-प्रवृत्ति पाई जाती है। भोले-भाले बुक्सों को ये शराब पीने के लिये ऋण देते हैं और बाद में उनकी भूमि पर कब्ज़ा कर लेते हैं। इस प्रकार इनके द्वारा बुक्साओं का उन्हीं की भूमि पर बड़ा शोषण किया जा रहा है।

बुक्सा जनजाति के लोग सामूहिक रूप से बस्ती में रहते हैं। इनके मकान उत्तर से दक्षिण की ओर एक कतार में बने होते हैं और सभी मकान प्रायः एक ही शैली के बने होते हैं। मकान के पूर्व की ओर पशुबाड़ा होता है और मध्य में आँगन होता है। इनके मकान दोपालीया छप्पर के बने होते हैं। मकान में ओखारी होती है जिसमें धान की कुटाई की जाती है। अनाज रखने के लिये ये मिट्टी की कोठी का उपयोग करते हैं जिसे ये स्वयं अपने हाथों से बनाते हैं। मकान की दीवारें मिट्टी व टट्टर से इनके द्वारा बनाई जाती हैं।

बुक्सा नारियाँ कला-प्रेमी होती हैं। दीवारों पर स्त्रियों द्वारा चित्रकारी की जाती है। गाढ़ी मिट्टी का लेप दीवारों पर किया जाता है जिस पर स्त्रियों द्वारा अंगुलियों से लहरदार कतारें बना दी जाती हैं जो देखने में अच्छी लगती हैं। उनके द्वारा दीवारों पर प्रायः लोक-जीवन के चित्र बनाये जाते हैं जैसे पशु-पक्षी, हाथी-घोड़े, ऊँट, मोर, मुर्गा, शेर, चीता, बाघ, रथ-सवारी आदि के चित्र। घरों में मिट्टी और गोबर से लिपाई करके उन्हें साफ़- सुथरा रखा जाता है। इनका रहन-सहन सादा और साधारण होता है।

इस जनजाति के लोग वनों के पास बस्ती बनाते हैं और एकान्त-वास पसन्द करते हैं। ये मांसाहारी होते हैं और मदिरापान करते हैं। नर व नारियाँ दोनों ही मदिरा-पान करते हैं। नाच-गाने के द्वारा अपना मनोरंजन करते हैं। इन्हें आमोद प्रिय है। इनकी अपनी जातीय पंचायतें होती हैं जिनकी बैठकें प्रायः धार्मिक अनुष्ठानों पर की जाती है। सामाजिक मामलों के निस्तारण हेतु भी इन पंचायतों की बैठक की जाती है जिनमें सामाजिक वादों व आपसी झगड़ों का निपटारा किया जाता है। ये पंचायतें बड़ी शक्तिशाली होती हैं जो अपने निर्णयों द्वारा दोषी व्यक्ति को जाति से निकाल सकती हैं और आर्थिक दण्ड भी लगा सकती हैं दण्ड लगाकर सामाजिक अपराधों को इनके द्वारा क्षमा भी कर दिया जाता है।

भोटिया

भोटिया शब्द की उत्पत्ति ''भोट'' शब्द से हुई है। नेपाल-सीमा पर एक विशेष भूभाग को भोट कहते हैं जहाँ आदिकाल से आदिम जातियाँ रहती आई हैं। उत्तराञ्चल में भोटिया उत्तराखण्ड (उत्तरकाशी, चमोली, पिथौरागढ़ और अल्मोड़ा) के जिलों में मुख्यतः पाये जाते हैं। उत्तरकाशी, में इन्हें 'जाड' कहते हैं जबकि चमोली में 'मारछा-तालखा' के नाम से जानते हैं और पिथौरागढ़ व अल्मोड़ा के जिलों में इन्हें 'शौका व जुहारी (जौहारी)' कहा जाता है। भोटिया नाम सर्वत्र प्रचलित है। आम जनता इन्हें भोटिया नाम से ही जानती हैं।

इनकी प्रजाति मंगोलीय है। इनका कद मध्यम होता है। रंग पीलापन लिये हुये गोरा होता है। नाक कुछ चिपटी होती है। मुँह गोल और चौड़ाई लिये होता है। गाल की हड्डियाँ चोड़ी होती हैं। शरीर मांसल और बलिष्ठ होता है। हड्डियाँ चौड़ी और पुष्ट होती हैं। ये अपने को राजपूत कहते हैं।

भोटिया मांसाहारी होते हैं। अधिकांश भोटिया बौद्ध धर्म को मानते हैं। कुछ भोटिया हिन्दू देवी-देवताओं और पर्वों को मनाते हैं। इनकी बस्तियों में बौद्ध मन्दिर अवश्य पाया जाता है जहाँ का पुजारी लामा होता है। जहाँ लामा नहीं होते वहाँ भोटिया ब्राह्मण पुजारी को बुला लाते हैं। कहीं-कहीं यह हिन्दू-विधि से विवाह भी करने लगे हैं। धीरे-धीरे इनमें हिन्दू रीति-रिवाजों का प्रभाव पड़ता जा रहा है। इस प्रकार भोटियों में धर्म-सहिष्णुता पाई जाती है।

इनकी अपनी अलग भाषा है जो तिब्बत-बर्मा भाषा परिवार की एक तिब्बती भाषा है। आपस में ये अपनी भाषा बोलते हैं किन्तु अन्य व्यक्तियों से ये हिन्दी में खूब बोलते हैं। शिक्षित भोटिया अंग्रेजी समझते हैं और बोलते भी हैं। इनके अलावा यह जिस क्षेत्र में बसे होते हैं वहाँ की स्थानीय बोली भी समझते-बोलते हैं।

इनकी जीवन-शैली यायावरी (खानाबदोश) होती है। सर्दी के मौसम में ये अपना स्थान छोड़कर नीचे आ जाते हैं क्योंकि वहाँ शीतऋतु में बर्फ जमी रहती है। चूँकि यह जाति प्रधानतः व्यापारी होती है अतः यह किसी न किसी व्यापार में लगे रहते हैं। कुछ लोग नीचे आकर खेती भी करते हैं और भेड़-बकरी पालते हैं। पूर्व में ये तिब्बत से नमक, सुहागा, सोना, पशुओं की खालें, खच्चर, भेड़-बकरी, ऊन व याक की पूँछ भारत में लाते थे और बदले में यहाँ से चावल, चीनी, गुड़, तम्बाकू, लोहा, बर्तन व सूती कपड़े आदि तिब्बत को ले जाते थे। उनका यह व्यापार बड़ा अच्छा चलता था किन्तु सन् 1951 ई० में चीन द्वारा तिब्बत पर आक्रमण किया गया और तब से व्यापार बन्द हो गया।

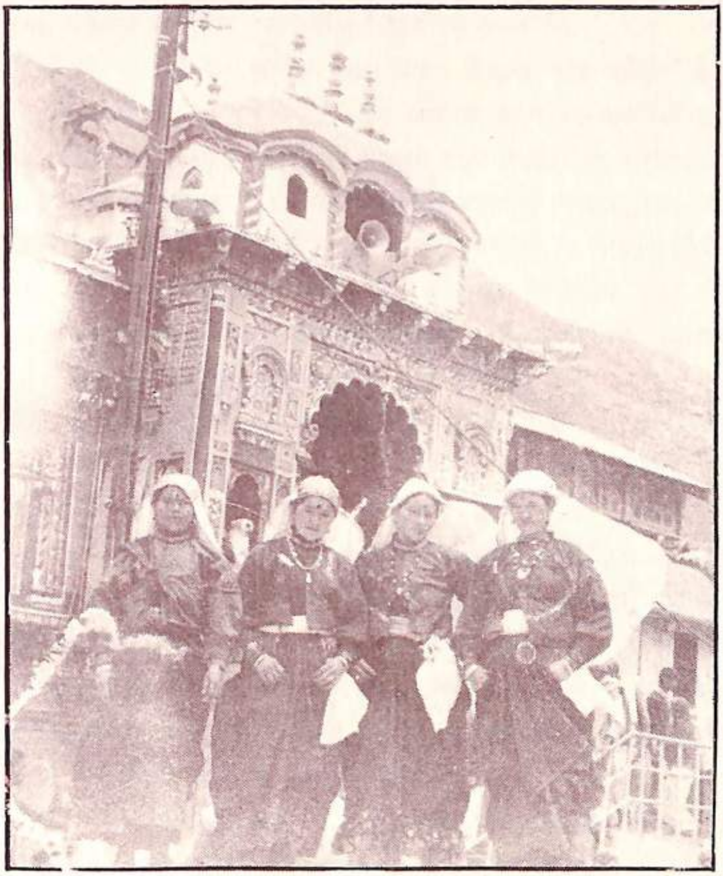

सीमान्त गाँव माना (जिला चमोली) की भोटिया युवतियाँ

आज भी तिब्बत चीन के अधीन है जिससे भोटियों के तिब्बत व भारत के बीच व्यापार को बड़ा आघात पहुंचा है और इन्हें बड़ी आर्थिक क्षति हुई है। आर्थिक आघात के साथ-साथ इनकी सामाजिक व सांस्कृतिक परम्पराओं को भी आघात पहुँचा है। इनकी जीवन शैली प्रभावित हुई और इनके रीति-रिवाज़ भी बदले हैं।

भोटियों के पुनर्वास हेतु सरकार द्वारा इनके विकास और कल्याण हेतु अनेक योजनायें आरम्भ की गई हैं। इन्हें शिक्षित और प्रशिक्षित करने हेतु जगह-जगह विद्यालय एवं प्रशिक्षण-केन्द्र खोले गये हैं। लघु उद्योग-धन्धों और व्यापार हेतु सरकार द्वारा इन्हें ऋण व अनुदान दिया जाता है जिसके फलस्वरूप बहुत से भोटिया शाल, कम्बल व कालीन आदि बनाने का काम करते हैं। कुछ उपभोक्ता वस्तुओं का व्यापार करते हैं और जिनके पास कृषि भूमि हैं वे इस पर खेती करते हैं। बहुत से शिक्षित युवक नौकरी भी करने लगे हैं क्योंकि सरकारी व अर्द्धसरकारी नौकरियों में उनके लिये आरक्षण की भी व्यवस्था है। कुछ लोग ठेकेदारी का भी धन्धा करने लगे हैं।

स्वभाव से भोटिया बड़े साहसी और परिश्रमी होते हैं। ऊँचे पर्वतों पर निवास करते हुये इन्हें बड़े दुर्गम पहाड़ी रास्तों से गुज़रकर व्यापार करना होता है। ये बड़े चतुर और कुशल व्यापारी होते हैं। सहनशील और कर्त्तव्यपरायण होते हैं। जन्म से ही पर्वतों की गोद में खेलते हैं अतः इन्हें पर्वतारोहण का शौक़ होता हैं। विषम परिस्थितियों में घबड़ाते नहीं और अपने श्रम व धैर्य के द्वारा विपरीत स्थितियों को अपने अनुकूल बना लेते हैं।

भोटिया महिलायें पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर काम करती हैं और अधिक परिश्रमी होती हैं। शिल्प-कला में दक्ष होती हैं। ऊनकी कताई-बुनाई करके शाल-गलीचे आदि बनाती हैं और अनेक प्रकार की कलात्मक चीजें बनाती हैं। दुकानों में प्रायः भोटिया नारियाँ ही बेचने का काम करती हैं।

भोटिया का परिवेश अपना अलग होता है। लम्बा कोट, पाजामा व विशेष प्रकार की बनी टोपी पहनते हैं। पुरुष लम्बे बाल रखते और स्त्रियों की भाँति चोंटी बनाते हैं। बहुत से पुरुषों के मुँह पर मूँछ-दाढ़ी नहीं होती और वे नारियों की तरह चोटी बनाये होते हैं-उन्हें दूर से देखकर भ्रम होता है कि वे नर हैं या नारी।

भोटिया नारियाँ ऊँची बाँह वाला कोट और कमर के नीचे कुर्ता पहनती हैं। हाथों में कंगन व माला पहनती हैं, गले से बड़े-बड़े रंग-बिरंगी मूँगों की माला पहनती हैं। रंग-बिरंगे चमकदार वस्त्र पहनने का इन्हें बड़ा शौक़ होता है। इनका शरीर स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट दिखाई देता है।

पर्वतों के ऊपर ये झोपड़ियों और गुफाओं में पहले रहा करते थे किन्तु अब ये अच्छे मकान बनाकर रहते हैं। अन्य आदिवासियों की भाँति भोटिया भी बड़े संगीत-प्रेमी होते

हैं। नृत्य-कला में ये दक्ष होते हैं। हुड़के (एक वाद्य यंत्र) की ताल पर ये झूमझूम कर नाचते-गाते हैं। नृत्य में नर-नारी दोनों भाग लेते हैं। रंग-बंग (परम्परागत युवा केन्द्र) में ये लोग विविध पर्व-त्यौहारों और अवसरों पर नृत्य-संगीत के विशद आयोजन करते हैं। इनके गीतों में इनके जीवन का सजीव चित्रण पाया जाता हैं। ऐसे अवसरों पर मद्य-पान भी होता है।

प्रत्येक भोटिया बस्ती में पहले एक रंग-बंग (युवा केन्द्र) होता था जहाँ रात में अविवाहित युवक-युवतियाँ जमा होते थे। वहाँ माद्य-पान करके नृत्य-संगीत का कार्यक्रम होता था। इन रंग-बंगों मं युवक-युवती अपना जीवन-साथी भी चुनते थे। वहाँ नाच-गान करके अपनी दिन भर की थकान उतारते थे। कुछ युवक-युवती वहाँ रात को सो भी जाते थे। नृत्य-गान और प्रणय के अलावा इन रंग-बंगों में वे जीवन की बहुत सी उपयोगी बातें भी सीखते थे। अपने भावी जीवन-साथी को निकट से देखने-परखने का उन्हें अच्छा अवसर मिलता था।

रंग-बंग में प्रत्येक भोटिया युवक-युवती को जाना अनिवार्य होता था जहाँ उनका भरपूर मनोरंजन होता था। रंग-बंग में ही इनके विवाह हो जाते थे। इतनी अच्छी रंग-बंग प्रथा अब धीरे-धीरे समाप्त हो रही है जिसका कारण शिक्षा और आधुनिक सभ्यता हो सकती है।

पहले जब भोटियों में शिक्षा अधिक नहीं पाई जाती थी तब ये कूप-मण्डूक बने रहते थे। अब इनमें शिक्षा का प्रचार-प्रसार हो रहा है और सरकार द्वारा संचालित विकास की विभिन्न योजनाओं का लाभ इन्हें मिल रहा है। अनेक कल्याणकारी योजनायें भी भोटियों के लिये चलाई जा रही हैं। परिणामस्वरूप इनके जीवन-स्तर में सुधार हुआ है, रहन-सहन का स्तर अच्छा हो रहा है और आर्थिक रूप से इनकी दशा में निरन्तर उन्नंति हो रही है।

भोटिया नर्तक-दल (गारगरा नृत्य की वेशभूषा में)

राजी

यह आदिम जाति हिमालय पर्वत के कुमायूँ मण्डल में अल्मोड़ा और पिथौरगढ़ जिलों के वनों में पाई जाती है। वनों में रहने के कारण इन्हें वनरावत या बनरौता नाम से भी जाना जाता है। इनकी संख्या बहुत कम है। पहले इनकी जनसंख्या कुल दो सौ के लगभग थी जिसमें धीरे-धीरे कमी होती जा रही है। 'बराह संहिता' में इनकी निवास-भूमि अमरवन व चीड़ प्रान्तों के मध्य बताई गई जो इस समय जागेश्वर व तिब्बत के मध्य का भूभाग है। इस क्षेत्र को किरात-मण्डल भी कहते हैं। महाभारत के अनुसार इसी क्षेत्र में अर्जुन और शंकर जी के बीच युद्ध हुआ था जिसे 'किरातार्जुनीयम' के रूप में उल्लिखित किया गया है। कुछ का मत है कि यह कोल वंश के हैं। प्राचीन ग्रन्थों में कोलकिरात का जो वर्णन मिला है वह राजी लोगों के रहन-सहन से मिलता-जुलता है।

कुछ लोक-कथाओं के अनुसार इन्हें कुटपुरनील कपाल वंशी कहते हैं और कुछ राजी अपने को अस्कोर के पाल वंशीय राजा के बड़े भाई के वंशज कहते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार राजा दशरथ द्वारा राम को वनवास दिया गया था उसी प्रकार उनके पूर्वज राजा को उनके पिता द्वारा वनवास दिया गया था और वह अस्कोर छोड़कर यहाँ के वनों में बस गये थे। इस क्षेत्र की बोलियों के विशेषज्ञ डॉ० शोभाराम शर्मा का मत है कि इस क्षेत्र में तिब्बती-बर्मी उप परिवार की बोलियाँ बोलने वाली जातियों और आर्य मूलक भाषा-भाषियों से पूर्व मुण्डा जाति रहती थी जिसके वंशज राजी कहलाते हैं।

राजी मंगोल प्रजाति के बताये जाते हैं। इनका कद छोटा होता है, नाक चिपटी होती है, ओठ मोटे और भद्दे होते हैं। इनके बाल घंघुराले होते हैं और ये पीले पुष्ठ शरीर वाले होते हैं। इनका जीवन पूर्णतया आदिम जातीय है। सभ्यता की मुख्य धारा से ये बड़ी दूर रहते हैं। ये शर्मीले स्वभाव के होते हैं और बाहरी लोगों के पास जाने से कतराते हैं। पहले ये घने वनों के बीच रहते थे और कुछ लोग पेड़ों पर निवास करते थे तथा कन्द-मूल खाकर जीवन-यापन करते थे। अपने द्वारा निर्मित वस्तुओं और शहद आदि को ये रात में गाँव की सीमा के आस-पास रख आते थे। गाँव वाले अपनी आवश्यकता के अनुसार इनकी वस्तुओं को लेकर बदले में अनाज, नमक, मसाले व चीनी आदि उसी स्थान पर रख देते थे जिसे राजी लोग पुनः रात में आकर ले जाते थे। वस्तुओं की अदला-बदली का यह धन्धा ठेकेदारों द्वारा भी किया जाता है। कहा जाता है कि रात में राजी लोग अपनी वस्तुओं को गाँव की सीमा पर रखकर दूर पेड़ की ओट से देखते रहते हैं और जब ठेकेदार उनकी वस्तुओं के बदले में उनके उपययोग की वस्तुयें रख जाता

है तो ठेकेदार के चले जाने के बाद ये उन्हें वहाँ से उठा लेते हैं। इस बदला-बदली में कुछ ठेकेदारों द्वारा इन राजियों का शोषण भी किया जाता है।

अधिकांश राजी आज भी वनों के अन्दर गुफाओं और झोपड़ियों में निवास करते हैं। आज भी इनके शरीर पर एकाध वस्त्र ही पाया जाता है और ये अर्द्धनग्न रहते हैं। पत्थर व तेज़ धातु से बने हथियारों के द्वारा यह पशुओं का शिकार करते हैं और शिकार को भूनकर खा जाते हैं। पहले इनका भोजन मुख्यतः कन्द-मूल, फल, शहद और शिकार होता था किन्तु अब ये लोग अनाज का सेवन भी भोजन में करने लगे हैं।

राजी जनजाति के लोग देवी-देवता पूजते हैं। इनका प्रधान देवता बाघनाथ है। इनका विश्वास है कि इनके देवी-देवता पहाड़ की चोटियों, नदियों, नालों और तालाबों में रहते हैं। बीमार पड़ने पर ये अपने वन-देवता की मनौती करते हैं क्योंकि इनका विश्वास है कि वन-देवता को प्रसन्न करने से रोग दूर होते हैं। अतः ये देवता के नाम से पशुओं की बलि-चढ़ाते हैं और बलि के प्रसाद को अपने समुदाय में बाँटते हैं जिसे बड़ी श्रद्धा और चाव के साथ खाया जाता है।

कर्क-संक्रान्ति और मकर-संक्रान्ति इनके प्रमुख त्यौहार होते हैं। अपने त्यौहारों को ये परम्परागत ढंग से मनाते हैं। त्यौहारों पर ये तरह-तरह के व्यंजन बनाते और खाते हैं। इन अवसरों पर ये नृत्य-गान भी करते हैं और इस प्रकार के आयोजनों में इनका भरपूर मनोरंजन होता है। ऐसे अवसरों पर नर-नारी दोनों बड़े चाव से अपना शृंगार करते हैं। इनकी युवतियाँ वस्त्राभूषणों और पुष्पों से अपने शरीर को आकर्षक ढंग से सजाती हैं। नृत्य-गान और भोजन के पूर्व स्त्री-पुरुष दोनों साथ बैठकर मदिरापान करते हैं। यह मदिरा राजी लोग स्वयं तैयार करते हैं। इन अवसरों पर युवकों-युवतियों के विवाह भी सम्पन्न होते हैं।

विवाह-सम्बन्ध करने में राजी कुछ मर्यादाओं का पालन करते हैं-तीन पीढ़ी तक आपस में विवाह नहीं करते। इनके विवाह-संस्कार परम्परागत ढंग से सम्पन्न होते हैं। प्रेम-विवाह का प्रचलन भी पाया जाता है। अपने गोत्र के अन्दर यह विवाह नहीं करते। एक पुरुष का दोनों बहिनों से विवाह नहीं हो सकता। समाज में केवल एक विवाह की अनुमति है। पुनर्विवाह की अनुमति दी गई है। आंशिक रूप से कहीं-कहीं दहेज-प्रथा भी पाई जाती है। पुरुष का दूसरा विवाह समाज द्वारा मान्य नहीं है। अतः यत्र-तत्र परस्त्रीगमन भी पाया जाता है।

एक समय राजी जंगल के राजा थे। मस्ती का जीवन व्यतीत करते थे। पशु-पक्षियों का शिकार करके अपनी आजीविका चलाते थे और सुख का अनुभव करते थे। वह

राजी (वनरावत) जनजाति के पुरुष एवं नारियाँ

है तो ठेकेदार के चले जाने के बाद ये उन्हें वहाँ से उठा लेते हैं। इस बदला-बदली में कुछ ठेकेदारों द्वारा इन राजियों का शोषण भी किया जाता है।

अधिकांश राजी आज भी वनों के अन्दर गुफाओं और झोपड़ियों में निवास करते हैं। आज भी इनके शरीर पर एकाध वस्त्र ही पाया जाता है और ये अर्द्धनग्न रहते हैं। पत्थर व तेज़ धातु से बने हथियारों के द्वारा यह पशुओं का शिकार करते हैं और शिकार को भूनकर खा जाते हैं। पहले इनका भोजन मुख्यतः कन्द-मूल, फल, शहद और शिकार होता था किन्तु अब ये लोग अनाज का सेवन भी भोजन में करने लगे हैं।

राजी जनजाति के लोग देवी-देवता पूजते हैं। इनका प्रधान देवता बाघनाथ है। इनका विश्वास है कि इनके देवी-देवता पहाड़ की चोटियों, नदियों, नालों और तालाबों में रहते हैं। बीमार पड़ने पर ये अपने वन-देवता की मनौती करते हैं क्योंकि इनका विश्वास है कि वन-देवता को प्रसन्न करने से रोग दूर होते हैं। अतः ये देवता के नाम से पशुओं की बलि-चढ़ाते हैं और बलि के प्रसाद को अपने समुदाय में बाँटते हैं जिसे बड़ी श्रद्धा और चाव के साथ खाया जाता है।

कर्क-संक्रान्ति और मकर-संक्रान्ति इनके प्रमुख त्यौहार होते हैं। अपने त्यौहारों को ये परम्परागत ढंग से मनाते हैं। त्यौहारों पर ये तरह-तरह के व्यंजन बनाते और खाते हैं। इन अवसरों पर ये नृत्य-गान भी करते हैं और इस प्रकार के आयोजनों में इनका भरपूर मनोरंजन होता है। ऐसे अवसरों पर नर-नारी दोनों बड़े चाव से अपना शृंगार करते हैं। इनकी युवतियाँ वस्त्राभूषणों और पुष्पों से अपने शरीर को आकर्षक ढंग से सजाती हैं। नृत्य-गान और भोजन के पूर्व स्त्री-पुरुष दोनों साथ बैठकर मदिरापान करते हैं। यह मदिरा राजी लोग स्वयं तैयार करते हैं। इन अवसरों पर युवकों-युवतियों के विवाह भी सम्पन्न होते हैं।

विवाह-सम्बन्ध करने में राजी कुछ मर्यादाओं का पालन करते हैं-तीन पीढ़ी तक आपस में विवाह नहीं करते। इनके विवाह-संस्कार परम्परागत ढंग से सम्पन्न होते हैं। प्रेम-विवाह का प्रचलन भी पाया जाता है। अपने गोत्र के अन्दर यह विवाह नहीं करते। एक पुरुष का दोनों बहिनों से विवाह नहीं हो सकता। समाज में केवल एक विवाह की अनुमति है। पुनर्विवाह की अनुमति दी गई है। आंशिक रूप से कहीं-कहीं दहेज-प्रथा भी पाई जाती है। पुरुष का दूसरा विवाह समाज द्वारा मान्य नहीं है। अतः यत्र-तत्र परस्त्रीगमन भी पाया जाता है।

एक समय राजी जंगल के राजा थे। मस्ती का जीवन व्यतीत करते थे। पशु-पक्षियों का शिकार करके अपनी आजीविका चलाते थे और सुख का अनुभव करते थे। वह

राजी (वनरावत) जनजाति के पुरुष एवं नारियाँ

आदिम जातीय जीवन अब इनसे छिनता जा रहा है। रोज़ी-रोटी की तलाश में राजी जनजाति वनों को छोड़ शहरों और बस्तियों में जाकर मज़दूरी करने को बाध्य हो रहे हैं। स्वतंत्रता के पूर्व इन्हें अपने वनों से बाहर का कोई ज्ञान नहीं होता था। ये वनों में एकान्त-जीवन के आदी थे। धीरे-धीरे अब इनकी लज्जाशीलता में कमी आई है। अब यह विकास एवं कल्याणकारी योजनाओं में कार्यरत कर्मचारियों से बात करने लगे हैं। परिणामस्वरूप इनकी आर्थिक स्थिति में सुधार आने लगे है। सरकार द्वारा इनकी सामाजिक शैक्षिक और आर्थिक उन्नति हेतु अनेक योजनायें आरम्भ की गई हैं। इनकी रक्षा हेतु आवासीय विद्यालय भी खोले गये हैं। इनकी आवास-समस्या के समाधान हेतु इनके लिये मकान बनवाये गये हैं। बसने के लिये भूमि दी गई है तथा इनकी जीविका हेतु लघु उद्योग लगाने की सुविधायें प्रदान की गई हैं।

जौनसारी

जौनसारी शब्द का अर्थ होता है- जौनसार क्षेत्र का निवासी। देहरादून (उत्तरांचल) जिले के उत्तरी भाग में यह क्षेत्र यमुना नदी के पार स्थित है जिसे जौनसार-बावर कहते हैं। इस क्षेत्र में कालसी व चकराता दो ब्लाक आते हैं। जौनसार-बावर क्षेत्र के निवासियों को ही जौनसारी कहा जाता है। इस जनजाति के लोग पड़ोस के टेहरी गढ़वाल जिले के जौनपुर ब्लाक और उत्तरकाशी जिले के नौगाँव व पुरौलिया ब्लाक में भी पाये जाते हैं तथापि उन्हें अनुसूचित जनजाति की सुविधायें सरकार से प्राप्त नहीं हैं क्योंकि देहरादून जिले के जौनसारियों को ही अनुसूचित जनजाति घोषित किया गया है। यह जनजाति अपनी पृथक संस्कृति, कला, रीति-रिवाज़ों और सामाजिक परम्पराओं के लिये प्रसिद्ध है जो अपनी विशिष्ट भौगोलिक, साामाजिक, सांस्कृतिक तथा जनजातीय विशेषतायें रखती हैं। ये लोग गौर वर्ण के होते हैं। नाक लम्बी व उठी हुई होती है। शरीर गठा और छरहरा होता है। मुखाकृति देखने में सुन्दर होती है। कुछ लोगों का कहना है कि इनके पूर्वज कश्मीर से आकर यहाँ बस गये। एक मत के अनुसार इनके पूर्वज हिन्दूकुश से आये थे।

जौनसार सम्भवतः संस्कृत शब्द 'यवनसार' से बना है। ये अपने का खसों का वशंज कहते हैं। जौनसारी अपने का महाभारत के पाण्डवों का वंशज भी मानते हैं। खस और पाण्डव दोनों ही शिव के पुजारी थे। इनके मुख्य त्यौहार बिस्सू, पाचोई और जागरा हैं जिनमें ये खूब नाचते-गाते हैं और शिव की पूजा करते हैं। इस जनजाति को जातीय आधार पर मुख्यतः तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :- खस, कोल्टा व बाजी। खस प्रजाति के लोग ब्राह्मण व राजपूत होते हैं जिन्हें खस ब्राह्मण व खस राजपूत के नाम से जाना जाता है ये उच्च वर्ण के होते हैं। इनकी आर्थिक स्थिति अच्छी होती है अतः इन्हें सम्पन्न वर्ग माना जाता है। कोल्टा लोगों के पास भूमि नहीं होती या नाम-मात्र की भूमि होती है। ये खसों की सेवा में लगे रहते हैं और पूर्ण रूप से उनके अधीन काम करते हैं, ये अपने खस मालिकों के घरों और खेतों में दासों की भाँति काम करते हैं। इनका खस मालिकों द्वारा हर प्रकार से शोषण किया जाता है। बाजी (बाजगी) अधिकांशतः शिल्पी होते हैं। सिलाई, बर्तन बनाने, लकड़ी व लोहे आदि के सामान बनाने का काम करते हैं। कोल्टों की अपेक्षा बाजी जातियों की दशा कुछ बेहतर होती है किन्तु ये भी खस मालिकों के आश्रित होते हैं। कोल्टा अस्पृश्य माने जाते हैं किन्तु बाजी शिल्पकारों से छुआछूत उस प्रकार की नहीं मानी जाती है।

गणतंत्र दिवस समारोह के अवसर पर अपने निवास के प्रांगण में
प्रधानमंत्री पं० जवाहर लाल नेहरू जौनसारी नर्तक दल के साथ

जौनसारियों में बहुपति और बहुपत्नी दोनों प्रथा पाई जाती है। इस प्रथा का सम्बन्ध द्रोपदी व पाण्डवों से जाना जाता है। महाभारत के पाण्डव पाँच भाई थे और द्रोपदी पाँचों पाण्डवों की सहपत्नी थी। इस प्रथा के अनुसार इनके यहाँ केवल बड़े भाई का विवाह होता है और उसकी पत्नी सभी भाइयों की सहपत्नी होती है। यदि गृहस्थी का काम अधिक हुआ तो छोटे भाई को विवाह की अनुमति दे दी जाती है। किन्तु उसकी पत्नी भी सभी भाइयों की सहपत्नी होती है। इस प्रकार जौनसारियों में बहुपत्नी एवं बहुपति प्रथा साथ-साथ विद्यमान है। कहा जाता है कि कृषक व वनवासी होने के कारण जौनसारी स्त्रियाँ अपनी सुरक्षा हेतु अपने साथ अपने देवरों को भी रखती हैं। जो भी कारण हो इनमें बहुपति व बहुपत्नी प्रथा अब भी प्रचलित हैं। इनके यहाँ पर्दा-प्रथा नहीं है। अतः मुक्त यौन-सम्बन्ध को इनके यहाँ बुरा नहीं मानते। यौन-सम्बन्ध के मानक भी ससुराल और पीहर में अलग-अलग हैं। पीहर में मुक्त यौन-सम्बन्ध की अनुमति है जबकि ससुराल में नहीं है। परिवार के सभी सदस्य मिल-जुलकर रहते हैं और घर के काम में सभी सहयोग से काम करते हैं। गाँव के मुखिया, सयाना और पण्डित को पूरा सम्मान दिया जाता है तथा उनके निर्देशों का पालन गाँव वालों द्वारा किया जाता है।

प्रत्येक गाँव में एक सार्वजनिक स्थान, आँगन होता है जहाँ गाँव के निवासी एकत्र होकर मुक्त भाव से नृत्य-गान करते हैं। ढोल बजाकर अपने देवता को जगाते हैं। इनका परम देव महाशू होता है जिसका मन्दिर गाँव के मध्य पाया जाता है। स्त्री-पुरुष मिलकर साथ नाचते-गाते हैं। ये अनेक प्रकार के गीत गाते हैं। इनके गीतों में इनके सरल जीवन, संस्कृति, रीति-रिवाजों की पूरी झलक मिलती है। कला और साहित्य भी इनके संगीत से प्रकट होता है। इनके प्रमुख नृत्य घुमसू, जंगबाजी, झेंता, घोड़ों, घीई, घुण्डयारासो व रासी आदि हैं। जौनसारी नर्तकियों द्वारा थाली नृत्य अति प्रसिद्ध है। यह भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न नृत्य करते हैं। प्रत्येक नृत्य के साथ संगीत और रस में परिवर्तन होता है। नृत्यों में नर-नारी कई समूहों में मिलकर नाचते हैं। माघ का महीना इनका खुशियों से पूर्ण होता है। इस महीने नृत्य-गान के अलावा देवता पर पालतू भेड़-बकरे की बलि इतनी चढ़ाते हैं कि गाँव की नालियाँ रक्त से लाल रंग जाती है। इस माह नवयुवक व युवतियाँ अधिकांश समय आमोद-प्रमोद में बिताते हैं तथा प्रेम-क्रियाओं में लगाते हैं।

बहुपति एवं बहुपत्नी-प्रथा के अतिरिक्त जौनसारी अनेक अन्धविश्वासों और रूढ़ियों से ग्रसित होते हैं। ये लोग भूत-प्रेत, झाड़-फूँक, जादू-टोना, जन्तर-मन्तर, गण्डे-ताबीजों आदि में विश्वास करते हैं। रोग दूर करने हेतु झाड़-फूँक कराते हैं। स्वास्थ्य-शिक्षा की इनमें बड़ी कमी पाई जाती है और स्वच्छता का पूरा ध्यान रहन-सहन में नहीं दिया जाता है। परिणामस्वरूप अनेक रोगों से ये ग्रस्त भी होते हैं। कुपोषण के कारण इनमें तपेदिक

भी पाया जाता है और यौन-रोग भी इनमें पाये जाते हैं। शिक्षा का प्रचार इनमें जहाँ-जहाँ है वहाँ अन्धविश्वास कम हो रहे हैं और शिक्षित व्यक्ति रूढ़िवादी भावनाओं से हट रहे हैं। झाड़-फूँक और जड़ी-बूटियों के स्थान पर बाज़ारू दवाओं का प्रयोग करने लगे हैं। पढ़े-लिखे लोगों के रहन-सहन में भी आधुनिक वस्त्राभूषणों का प्रयोग करने लगे हैं।

जौनसारी कृषि या कृषि पर आश्रित शिल्प-उद्योगों पर निर्भर रहते हैं। जिनके खेती नहीं है वे जमींदारों के खेतों में श्रमिक का काम करते हैं और शिल्पकार लोग खेती के औजार, बर्तन, आभूषण व लकड़ी आदि का सामान बनाकर अपनी आजीविका चलाते हैं। इस प्रकार जौनसारी कृषक, व्यापारी, शिल्पी व श्रमिक वर्गों में विभक्त हैं। शिल्पी व श्रमिक वर्ग अधिकांशतः गरीब होते हैं। इनके शिल्पकार स्थानीय तौर पर उपलब्ध पत्थर, स्लेट व लकड़ी से मन्दिरों और मकानों का निर्माण करते हैं। देवदार के पटरों से मकान की छतें डालते हैं। मन्दिर के प्रवेश-द्वार पर विविध प्रकार की आकर्षक चित्रकारी करते हैं जिसमें देवों का अलंकरण, लोकजीवन, पशु-पक्षी, शिकार-दृश्य, घुड़सवारी, यात्रा व गोचरण आदि का चित्रण पाया जाता है। इनके मन्दिर एक प्रकार के यहाँ की लोक-कला के संग्रहालय होते हैं। इसी प्रकार शादी-विवाह के अवसरों पर ये अपने घरों को खूब सजाते हैं। हाथी, घोड़े, सैनिक, घुड़सवार, पशु-पक्षी व कलश आदि के चित्रों से सजे इनके पात्र बड़े सुन्दर और रमणीक दिखाई देते हैं।

जौनसारी मदिरा-पान करते हैं तथा बीड़ी-सिगरेट के शौकीन होते हैं। नर-नारी दोनों मदिरा-पान करते और बीड़ी-सिगरेट पीते हैं। अपनी मदिरा ये स्वयं भी अपने घरों में तैयार करते हैं जो स्वास्थ्य के लिये अधिक हानिकारक नहीं होती। मदिरा-पान पर ये अलंकरण करते हैं। शिक्षा के प्रसार से इनके मदिरा-पान में कुछ कमी आई हैं और इनकी जीवन-शैली में परिवर्तन हो रहा है। आधुनिक सुख-सुविधायें इनके घरों में पहुँच रही हैं और बाहर के समाज से मिलने-जुलने में ये सुख का अनुभव करने लगे हैं जबकि ये लोग पहले यमुना नदी पार कर जौनसार-बावर क्षेत्र से बाहर आना अपनी संस्कृति और रीति के विरुद्ध मानते थे। तथापि इनकी मौज-मस्ती भी आधुनिक सभ्यता के साथ-साथ समाप्त हो रही है और इनकी मौलिक संस्कृति पर शनैः शनैः पर्दा पड़ता जा रहा है। देखना है कि ये अपनी संस्कृति को कब-तक बचाकर रख सकेंगे ?

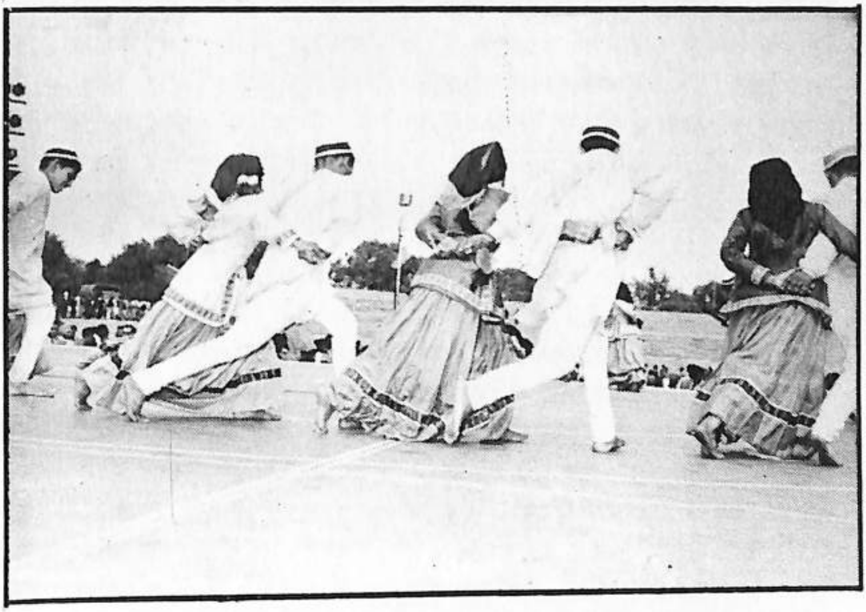

वृत्ताकार (घेरे में) नाच (जौनसारी नर्तकों द्वारा)

जौनसारियों के रीति-रिवाज़

जौनसारी आदिम जाति उत्तरांचल के देहरादून जिले में मुख्यतया पाई जाती है जबकि कुछ संख्या में यह देहरादून के पड़ोसी जिलों उत्तरकाशी और टेहरी गढ़वाल में भी पाई जाती है। अनुमान है कि देहरादून जिले में इसकी जनसंख्या 77,000 के लगभग है और उत्तरकाशी एवं टेहरी गढ़वाल जिलों में इसकी जनसंख्या क्रमशः 10,000 और 15,000 के लगभग बताई जाती है। जौनसारी नाम की उत्पत्ति जौनसार परगना (देहरादून) से है न कि किसी जाति से। देहरादून जिले में जौनसार और बावर दो परगने हैं जिनमें यह आदिम जाति पाई जाती है। इन दोनों परगनों में 99 प्रतिशत जनसंख्या जौनसारी आदिम जाति की है और बाहर के जो लोग इस क्षेत्र में हैं वे कुछ वर्ष पूर्व व्यापार की दृष्टि से यहाँ आकर बस गये हैं। जौनसार-बावर परगनों से मिला हुआ टेहरी गढ़वाल जिले का जौनपुर परगना और उत्तरकाशी जिले के रवाईं तथा नौगाँव व पुरुलिया परगनों तक यह आदिम जाति फैली है।

इतिहास

जौनसारी आदिम जाति का निवास-क्षेत्र पर्वतीय है और यह तीनों जिले हिमालय पर्वत की गोद में बसे हुए हैं। अन्य पर्वतीय क्षेत्रों की भाँति यहाँ की जलवायु ठंडी और बड़ी स्वास्थ्यप्रद है। जौनसारी आदिम जाति के लोग अधिकतर गौर-वर्ण के होते हैं। इनका कद लम्बा होता है तथा शरीर इकहरा और फुर्तीला होता है। इनकी मुखाकृति बड़ी आकर्षक होती है। कहा जाता है कि इनके पूर्वज भूमध्य सागर के आस-पास रहते थे और वहाँ से ये लोग उत्तर-पश्चिमी भारत में आकर बस गये। तत्पश्चात इनके साथ 'मंगोल' और 'डोम' जाति का मिश्रण हुआ। इनका इतिहास कुछ भी हो- यहाँ के निवासी बड़े सुन्दर और सभ्य पाये जाते हैं।

इस आदिम-जाति में बहुपति और बहुपत्नी की 'पाँचाल-प्रथा' प्रचलित है और इस आधार पर कुछ विद्वानों का कहना है कि यह आदिम जाति पांडवों के वंशज हैं। जैसा कि हम जानते हैं महाभारत काल में पाँड़व पाँच भाई थे और उनकी सहपत्नी द्रोपदी थी। पाँचों भाई द्रोपदी के सहपति थे। जौनसारी लोग भी यही कहते हैं कि पांडव उनके पूर्वज थे। अब भी इस आदिम जाति के परिवारों में केवल बड़े भाई का विवाह होता है और उसकी पत्नी सब भाइयों की सहपत्नी मानी जाती है।

इस आदिम जाति में भी हिन्दुओं की भाँति जातियाँ है जिनमें चार जातियाँ मुख्य हैं :

(1) खस ब्राह्मण

(2) खस राजपूत

(3) शिल्प-जीवी पिछड़ी जातियाँ जैसे दर्जी, लुहार, सुनार, बाजगी, बाधी, औड़े आदि।

(4) अछूत जातियाँ जो खस राजपूतों के घरों और खेतों में काम करते हैं और पूर्णतः उन्हीं पर आश्रित रहते हैं। इनमें आर्जी, डोम, कोई, कोल्टा, मोची, चमार आदि मुख्य जातियाँ हैं।

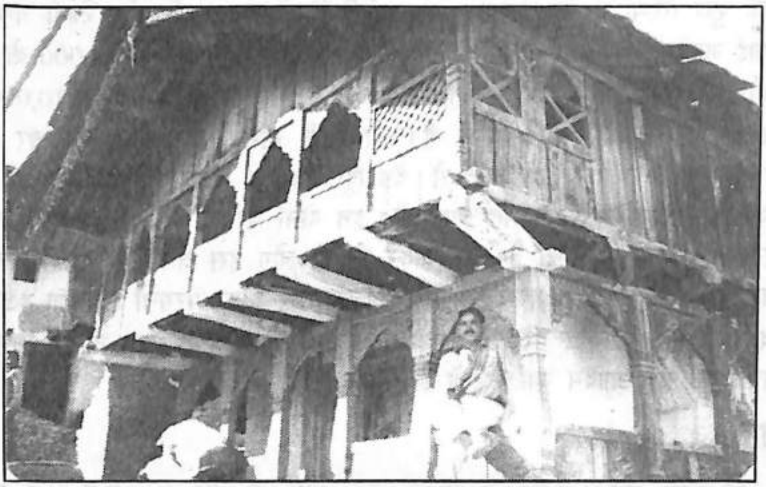

एक जौनसारी खस (ज़मीदार) अपने सुन्दर काष्ठ-भवन में

खस ब्राह्मण और खस राजपूत इस आदिम जाति की प्रमुख जातियाँ हैं और इन्हीं की जनसंख्या इस क्षेत्र में अधिकतर पाई जाती है। खस ब्राह्मण और खस राजपूत अन्य स्थानों के ब्राह्मण और राजपूत जातियों से भिन्न है। इनका सम्बन्ध बाहर के ब्राह्मणों और राजपूतों से बिल्कुल नहीं हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि ये खस जातियाँ पहले हिन्दूकुश पर्वत के भागों में रहती थीं और वहाँ से ये लोग चलकर (देहरादून) जिले में आकर बस गये। 'खस' शब्द की उत्पत्ति हिन्दूकुश के कुश शब्द से बताते है। यहाँ के खस ब्राह्मण और राजपूतों मे बहुत कम अन्तर होता है। इन लोगों के आपस में विवाह-सम्बंध भी हो जाते हैं ये दोनों जातियाँ यहाँ की भूमि की मालिक हैं और अन्य जातियों इन्हीं दोनों जातियों पर सामाजिक और आर्थिक रूप से आश्रित रहती हैं।

पिछड़ी जातियों की जनसंख्या इस क्षेत्र में बड़ी थोड़ी है और ये लोग शिल्प एवं कारीगरी के द्वारा अपना जीवकोपार्जन करते हैं। निम्न जातियों में 'कोल्टा' जाति सबसे अधिक संख्या में पाई जाती है जिसे किसी स्थान पर 'कोई' और कहीं-कहीं पर उसे 'कोली' नाम से भी पुकारा जाता है। इस जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कतिपय विद्वानों के मतानुसार 'कोल्टा' आदिम जाति द्रविड़ों के वंशज हैं। आर्यों द्वारा गंगा-सिन्धु मैदान के अतिक्रमण के फलस्वरूप जिन द्रविड़ों ने उत्तर स्थित

पर्वत-प्रदेशों में भागकर शरण ली वे कालान्तर में कोल्टा कहलाए। एक अन्य मत के अनुसार 'कोल्टा' 'आग्नेय-जाति' के वंशज है। कुछ लोगों का कहना है कि 'कोली' और 'कोल्टा' आदिम जाति प्राचीन 'कोल' संस्कृत से सम्बन्धित है जिन्हें शक्तिशाली आर्यों के दबाव के कारण गंगा-यमुना के मैदानों से इस क्षेत्र में आना पड़ा। यहाँ भी बाद में दूसरी शक्तिशाली जातियों ने प्रवेश कर उन्हें पराजित कर अपना दास बना लिया। एक मत के अनुसार कोलियों को ही कोल्टा कहा जाता है। इस क्षेत्र के कुछ निवासियों का मत है कि डोम और कोल्टा एक हैं। एक अन्य मत के अनुसार डोम, बाजगी, बढ़ई, चमार, लोहार और कोल्टा सभी पहले डोम कहलाते थे जिन्हें अपने पेशे के अनुसार भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। प्रारम्भ में यह दासता आर्थिक और राजनीतिक रही होगी किन्तु कालान्तर से आर्थिक शोषण और वर्ण-व्यवस्था के कारण उनको अन्त्यज (अछूत) बना दिया गया। कोल्टा तथा इस क्षेत्र के अन्य हरिजनों की स्थिति आज भी अछूत तथा दास के मध्य की एक विचित्र स्थिति है।

पांचाल प्रथा

इस क्षेत्र में सभी जौनसारी जातियों में 'पाँचाली' प्रथा के अनुसार बहुपति और बहुपत्नी-प्रथा अब भी प्रचलित है। ऊपर कहा जा चुका है कि जौनसारी लोग पांडवों को अपना पूर्वज कहते हैं। जिस प्रकार द्रौपदी पाँचों पाँडव भाईयों की सहपत्नी थी उसी प्रकार जौनसारी परिवारों में केवल बड़े भाई का विवाह किया जाता है और उसकी पत्नी सभी भाईयों की सहपत्नी मानी जाती है। यदि उस परिवार में घर और बाहर (खेत) का काम अधिक हुआ तो बड़ा भाई एक से अधिक विवाह भी करता है। इस प्रकार इस आदिम जाति में बहुपत्नी प्रथा भी पाई जाती है। किन्तु बड़े भाई की जितनी पत्नियाँ होंगी वे सभी उसके छोटे भाईयों की सहपत्नियाँ होंगी। अतः इस आदिम जाति में बहुपति और बहुपत्नी दोनों प्रथायें एक साथ प्रचलित है। यह प्रथा इन लोगों में प्रारम्भ से चली आ रही है और अब भी इस प्रथा में जौनसारी लोग कोई ऐसा दोष नहीं देखते जिसके कारण इस प्राचीन प्रथा को त्याग दिया जाये। इस प्रथा के पक्ष और विपक्ष में बहुत सी बातें कही जा सकती हैं। पक्ष में धार्मिक और ऐतिहासिक पहलू यह है कि इनके पूर्वज पांडवों ने इस प्रथा को प्रारम्भ किया। इनके धर्म में भी इस प्रथा की मान्यता है। इन लोगों का कहना है कि इस प्रथा के अनुसार इनकी जनसंख्या नियंत्रित रहती है। पर्वतीय क्षेत्र होने के कारण जौनसारी लोगों की मुख्य-जीविका खेती है और यदि जनसंख्या बढ़ने दी गई तो एक बड़ी जनसंख्या का भरण-पोषण सीमित भूमि में नहीं हो सकता। कुछ वर्ष पहले जौनसारी जाति के लोग बाहर जाना अपने धर्म के विरुद्ध समझते थे। यमुना नदी पार गैर-जौनसारी

क्षेत्र में जाना ये धर्म-निषिद्ध मानते थे। बाहरी लोग भी इस क्षेत्र में बहुत कम जाते थे और जो लोग वहाँ घूमने और सैर करने के लिए जाते, वह भी कुछ दिनों बाद वापस चले जाते थे। यही कारण है कि अब भी इस क्षेत्र में जौनसारी जातियों के अतिरिक्त बाहर से आकर बसे हुए लोगों की संख्या नगण्य है। इस प्रथा के पक्ष में यह भी कहा जा सकता है कि परिवार के सदस्यों में मेल रहता है और वह अपने को एक इकाई समझते हैं। सहपत्नी का यह कर्त्तव्य समझा जाता था कि वह सभी भाईयों में मेल रखे। सहपत्नियों के बच्चे सभी भाईयों की सह-सँतान समझी जाती है और यह आशा की जाती है कि वे आपस में प्रेम से रहेंगे। यह सह-बच्चे एक या एक से अधिक पिताओं की संतान हो सकते हैं जोकि पूछने पर यह सबसे बड़े पिता को अपना पिता बताते हैं किन्तु आगे पूछने पर इनके द्वारा बताया जाता है कि इनके कितने पिता हैं। इस प्रकार इस प्रथा की अच्छी बातें यह कही जा सकती हैं कि इसके द्वारा खेती की भूमि के अधिक टुकड़े नहीं हो पाते, परिवार एक इकाई के रूप में चलता रहता है और जनसंख्या अधिक बढ़ने नहीं पाती। यही कारण है कि जौनसार-बावर की आदिम जातियों की जनसंख्या में कोई विशेष वृद्धि नहीं हो पाई है।

जौनसारी सुन्दरियाँ (पीछे खड़े हैं- जौनसारी पुरुष)

इस प्रथा के विपक्ष में जो मत व्यक्त किये गये हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं:- बहुपति और बहुपत्नी प्रथा के अन्तर्गत सहपत्नी को अपने अनेक पतियों के साथ सहवास और संभोग करना होता है। ये स्त्रियाँ जब अपने मायके अर्थात् माँ-बाप के घर जाती हैं तो वहाँ पर उन्हें यौन-स्वतंत्रता रहती है। अपने माँ-बाप के यहाँ ये स्त्रियाँ अन्य

पुरुषों से भी प्रेम और यौन-सम्बन्ध रख सकती हैं किन्तु अपने पति के घर-पर ये स्त्रियाँ केवल अपने पतियों से यौन-सम्बन्ध रखेंगी। इसी प्रकार अविवाहित स्त्रियाँ और कुमारी वालिकाओं को भी यौन-स्वतंत्रता मिली हुई है। इस प्रथा का सबसे घातक परिणाम-यौन-रोग है। बताया जाता है। कि जौनसारी आदिम जाति के 66 प्रतिशत व्यक्तियों में यौन-रोग पाया जाता है। इसके उपचार के लिए इस क्षेत्र में अनेक यौन-चिकित्सालय होने चाहिए और यहाँ के लोगों को यौन-शिक्षा दी जानी चाहिए। उत्तर प्रदेश सरकार और भारतीय रेड क्रास सोसाइटी द्वारा कुछ चिकित्सा-केन्द्र यहाँ काम कर रहे हैं किन्तु यौन-रोग की व्यापकता को देखते हुए इस क्षेत्र में और कई यौन-चिकित्सालय खोले जाने चाहिए। विद्यालयों और प्रौढ़-शिक्षा द्वारा यहाँ के निवासियों में यौन-शिक्षा का प्रचार बड़ा आवश्यक है। यदि इस प्रथा द्वारा उत्पन्न यौन-रोगों के भयंकर परिणामों से इन्हें शिक्षित किया जा सके तो कदाचित ये लोग स्वयं यौन-रोग से बचने के लिए अपनी प्रथाओं में सुधार करने की सोचेंगे।

एक समय था जब कि इस जाति में शिक्षा की बड़ी कमी पाई जाती थी किन्तु अब वह स्थिति नहीं है। जिला परिषद व सरकार द्वारा स्थान-स्थान पर विद्यालय खोले गये है जहाँ इस जाति के बच्चे शिक्षा प्राप्त करने लगे हैं। सरकारी नौकरियों में भी इनके कुछ व्यक्ति आने लगे हैं। जैसे-जैसे इनमें शिक्षा का प्रसार हुआ है, शिक्षित व्यक्तियों में बहुपति और बहुपत्नी प्रथा की कमी पाई गई है। शिक्षित जौनसारी व्यक्ति इस प्रथा को अब बहुत पसन्द नहीं करते। वे भी अब एक पति और पत्नी-प्रथा को ही अच्छा समझते हैं। इस प्रकार शिक्षित जौनसारी व्यक्ति अब नई प्रथा को आरम्भ कर रहे हैं, फिर भी अधिकांश जौनसारियों में बहुपति और बहुपत्नी प्रथा प्रचलित है। हो सकता है कि इनके पूर्वजों ने जब यह प्रथा आरम्भ की तब उनके पास बहुत अधिक भूमि रही होगी और काम करने के लिए बहुत नौकर-चाकर रहे होंगे। पत्नियाँ घर के अन्दर रानियों की तरह रहती होंगी और उनको कोई विशेष परिश्रम घर के काम-काज के लिए नहीं करना पड़ता होगा। किन्तु आज की स्थिति इसके विपरीत है। इनकी सभी स्त्रियों को घर का पूरी काम करना होता है। यदि किसी स्त्री के चार-पाँच पति हुए और उसकी सहायता के लिए कोई और सहपत्नी नहीं हुई तो उसके लिए सारे घर को सम्भालना बड़ा दूभर कार्य हो जाता है। यही नहीं, घर के काम-काज के साथ-साथ उसे खेतों में भी कुछ काम करना होता है और इसका परिणाम उसके स्वास्थ्य पर बुरा पड़ता है। इतना सब करते हुए भी स्त्री की सबसे बड़ी समस्या यह रहती है कि वह अपने सभी पतियों को समान रूप से कैसे प्रसन्न रखे? यह स्वभाविक है कि उसके सभी पति उसे समान रूप से प्रेम नहीं कर सकते तथा वह अपने सभी पतियों को पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं कर सकती। कभी-कभी इन बातों से भाईयों में आपस में झगड़ा भी होता है और उस समय बेचारी स्त्री की अवस्था बड़ी

दयनीय होती है। बड़े भाई को इस प्रकार की लड़ाई में बताना होता है कि उनकी सहपत्नी किस समय किस पति के साथ सहवास करेगी। इस प्रकार के वातावरण से परिवार में अशान्ति का एक वातावरण व्याप्त होता जाता है। यदि घर में एक से अधिक पत्नियाँ हुईं तो घर के काम-काज में कुछ सहायता अवश्य मिल जाती है किन्तु वे एक-दूसरे से ईर्ष्या, द्वेष तथा प्रतिस्पर्धा भी करती है। हर एक सहपत्नी का सदैव यह प्रयत्न रहता है कि वह अपने पतियों का सबसे अधिक प्रेम प्राप्त करे। इसके साथ-साथ यह भी होता है कि परिवार के अन्दर प्रेम-विभाजन हो जाता है। कुछ पति एक पत्नी से अधिक प्रेम और यौन-सम्बन्ध रखते हैं और दूसरी सहपत्नी से कम। जब जौनसारी स्त्रियाँ अपने ससुराल के इस वातावरण से ऊब जाती हैं तो वे अपने माँ-बाप के घर चली जाती हैं और वहाँ पहँचुकर वे बड़े चैन की साँस लेती हैं। वहाँ उन्हें यौन-स्वतंत्रता भी होती है। कुछ लोग इस प्रथा को भले ही अच्छा न समझते हों किन्तु बेचारी जौनसारी स्त्रियों को मायके जाकर बड़ी राहत मिलती है जो इस प्रकार के वातावरण में कदाचित आवश्यक प्रतीत होता है। यदि वह स्त्री दोबारा अपनी ससुराल नहीं जाना चाहती तो ससुराल में उसके पिता द्वारा संदेश भेजा जाता है कि वह वापस वहाँ नहीं जायेगी। उसके पश्चात् उसे स्वच्छंदता रहती है कि वह अपना पुनर्विवाह कर ले। ससुराल वाले अपने आभूषणों की माँग कर सकते हैं जिन्हें लेकर वह मायके आती है और दूसरा विवाह होने पर उन आभूषणों को वह अपने पहले ससुराल वालों को वापिस भी कर देती है। पुनर्विवाह के साथ बच्चे माँ के साथ जाते हैं। यदि बच्चे काफी बड़े हुए तो वह माँ के साथ नहीं भी जाते और अपने पिता के साथ रह जाते हैं। पुनर्विवाह हो जाने पर हो सकता है कि वह स्त्री दूसरी ससुराल में भी सुखी न रहे। अतएव वह मायके आकर तीसरा विवाह कर सकती है। इस प्रकार इस आदिम जाति में पुनर्विवाह करने में कोई रोक नहीं है बल्कि जिस स्त्री के जितने अधिक विवाह होते हैं उसको उतना ही अधिक मूल्यवान समझा जाता है और जितने अधिक बच्चे किसी स्त्री से उत्पन्न होते हैं पुनर्विवाह में उस स्त्री का मूल्य उतना अधिक बढ़ जाता है। इस क्षेत्र के लोग अपने को बड़ा भाग्यशाली समझते हैं यदि विवाह में उन्हें ऐसी स्त्री मिले जिसके कई बच्चे हों और उसके कई विवाह हो चुके हों। नैतिकता की दृष्टि से कुछ लोग इस प्रथा में दोष निकाल सकते हैं। किन्तु मेरी समझ से इस प्रथा के अन्तर्गत कुछ उपयोगिता का महत्त्व छिपा हुआ है। पहला महत्त्व यह है कि इस क्षेत्र में यौन-रोग बहुत पाया जाता है जिसके कारण अधिक बच्चे उत्पन्न नहीं होते। अतएव यदि किसी स्त्री के अधिक बच्चे हैं तो उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस स्त्री को यौन-रोग नहीं है। दूसरे यदि किसी स्त्री के कई विवाह हुए हैं तो उसका यह अर्थ निकलता है कि वह कई घरों को सम्भाल चुकी है, अनेक पतियों के साथ रह चुकी है अतएव वह अवश्य ही एक कुशल और अनुभवी गृहणी सिद्ध होगी। यही कारण हो

(थाली - नृत्य) जौनसारी नर्तकी द्वारा

सकता है कि यहाँ के लोग इस प्रकार की स्त्रियों के लिए अधिक से अधिक मूल्य देने को तैयार रहते हैं।

यह प्राचीन प्रथा एक दिन में समाप्त नहीं की जा सकती और इसे यह कहकर भी समाप्त नहीं कर सकते कि यह प्रथा अनैतिक और त्याग देने योग्य है। मैं समझता हूँ कि पुरानी पीढ़ी में तो प्रथा चलती रहेगी। जो नयी पीढ़ी है उसे शिक्षित करना होगा और यौन-शिक्षा भी उन्हें देनी होगी। शिक्षा प्राप्त करने के बाद इस आदिम-जाति के शिक्षित युवक और युवतियाँ स्वयं ही भविष्य में इस प्रथा को समाप्त कर देने की योजना बनायेंगे और एक नयी प्रथा प्रारम्भ करेंगे।

आर्थिक-विवशता की पराकाष्ठा

इस आदिम जाति में कोल्टाओं की स्थिति बड़ी दयनीय है। ये लोग अछूत समझे जाते हैं और खस ब्राह्मण एवं खस राजपूत परिवारों में इन लोगों को दास के रूप में काम करना पड़ता है। 'कोल्टा' शब्द अब अपमानजनक समझा जाने लगा है अतएव कोल्टा अपने को 'कोली' और 'डोम' आदि अन्य नामों से पुकारने लगे हैं। इन लोगों की दासता का ऐतिहासिक और राजनीतिक कारण कुछ भी रहा हो किन्तु यह एक गम्भीर चिन्ता का विषय है कि यहाँ कोल्टा अब भी उसी प्रकार का जीवन व्यतीत कर रहे है जो पुराने जमाने में खरीदे हुए गुलामों का होता था। इन कोल्टाओं के पास या तो कोई भूमि नहीं होती या बहुत कम होती है। कुछ दिन पहले इस क्षेत्र में दस्तूरलअमल द्वारा भूमि-व्यवस्था की जाती थी जिसके अन्तर्गत कोल्टाओं को भूमि का अधिकार नहीं दिया गया था। उस कानून के अधीन केवल खस ब्राह्मण और खस राजपूत ही भूमि के स्वामी हो सकते थे और कोल्टाओं को उनके यहाँ नौकरी करनी होती थी। अब भी कोल्टा लोगों को अपने मालिकों (खस ब्राह्मण और खस राजपूत) के घर के बाहर झोपड़ी में रहना होता है और अपने मालिकों के खेतों में काम करना होता है। ये कोल्टा तीन प्रकार की श्रेणियों में विभक्त हैं:-

(1) ***खण्डित कोल्टा*** :- इन्हें केवल खस ब्राह्मण और खस राजपूत मालिकों के यहाँ काम करना होता है। यह अपने मालिकों के घरों और खेतों में उनके लिए पूरे समय काम करते हैं तथा अपने परिवार के सभी सदस्यों के साथ अपने मालिकों की रात-दिन सेवा करते हैं।

(2) ***मण्डित कोल्टा*** :- इन्हें अपने साहूकारों के यहाँ ऋण के मूल पर या ब्याज के स्थान पर काम करना होता है। इनसे ब्याज की बड़ी ऊँची दरें वसूल की जाती हैं जो 25 प्रतिशत से 75 प्रतिशत तक होती है। यही नहीं, ऋण लेते समय इन्हें ऋण का केवल 94 प्रतिशत ही मिलता है और 6 प्रतिशत साहूकार गाँठ की खुलवाई के नाम पर नहीं

देता। अधिकतर मामलों में ऋण का लेन-देन बिना लिखा-पढ़ी पर होता है। चतुर साहूकार मूल से कई गुना अधिक रक़म इन लोगों से वसूल करते हैं। बल्कि वास्तविकता यह है कि बेचारे कोल्टा कभी मूल का भुगतान नहीं कर पाते और आजीवन ये ब्याज के स्थान पर साहूकारों के यहाँ काम करते रहते हैं। मृत्यु हो जाने पर मृतक के बच्चों को साहूकारों के यहाँ काम करना होता है। उन लोगों को यह भी पता नहीं होता कि उनके नाम साहूकार के कागज़ों में कितना ऋण लिखा होता है। किसी ने इन लोगों के बारे में सही कहा है कि इस क्षेत्र के कोल्टा लोग ऋण में उत्पन्न होते हैं और ऋण में ही उनकी मृत्यु हो जाती है। फिर भी मृत्यु के साथ ऋ़ण से मुक्ति नहीं मिलती क्योंकि पिता की मृत्यु के बाद उसके पुत्र को ऋण के ब्याज के रूप में उस साहूकार के यहाँ आजीवन काम करना होता है। आर्थिक-शोषण के इस प्रकार के उदाहरण संसार में अन्यत्र बहुत कम मिलेंगे।

(3) *भाट कोल्टा* :- इन कोल्टा परिवारों को पूरे गाँव की सेवा करनी होती है। बारी-बारी से यह कोल्टा परिवार गाँव के विभिन्न खस परिवारों के यहाँ काम करते हैं।

कोल्टाओं के सामाजिक और आर्थिक शोषण का अन्त यहीं पर नहीं होता। ऋण के बदले अनेक कोल्टाओं को अपनी जवान स्त्रियाँ और लड़कियाँ साहूकारों के यहाँ गिरवी रखनी होती है साहूकार उनके साथ अनैतिक व्यापार करते हैं और उन्हें दिल्ली, सहारनपुर, देहरादून, रुड़की आदि के चकलाघरों में वेश्यावृत्ति के लिए भी भेजते हैं। इन चकलाघरों के ठेकेदार इस क्षेत्र में आते रहते हैं जिनके साथ साहूकार ऋणी कोल्टाओं की बालिकाओं और स्त्रियों को अनैतिक व्यापार हेतु भेज देते हैं या गिरवी रख देते हैं। इस प्रकार यहाँ के साहूकारों द्वारा ऋणी कोल्टाओं का सामाजिक, आर्थिक और नैतिक शोषण चरम सीमा तक किया जाता है।

आर्थिक पराधीनता के साथ-साथ कोल्टाओं का सामाजिक शोषण सम्बद्ध है। यदि खस मालिक, कोल्टा से क्रुद्ध हो जायें तो उस बेचारे का जीवन बड़ा कठिन हो जाता है। यदि कोई कोल्टा अपने खस मालिकों के यहाँ काम न करने का कभी दुस्सहास करें तो गाँव के अन्दर उसका रहना, चलना-फिरना और जीना कठिन कर दिया जाता है। खेतों में उसे काम करने नहीं दिया जाता। अतएव उसे खाने के लाले पड़ जाते हैं और यदि कोल्टा के पशुओं को गाँव के रास्तों और चरागाहों से निकलने न दिया जाय तो उन पशुओं के सामने भी वही समस्या उपस्थित हो जाती है। वास्तविक स्थिति यह है कि कोल्टा परिवार के सभी सदस्य अपने खस मालिकों के खेतों में दिन-रात काम करते हैं, जिसके बदले उन्हें खाने को रोटी अपने मालिकों के घर से मिलती है। उन्हें नकद भुगतान नहीं किया जाता है और मज़दूरी के रूप में उन्हें या तो खाना दिया जाता है या उन्हें ऋण के ब्याज के रूप में काम करना होता है। यदि एक खस मालिक अपने कोल्टा से

अप्रसन्न हो जाता है तो कोई दूसरा खस मालिक उसे अपने यहाँ रखने को तैयार नहीं होता। परिणामस्वरूप बेचारे कोल्टा को सभी प्रकार से सेवा करके अपने खस मालिक को प्रसन्न रखना पड़ता है। उनका अपना कोई जीवन नहीं होता। वे अपने मालिक के लिए काम करते हैं और उन्हीं के लिए जीते हैं।

जिस प्रकार दस्तूरलअमल द्वारा यह निषिद्ध किया गया है कोल्टा भूमि-स्वामी नहीं बन सकते। उसी प्रकार और भी कई सामाजिक निषेध कोल्टाओं पर लागू हैं। जैसे-कोल्टा मंदिरों के अन्दर नहीं जा सकते। खस मालिक के घर के अन्दर नहीं घुस सकते। गाँव के अन्दर जूते पहन कर नहीं चल सकते। कोल्टा स्त्रियों को सोना पहनने का भी निषेध है, यह केवल चाँदी और अन्य निम्न धातुओं के ही आभूषण पहन सकती हैं।

सरकार द्वारा अनेक भूमि-सुधार योजनाओं के लागू करने पर यह आशा की गई थी कि कोल्टाओं की आर्थिक दशा में सुधार होगा पर सरकार द्वारा कोल्टाओं को भूमि देने में कोई विशेष सफलता नहीं प्राप्त हुई क्योंकि खेती योग्य भूमि सीमित बताई जाती है। सरकार की कुटीर-उद्योग योजनाओं के अन्तर्गत कुछ कोल्टा परिवारों को ऋण एवं अनुदान दिये गये। इसके अतिरिक्त जून, 1967 में जौनसारी आदिम जाति को अनुसूचित आदिम-जाति घोषित करने के पश्चात् कुछ विशेष योजनाएँ उस क्षेत्र में प्रारम्भ की गईं जिनमें चकराता की विशेष अग्रगामी परियोजना भी -सम्मिलित है। इसके अन्तर्गत जौनसारियों को खेती, बागवानी, पशु-पालन, कुटीर-उद्योग इत्यादि के लिए सरकार द्वारा ऋण अनुदान दिये गये। इन सभी योजनाओं के बावजूद भी कोल्टाओं की आर्थिक और सामाजिक दशा में विशेष सुधार नहीं हुआ है। अब भी इस क्षेत्र के कोल्टा अपने खस मालिकों पर सामाजिक और आर्थिक रूप से पूर्णतः आश्रित हैं। इन्हें आर्थिक दासता से मुक्ति दिलाने के लिए इनके साहूकारों से छुटकारा दिलाना होगा। इसके लिए सरकार को ऐसा कानून बनाना होगा जिसके अन्तर्गत कोई साहूकार बिना सरकार की अनुमति के इन कोल्टाओं को ऋण नहीं देगा। सभी लोग साहूकार नहीं बन सकते बल्कि ऋण देने का अधिकार उन्हीं लोगों को होगा जिन्होंने सरकार से इसका अनुमति-पत्र (लाइसेंस) प्राप्त किया हो। ब्याज की दरें सरकार द्वारा निर्धारित की जानी चाहिए और साहूकार एवं ऋणी कोल्टा के बीच यदि ऋण पर कोई झगड़ा हो तो वह अदालत द्वारा तय होना चाहिए। पुराने ऋणों का निर्मूलन भी कानून द्वारा कर देना चाहिए। यदि कोई साहूकार सरकार की अनुमति के विपरीत ऋण दे तो उसके विरुद्ध कानूनी कार्यवाही सरकार द्वारा की जानी चाहिए। ऐसा कानून बनने पर निश्चय ही कोल्टाओं की आर्थिक दशा में बड़ा परिवर्तन हो सकता है और वे साहूकारों के चंगुलों से शीघ्र मुक्ति पा सकते हैं।

कोल्टा लोग अधिकतर खेती पर आश्रित हैं चाहे वह अपनी खेती करते हों या अपने खस-मालिकों की। अच्छा होगा यदि सभी खेतिहर कोल्टा परिवारों को खेती योग्य

भूमि दी जाय जिससे वे स्वयं भूमिधर बनें और उस पर परिश्रम कर अपना जीविकोपार्जन कर सकें। वन-विभाग की अब भी काफी भूमि इस क्षेत्र में पाई जाती है जिसे खेती करने के लिए खेतिहर कोल्टा परिवारों को दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यदि खस परिवारों के पास आवश्यकता से अधिक भूमि हो तो उसे भी कोल्टाओं को दिया जा सकता है। खेती योग्य भूमि सीमित है अतएव पशु-पालन के लिए उन्हें ऋण और अनुदान मिलना चाहिए तथा अच्छी नस्ल की भेंड़, बकरी, गाय इत्यादि पशु सरकार द्वारा दिये जाने चाहिए जिससे कि ये पशु-पालन कर अपना पालन-पोषण कर सकें। इस क्षेत्र में जो उद्योग-धंधे चल सकते हैं उनके लिए भी कोल्टाओं और अन्य पिछड़ी जातियों को ऋण एवं अनुदान मिलने चाहिए जिससे कि वे कुछ उद्योग-धंधे चलाकर अपना गुज़र-बसर कर सकें।

कोल्टाओं में शिक्षा की अब भी बहुत कमी है और उसका मुख्य कारण यह है कि कोल्टा परिवारों के बच्चे भी अपने माँ-बाप के साथ खस मालिकों के यहाँ काम करने जाते हैं या जंगल में उनके पशु चराते हैं। इनके लिए इस क्षेत्र में अनेक आश्रम-पद्धति विद्यालय खोलने चाहिए जहाँ इन बच्चों को शिक्षा दी जाये और शिक्षा के साथ-साथ सरकार द्वारा उनके भोजन, वस्त्र आदि की भी निःशुल्क व्यवस्था की जाये। शिक्षित होने पर कोल्टा युवक स्वयं खस मालिकों के यहाँ दासता करना स्वीकार नहीं करेंगे बल्कि कोई दूसरा काम करके अपना स्वच्छंद जीवन बिताना चाहेंगे। इस प्रकार के उपाय व्यापक रूप में करने होंगे तभी कोल्टाओं की सामाजिक और आर्थिक दशा में सुधार लाया जा सकता है।

जौनसारी सुन्दरियों पर अनैतिक व्यापार

ऊपर कहा जा चुका है कि साहूकार लोग कोल्टा स्त्रियों और बालिकाओं के साथ इसलिए अनैतिक व्यापार करते हैं क्योंकि कोल्टा लोग उनसे ऋण लेते हैं। आगे चलकर उन स्त्रियों और बालिकाओं द्वारा वेश्यावृत्ति अपनाना पड़ता है। कोल्टाओं के अतिरिक्त कुछ खस राजपूतों की बालिकायें भी वेश्यावृत्ति अपनाने लगी हैं क्योंकि कोल्टा युवतियों की अपेक्षा ये अधिक सुन्दर होती हैं और ठेकेदार लोग उन्हें अनेक प्रलोभन देकर तथा बाहर के सरसब्ज़ बाग दिखाकर मैदान के वेश्याघरों में ले जाते हैं। इस क्षेत्र में वेश्यावृत्ति का इतिहास अत्यन्त आधुनिक है। कहा जाता है कि 'गुनाठी' इस क्षेत्र की पहली महिला थी जो वेश्यावृत्ति के लिए लगभग सौ वर्ष पूर्व शिमला गई। प्रारम्भ में अमृतसर और अम्बाला से बुर्दाफरोश यहाँ आये और उन्होंने देहरादून में अपना अड्डा कायम किया। वहाँ से इन लोगों ने अपने एजेण्ट जिनमें कुछ औरतें भी थीं, इस क्षेत्र में भेजे। उन

ऐजेण्टों ने यहाँ लड़कियों को सरसब्ज़ बाग दिखाये और उन्हें बहलाकर कोठों पर का रास्ता दिखाया।

इस आधुनिक इतिहास के अतिरिक्त इसके कुछ और भी ऐतिहासिक आधार बताये जाते हैं। कहा जाता है कि रवाँई (उत्तरकाशी) और जौनपुर (टेहरी गढ़वाल) की जौनसारी बालिकायें अनेक सरदारों द्वारा खरीदकर टिहरी, पटियाला, सोलन, इलाहाबाद, अलवर आदि के राजाओं के यहाँ मध्य कालीन वर्षों में उनके अन्तःपुरों को भेजी जाती रही थीं जिसके कारण वहाँ की जनता का नैतिक स्तर गिरा हुआ है। वर्तमान समय में वेश्यालयों के संचालक अपने एजेण्टों द्वारा इस क्षेत्र की लड़कियों को खरीदवाकर वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन देते हैं। अब भी रवाँई (उत्तरकाशी), जौनपुर (टेहरी गढ़वाल) में टिहरी गढ़वाल के निवासी अपनी लड़कियों के विवाह नहीं करते। इसके विपरीत रवाँई और जौनपुर की जौनसारी सुन्दरियों को टेहरी गढ़वाल के लोग अपने घरों में दासी और बाँदी के रूप में रखते हैं और उन्हें 'सिंगड़ी' कह कर पुकारा जाता है। घर में उनका बर्तन माँजना और पानी भर देना ही काम है। उनसे अस्पृश्यता का बर्ताव भी किया जाता है।

इस समय वस्तु-स्थिति यह है कि अनैतिक व्यापार के ठेकेदार यहाँ की लड़कियों को दिल्ली, अम्बाला, सहारनपुर, हरिद्वार, मुजफ्फरनगर, जबलपुर आदि के वेश्यालयों में भेजते रहते हैं और उन्हें यह सरसब्ज़, बाग़ दिखाकर भेजते हैं कि वहाँ इन लड़कियों को बड़ा अच्छा काम करने को मिलेगा जिससे अच्छी आमदनी होगी। इस प्रलोभन में इन अभागी लड़कियों के माता-पिता उन्हें ठेकेदारों के हाथों में सौंप देते हैं। यह बात सुनने में कुछ आश्चर्यजनक लगती है कि माँ-बाप अपनी लड़कियों को इस काम के लिए इस प्रकार भेजने को तैयार हो जाते हैं। गहराई पर देखने में इसके दो पहलू मिलते हैं-एक तो यह है कि कोल्टा माँ-बाप साहूकारों के ऋण से इतने दबे होते हैं कि उन्हें कोई भी आर्थिक प्रलोभन स्वीकार्य होता है। इसके अतिरिक्त उनके पास आमदनी का कोई अन्य साधन नहीं होता। उन्हें साहूकारों के यहाँ ऋण के ब्याज पर काम करना होता है और जीवन भर वे ब्याज के स्थान पर काम करते रहते हैं जबकि मूलधन उतना ही बना रहता है। अनेक मामलों में मूल पहले से भी अधिक हो जाता है क्योंकि कोल्टा अधिकतर अशिक्षित होते हैं और ऋण के लेन-देन लिखित रूप में बहुत कम होते हैं। ऐसी परिस्थिति में कोल्टा माँ-बाप अपनी लड़कियों को इस हेतु बाहर भेजने के लिए तैयार हो जाते हैं कि वहाँ से कमाकर कुछ पैसा लायेंगी। यह असहाय और निर्दोष माँ-बाप गाजे-बाजे के साथ अपनी लड़कियों को बस-अड्डे तक छोड़ने आते हैं। वेश्यालयों से ठेकेदार उनके पास पत्र भेजते रहते हैं कि उनकी लड़की ठीक तरह से है और अच्छा कमा रही है। कई महीनों के बाद उन्हें कुछ धन-राशि के साथ घर जाने दिया जाता है।

इस वापसी पर इन लड़कियों को उनके परिवार और सम्बन्धियों द्वारा बड़ा स्वागत किया जाता है। माँ-बाप समझते हैं कि उनकी लड़की सहायता कर रही है और चन्द दिनों के बाद ठेकेदारों द्वारा वे लड़कियाँ फिर वेश्याघरों को ले जायी जाती हैं जहाँ उनसे अनैतिक व्यापार कराया जाता है। कोल्टा बालिकाओं के अतिरिक्त इन ठेकेदारों द्वारा कुछ खस राजपूत-लड़कियों को भी वेश्याघरों में ले जाया जाता है क्योंकि अधिक सुन्दर होने के कारण इस अनैतिक व्यापार में उनका मूल्य अधिक समझा जाता है।

वेश्यावृत्ति को रोकने के लिए भारत सरकार द्वारा "अनैतिक व्यापार दमन अधिनियम" बनाया गया है और इसके अन्तर्गत किसी बस्ती या मोहल्ले में इस प्रकार का धन्धा करने वाले का चालान किया जाता है और न्यायालय द्वारा दण्ड दिलाया जाता है। इस अधिनियम का प्रभाव यह हुआ है कि उन बस्तियों से वेश्यालय जो खुले रूप में थे, हट गए हैं और उनके स्थान पर अन्य बस्तियों में यह धन्धा छुपकर कराया जाता है। अन्तर केवल इतना है कि पहले वेश्यालय एक मोहल्ले में एक स्थान पर खुले रूप से चलाये जाते थे और अब शहर के अनेक भागों में छुपे रूप में वेश्यालयों में धन्धा चलाया जाता है। कुछ भी हो 'अनैतिक व्यापार दमन अधिनियम' के द्वारा जौनसारी बालिकाओं के अनैतिक व्यापार में कोई विशेष कमी नहीं हुई। इस व्यापार के ठेकेदार इतने शक्तिशाली हैं कि स्थानीय अधिकारी उनका मुक़ाबला करने में अपने को कभी-कभी असमर्थ पाते हैं। लड़कियों के माँ-बाप का सहयोग भी बहुत कम मिलता है क्योंकि वे इस व्यापार द्वारा आय का स्वागत करते हैं जो उनके ऋण चुकाने के काम आती है। इसके अलावा अनैतिक व्यापार के लिए बहुत से सैलानी इस क्षेत्र में सैर के लिए भी आते रहते हैं जो जौनसारियों में प्रचलित यौन-स्वतंत्रता का अनुचित लाभ उठाते हैं। यह सब इसलिए होता है कि बेचारे कोल्टाओं को धन की अत्यधिक आवश्यकता होती है और प्रचलित यौन-स्वतंत्रता के कारण इसे वहाँ अनैतिक नहीं समझा जाता। ऐसा घोर सामाजिक, आर्थिक और नैतिक शोषण इस क्षेत्र में अभी जारी है। उत्तरांचल सरकार ने इस क्षेत्र में अनैतिक व्यापार को रोकने हेतु अनेक योजनायें आरम्भ कीं। इसके निमित्त उद्धार अधिकारी नियुक्त किया गया जिसने 'अनैतिक व्यापार दमन' के अन्तर्गत बहुत सी जौनसारी नारियों का उद्धार किया। 'अपराध निरोधक समिति' द्वारा भी इस क्षेत्र में अनेक सिलाई-कटाई केन्द्र खोले गये। वहाँ जौनसारी नारियों को सिलाई-कढ़ाई की शिक्षा दी जाती है जिससे कि सिलाई-कढ़ाई के द्वारा वे जीविका चला सकें और अनैतिक व्यापार के चंगुल में न फँसें।

स्त्रियों और बालिकाओं में अनैतिक व्यापार को रोकने के लिए सरकार का जो अधिनियम है उसके द्वारा क्षेत्र में प्रचलित वेश्यावृत्ति को समाप्त करने में पूर्णतः सफलता

गणतंत्र दिवस के अवसर पर नई दिल्ली में प्रधानमंत्री पं० जवाहर लाल नेहरू एवं उनकी पुत्री इन्दिरा गाँधी, जौनसारी नर्तकों के साथ

नहीं मिल पाई है जिसके कई कारण हैं। इस अधिनियम में ही कुछ कमियाँ हैं जिसके कारण बहुत से मुकदमे न्यायालय से छूट जाते हैं। अधिनियम का संशोधन बहुत आवश्यक है और यह मामला सरकार के विचाराधीन है। दूसरा कारण यह है कि स्थानीय पुलिस इस दिशा में उतना ध्यान नहीं देती जितना कि उसे देना चाहिए। वह शान्ति और व्यवस्था सम्बंधी मामलों में इतना व्यस्त रहती है कि इस ओर समुचित ध्यान नहीं देती। अतएव आवश्यकता है कि वेश्यावृत्ति आदि सामाजिक अपराधों को रोकने के लिए अलग से पुलिस इकाइयों की स्थापना की जाय जिससे कि वह पूरा समय इस प्रकार के सामाजिक अपराधों के लिए दे सकें। तीसरा कारण यह है कि इस क्षेत्र में स्त्रियों और बालिकाओं में फैलाने वाले अनैतिक व्यापार के ठेकेदार बहुत शक्तिशाली हैं और उन्हें दबाने में स्थानीय अधिकारी सफल नहीं होते। इन ठेकेदारों को किसी भी दिशा में सहायता नहीं मिलनी चाहिए और पूरी शक्ति से इनका दमन होना चाहिए। साथ ही जौनसारी जनता का भी कर्त्तव्य है कि वह इन ठेकेदारों के चंगुल में पड़ने से अपनी स्त्रियों और लड़कियों को बचायें। चौथे वहाँ की जनता में नैतिक शिक्षा और यौन-शिक्षा की बड़ी आवश्यकता है जिससे कि वह स्वयं इस अनैतिक व्यापार से घृणा करने लगें और इस कुप्रथा से उत्पन्न यौन-रोगों के भयंकर परिणामों की गम्भीरता को समझें। पाँचवें इन लोगों की आर्थिक-समस्या भी इस कुप्रथा में सम्मिलित है, ऋण न चुका सकने पर लोगों को अपनी स्त्रियों और बालिकाओं को वेश्यावृत्ति के लिए भेजना पड़ता है। इसके लिए सरकार को बड़े ठोस उपाय अपनाने होंगे जिससे कि ये लोग साहूकारों की आर्थिक-दासता से अपने को मुक्त करा सकें।

जीवन में राग-रस एवं रति-रंग

ऐसी विषमताओं और विवशताओं मे रहकर भी जौनसारी लोग एक सरल, सरस और आमोद-प्रमोद पूर्ण जीवन को बिताने का प्रयत्न करते हैं। संगीत के ये लोग बड़े प्रेमी हैं। सामाजिक और धार्मिक उत्सवों पर ये लोग खूब मस्ती से नाच-गान करते हैं। इनके यहाँ नर-नारी और बच्चे सभी मद्यपान करते हैं। चावल और महुवा आदि से वे अपने घर में ही मद्य तैयार करते हैं जिसे पीकर ये अपनी शारीरिक और मानसिक थकान दूर करते हैं तथा घरेलू कठिनाइयों और चिन्ताओं को भूल जाने की चेष्टा करते हैं। वर्ष में इनके दो बड़े धार्मिक त्यौहार होते हैं। अक्टूबर के महीने में इन लोगों के यहाँ दशहरा बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है और माघ के महीने में सभी लोग बड़े जोर से पूरे महीने त्यौहार मनाते हैं। इनका सबसे बड़ा देवता "महासू" है जिसकी ये पूजा करते हैं। माघ के महीने में घर-घर बकरे काटे जाते हैं। उस महीने में यहाँ

काफी सर्दी पड़ती है अतएव ये उस काटे हुए बकरे को कुछ मसालों द्वारा सुखा कर भी रखते हैं और उस सूखे माँस को वर्ष भर प्रयोग में लाते हैं। इस महीने में काटे हुए बकरे के माँस का बड़ा धार्मिक महत्त्व समझा जाता है। माघ के महीने भर ये लोग बहुत कम काम करते हैं बल्कि खूब पीते-खाते हैं और मौज मनाते हैं। मेलों में गाँव भर के लोग इकट्ठा होते हैं जहाँ मद्यपान करके स्त्री और पुरुष सभी मिलकर नाचते हैं। इस समारोह में स्त्रियों और बालिकाओं को अन्य पुरुषों के साथ गाने-नाचने की स्वतंत्रता रहती है अतएव यह माघ का महीना इन लोगों का बड़ा मस्ती और मौज़ का होता है। इन उत्सवों और मेलों में जौनसारी युवक और युवतियाँ अपने लिए जीवन-साथी का चुनाव करते हैं। ऐसा प्रायः होता है कि इन मेलों में युवक और युवतियाँ एक-दूसरे के साथ नाचते-गाते हैं और यदि दोनों ने एक-दूसरे को पसन्द किया तो युवक-युवती को लेकर वहाँ से पलायन कर देता है और उस युवती को बाद में अपनी पत्नी बना लेता हैं। यहाँ पर यह आवश्यक नहीं है कि केवल अविवाहित बालिकायें और स्त्रियाँ ही इन समारोहों में भाग लें, विवाहित स्त्रियाँ भी इनमें अविवाहित स्त्रियों की भाँति भाग लेती हैं।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र में नारी की यौन-स्वतत्रंता का बड़ा दुरुपयोग हुआ है और नारियों का सभी प्रकार से बड़ा शोषण हुआ है। पांचाल प्रथा का आधार धार्मिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक कुछ भी रहा हो किन्तु इसके दुष्प्रभाव के कारण कभी-कभी एक स्त्री अपने जीवन-काल में 15 से 20 घरों में स्थानान्तरित हुई है। यही नहीं, अतिथि-सत्कार के अन्तर्गत कहीं-कहीं घर में आये अतिथि को विभिन्न प्रकार की शराबें, माँस आदि खाद्य पदार्थों के अतिरिक्त आतिथ्य में अपनी स्त्रियाँ और बालिकायें भी यहाँ अर्पित की गई हैं किन्तु अब इन प्रथाओं में परिवर्तन हो रहा है और शिक्षा का ज्यों-ज्यों प्रचार हो रहा है ये प्रथायें अब शिथिल होती जा रही हैं।

एक बंजारा युवती (पारम्परिक वेशभूषा में)

3

विमुक्त जातियाँ

"विमुक्त जातियाँ और उनकी नारियाँ"

'विमुक्त जातियाँ' उन्हें कहते हैं जो 1952 ई० के पहले अपराधशील जातियाँ कही जाती थीं। 1952 ई० में "अपराधशील जाति अधिनियम" को निरस्त कर इन जातियों को मुक्त किया गया। तभी से इन्हें विमुक्त जातियाँ कहा जाता है। इन जातियों के इतिहास पर अनेक मत हैं। प्राचीन इतिहास का एक मत यह है कि यह भारत के मूल निवासी थे और द्रविड़ों व आर्यों के आगमन एवं आक्रमण पर इन लोगों को अपने राज्य एवं बस्तियां छोड़नी पड़ीं। उन्होंने आक्रान्ताओं की दासता को स्वीकार नहीं किया। बल्कि घर-बार छोड़कर ये पहाड़ों व जंगलों में घूमन्तू जीवन व्यतीत करने लगे। जीविका-हेतु इनमें से कुछ लोग अपराधी हो गये और इस प्रकार उन्हें अपराधशील जातियाँ कहा जाने लगा। कुछ विद्वानों का कहना है कि विमुक्त जातियाँ द्रविड़ों के वंशज हैं। आर्यों द्वारा पराजित होने पर इन्होंने जंगलों में शरण ली किन्तु आर्यों की प्रभुता स्वीकार नहीं की। पहाड़ों और जंगलों में खानाबदोश-जीवन व्यतीत करते हुए इन्होंने जीविका-हेतु अपराध करना भी प्रारम्भ कर दिया और इस प्रकार ये अपराधशील जातियाँ बन गईं।

सर विलियम क्रुक ने कंजर, डोम, बावरिया और अन्य विमुक्त जातियों को दक्षिण भारत के यरूकला, कोराघा, किकोड़ी, नक्काल, पुसाल, पामूला इत्यादि के साथ द्रविड़ नस्ल का बताया है। किन्तु प्रोफेसर डी० एन० मजूमदार के मतानुसार यह कहना गलत है कि सभी विमुक्त जातियाँ द्रविड़ नस्ल की हैं। प्रोफेसर मजूमदार का कहना है कि भाँतू, साँसी, करवल, हबूड़ा और बिजौरी कंजरों में द्रविड़ों के कोई लक्षण नहीं हैं। इनका मत उत्तरी भारत की अनेक विमुक्त जातियों के ऊपर सही हो सकता है क्योंकि देखने से उत्तरी भारत की अनेक विमुक्त जातियाँ द्रविड़ों की नस्ल नहीं लगतीं किन्तु दक्षिण भारत की कुछ विमुक्त जातियाँ द्रविड़ वंश की अवश्य हो सकती हैं।

उत्तरी भारत की अधिकतर विमुक्त जातियाँ अपने को राजपूतों की वंशज बतलाती हैं। इनका कहना कि मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व ये लोग राजस्थान के निवासी थे और वहाँ ये राजपूत थे या राजपूतों के सैनिक थे। मुसलमानों से परास्त होने पर ये लोग घुमन्तू बनकर पहाड़ों और जंगलों में रहने लगे किन्तु गुरिला (छापामार) युद्ध द्वारा

विजेताओं पर आक्रमण करते रहे। बाद में इन लोगों ने अन्य नागरिकों पर भी आक्रमण आरम्भ कर दिये और लूटमार करके अपना जीवन-यापन जारी रखा। अब भी बहुत से विमुक्त जाति के लोग अपने को चित्तौड़ के महा प्रतापी शासक राणा प्रताप सिंह के वंशज बतलाते हैं जो मुग़ल सम्राट अकबर से हल्दी घाटी के युद्ध में परास्त हो गया था किन्तु उन्होंने मुगल-प्रभुता अन्त समय तक स्वीकर नहीं की। पर्वतों और वनों में बड़ा कष्टमय और संघर्षमय जीवन व्यतीत करते हुए महाराणा प्रताप सिंह ने अपना युद्ध मुग़लों के विरुद्ध जारी रखा और अन्त में उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। बहुत सी विमुक्त जातियों का कहना है कि महाराणा प्रताप सिंह के साथ उनके पूर्वजों ने चित्तौड़ छोड़ दिया था और अनेक दलों में बँटकर कुछ समय के बाद ये लोग अनेक अपराधशील जातियों में परिणित हो गये।

सन् 1871 ई० में भारत के वाइसराय की कार्य-कारिणी समिति ने जब "अपराधशील जाति अधिनियम" पारित किया तब देश की सामाजिक एवं राजनीतिक दशा इस प्रकार की थी कि दिन-दहाड़े अपराध किये जाते थे और सामान्य नागरिकों का जीवन बड़ा अशान्तिमय एवं असुरक्षा-पूर्ण हो गया था। मुग़ल शासन के पतन के बाद घुमन्तू अपराधियों का राज्य हो गया था। वह जहाँ और जब चाहते विभिन्न प्रकार के अपराध कर डालते थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी की शासन-व्यवस्था तब तक सुदृढ़ नहीं हो पाई थी। अतएव उत्तर भारत में ठगों और घुमन्तू अपराधियों ने बड़ा आतंक मचा रखा था जिसके फलस्वरूप नागरिकों को यात्रा करना बड़ा दूभर हो गया था। उस समय घर से बाहर जाना खतरे से खाली नहीं था।

मराठों की सेना भी उस समय अराजकता के लिए बहुत अंश तक उत्तरदायी थी। मराठे बहुत से अवैतनिक सैनिक रखते थे जिन्हें लूट-मार और अपराध करने की खुली छूट थी क्योंकि उन्हें मराठा शासन से कोई वेतन नहीं मिलता था। इसी प्रकार दक्षिण भारत में बहुत से डकैतों और ठगों के सरदारों ने विभिन्न प्रकार के अपराध करने के लिए अपराधियों के छोटे-छोटे दस्ते रखे थे जो लूट-मार करते थे और अपने सरदारों को लूट के माल से सम्पन्न एवं प्रसन्न करते थे। ये सरदार अपने को ज़मीदार, ताल्लुक़ेदार मुखाशदार, मुत्तादार और इनामदार कहते थे। इन सरदारों के छोटे-छोटे किले भी थे जहाँ ये रहते और अपने दस्तों को भी रखते थे। कई स्थानों पर ये किसानों से मालगुज़ारी भी वसूल करते थे तथा अपने क्षेत्र में शासन-व्यवस्था रखते थे और ईस्ट इंडिया कम्पनी को 'पीशकुश' वार्षिक तौर पर भुगतान करते थे। ये सरदार छोटे-छोटे राज्य के सरदारों से आपस में संधियाँ भी करते थे और एक-दूसरे के साथ औपचारिक सम्बन्ध रखते थे।

ठगों और अपराधशील व्यक्तियों द्वारा अपराध उस समय देश में इतना बढ़ गया था

कि वाइसराय की कार्यकारिणी समिति को इस प्रकार का एक अधिनियम बनाने को विवश होना पड़ा जिसके अन्तर्गत पुलिस को अधिकार दिया गया कि वह बिना अपराध किये किसी व्यक्ति या जाति को अपने नियंत्रण में ले सकते थे और उसे दंड दिला सकते थे। कार्यकारिणी समिति के कुछ सदस्यों का यह स्पष्ट मत था कि इस देश में कुछ ऐसी जातियाँ हैं जिनके सदस्यों का धंधा केवल अपराध करना है और वे परम्परागत अपराधी प्रवत्ति के हैं। समिति के एक सदस्य श्री जे० एम० स्टीफेन्स का कहना था कि भारत की विशेषता यहाँ की जातिव्यवस्था है। यहाँ लोगों के व्यवसाय जाति के आधार पर बंटे हुए हैं- जो जिस जाति का है वह अपनी जाति का ही व्यवसाय कर सकता है। इसी प्रकार कुछ जातियाँ वंशगत अपराधशील हैं और उनकी जीविका का साधन केवल अपराध करना रहा है। श्री स्टीफेंस के अनुसार इन जातियों में अपराध-प्रवृत्ति तब तक समाप्त नहीं हो सकती जब तक कि इन जातियों का पूर्ण रूप से निर्मूलन न कर दिया जाय। किसी अन्य प्रकार से अपराधशील जातियों का सुधार असंभव है। संक्षेप में स्टीफेंस का कहना था कि अपराधशील जातियों के लिए अपराध न केवल व्यवसाय है बल्कि उनकी जाति है और धर्म भी है।

इस प्रकार सन् 1871 ई० के "अपराधशील जाति अधिनियम" द्वारा इस देश की बहुत सी जातियाँ 'अपराधशील जातियाँ' घोषित की गई। ऐसा अधिनियम शायद ही विश्व में और कहीं पारित किया गया हो जिसके अन्तर्गत एक बहुत बड़ी जनसंख्या को निर्धारित स्थान में रहने के लिए बाध्य किया जाता था। बिना पूर्व सूचना और अनुमति के वह उन स्थानों से बाहर नहीं जा सकते थे। अपने निशान-अँगूठे पुलिस को देने होते थे और पुलिस चौकी में पहुँचकर इन जातियों के सदस्यों को अपनी उपस्थिति देनी होती थी। अनुपस्थिति में इन पर बिना मुकदमा दंड दिया जा सकता था। रात को इन्हें विशेष हिंदायत थी कि वह अपने घर पर पाये जायं और अपनी उपस्थिति गाँव के मुखिया या पुलिस कर्मचारी को अवश्य दें। ऐसा न करने पर इन्हें पुलिस द्वारा अनेक प्रकार की यातनायें दी जाती थीं। इस अधिनियम की आड़ में इन अपराधशील जातियों के सदस्यों पर और न जाने कितने प्रकार के अत्याचार और शोषण पुलिस द्वारा किये जाते थे।

1947 ई० में देश स्वतंत्र होने के पश्चात् इस दिशा में सरकार का ध्यान गया कि देश की स्वाधीनता के पश्चात् इन जातियों को भी स्वाधीनता दिलाई जाय। सर्वप्रथम 1948 ई० में मद्रास सरकार ने अपने राज्य से इस अधिनियम को निरस्त किया। उसके पश्चात् बम्बई सरकार ने इसे निरस्त किया। 1952 ई० में भारत सरकार ने इस अधिनियम को सारे देश से निरस्त किया क्योंकि भारतीय संविधान के अनुसार किसी व्यक्ति या जाति को वंशगत अपराधशील घोषित नहीं किया जा सकता। अपराधशील जाति

अधिनियम को निरस्त करने के लिए भारत सरकार ने एक "अपराधशील जाति अधिनियम जाँच समिति" गठित की थी जिसने 1950 ई० में अपनी 'संस्तुति प्रस्तुत की, जिसके आधार पर इन जातियों को उस काले कानून से मुक्त करके "भूतपूर्व अपराधशील जातियाँ" कहा गया। तत्पश्चात् "पिछड़ा वर्ग आयोग" की संस्तुति के आधार पर इन जातियों को "भूतपूर्व अपराधशील जाति" के स्थान पर "विमुक्त जाति" कहा जाने लगा क्योंकि उक्त अधिनियम के निरस्त होने के पश्चात् इन जातियों के नाम के साथ किसी भी रूप में "अपराधशील" शब्द जोड़ना अनुचित समझा गया।

"अपराधशील जाति अधिनियम समिति" के अनुसार देश में विमुक्त जातियों की संख्या 40-50 लाख के लगभग बताई जाती थी। 1961 ई० की जनगणना में विमुक्त जातियों की गणना नहीं की गई। ऐसा अनुमान है कि सारे देश में इनकी जनसंख्या 40-50 लाख से कुछ अधिक ही होगी। आसाम, केरल, और जम्मू-कश्मीर आदि को छोड़कर देश के सभी राज्यों में ये विमुक्त जातियाँ पाई जाती हैं। सबसे अधिक उत्तर प्रदेश में इनकी संख्या है और उसके पश्चात महाराष्ट्र व तामिलनाडु राज्यों में है। इनकी समस्त जनसंख्या की 80% आबादी उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र व तामिलानाडु राज्यों में पाई जाती है। ये जातियाँ सभी धर्मों को मानने वाली हैं फिर भी अधिकांश जातियाँ हिन्दू धर्म को मानती हैं और उसके बाद इस्लाम धर्म को। इस-जाँच समिति के मतानुसार ये जातियाँ निम्नांकित आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक कारणों से अपराधशील जातियाँ बन गईं।

परम्परागत व्यवसाय नष्ट होने पर अनेक जातियाँ अपराध करके जीविकोपार्जन करने लगीं- उदाहरणार्थ सन् 1887 ई० में आंध्र प्रदेश में "वन-उद्धरण" किया गया जिससे वनों में रहने वाली चेंचू जाति जीविका विहीन हो गई अतएव उन्होंने अपराध द्वारा अपनी जीविका प्रारम्भ कर दी। रेल-गाड़ी के आरम्भ के पूर्व बंजारा और लम्बाड़ी बैल गाड़ियों पर अनाज, नमक एवं अन्य घरेलू उपयोग की वस्तुओं का व्यापार किया करते थे। रेलगाड़ी चलने के बाद से इनके व्यापार में बड़ी कमी हो गई अतः ये जातियाँ व्यवसायहीन हो गईं और अपनी जीविका हेतु इन लोगों ने अपराध करना भी प्रारम्भ कर दिया।

राजनीतिक परिवर्तनों से भी अनेक जातियाँ विस्थापित हो गईं और उन्होंने अपने भरण-पोषण के लिए अपराध-प्रवृत्ति का सहारा लिया। मुसलमानों के आक्रमण के साथ ही देश में राजनीतिक परिवर्तनों से अनेक जातियाँ विस्थापित हो गईं और उनमें से कुछ ने घुमन्तू और अपराधशील जीवन को अपना लिया। एक जाति जब दूसरी जाति पर आक्रमण करके उसे पराजित कर देती थी और परास्त होने के बाद भी यदि पराजित जाति उसकी दासता नहीं स्वीकार करती तो उसे दस्यु या लुटेरा कहा जाता था। इसी प्रकार इन जातियों को अपराधशील जाति कहा जाने लगा।

इन जातियों की कुछ सामाजिक कुरीतियाँ भी इनके अपराधशील जीवन के लिए उत्तरदायी हैं जैसेः साँसियों में वधू का मूल्य वर पक्ष को बहुत अधिक चुकाना पड़ता है, दो हज़ार रुपये से लेकर कई हज़ार रुपये तक देना होता है। विमुक्त जातियों के अधिकतर लोग ऋण-ग्रस्त बताये जाते हैं। इनमें अधिकांश व्यक्ति पैतृक ऋण से दबे होते हैं और ब्याज की दरें इतनी अधिक होती हैं कि यह महाजन से मुक्त नहीं हो पाते। परिणामस्वरूप इन्हें अपराधशील जीवन बिताने के लिए विवश होना पड़ता है।

कुछ विमुक्त जातियाँ पूर्णतः घुमन्तू हैं अर्थात् एक स्थान पर नहीं रहतीं बल्कि एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमती रहती हैं और खानाबदोश जीवन व्यतीत करती हैं। कुछ जातियाँ अर्द्ध खानाबदोश हैं- अर्थात् वर्ष के कुछ समय तक एक स्थान पर रहती हैं और शेष अवधि में दूसरे स्थानों में घूमती-फिरती हैं। विमुक्त जातियों के सदस्य प्रायः कुशाग्र बुद्धि के होते हैं, चुस्त व फुर्तीले होते हैं। विशेषकर इनकी नारियाँ बड़ी तीक्ष्ण बुद्धि की होती हैं। अपराध करने में ये अपने पुरुषों का पूरा साथ देती हैं। इनकी नारियों में अन्य नारियों से अधिक स्वच्छंदता पाई जाती है। मैं आगे कुछ विमुक्त जातियों की नारियों पर प्रकाश डालना चाहूँगा जिससे प्रगट होगा कि जहाँ इनकी नारियों में अधिक स्वच्छंदता पाई जाती है वहाँ उनका शोषण भी बहुत अधिक किया गया है।

कंजर

यह जाति राजस्थान, पश्चिमी बंगाल उत्तर प्रदेश आदि पश्चिमी और उत्तरी भारत के राज्यों में पाई जाती हैं। ये लोग अपनी उत्पत्ति राजपूत घरानों से बताते हैं और अपने को राजपूतों का वंशज बताने में गर्व का अनुभव करते हैं। इनकी नारियाँ देखने में सुन्दर होती हैं और बड़े अच्छे स्वास्थ्य तथा गठे शरीर की होती हैं। गूजर स्त्रियों की भाँति इनकी नारियाँ भी कुर्ता-पाजामा पहनती हैं तथा नृत्य में निपुण होती हैं। इनके गाने बड़े प्रेमपूर्ण और मनमोहक होते हैं।

कंजर नारियां दो प्रेमियों को मिलाने के लिए ताबीज़ देती हैं और स्त्रियों में बांझपन दूर करने की दवा देती हैं। ये जादू-टोना भी करती हैं और लोगों को ऐसा विश्वास है कि इनके जादू-टोने द्वारा एक प्रेमी अपनी प्रेमिका को प्रेम-पाश में बाँध सकता है।

विवाह के पूर्व कंजर बालिकाओं को अन्य पुरुषों के साथ प्रेम करने और यौन-सम्बंध रखने की स्वतंत्रता रहती है। इनके समाज में एक-दूसरे की स्त्रियों को लोग लेकर भाग जाते हैं और बाद में उसे अपनी पत्नी बना लेते हैं। नारियों का मूल्य इस समाज में बहुत कम है- यहाँ तक कि कुछ सौ रुपयों में स्त्रियाँ खरीदी जा सकती हैं।

ऐसा होते हुए भी परिवार के अन्दर स्त्रियों का रोब रहता है और कंजर पति अपनी पत्नियों के वश में रहते हैं तथा जोरू के गुलाम कहलाते हैं।

सातिया

ये लोग भी अपने को राजपूतों का वंशज बताते हैं। ये माँस और मदिरा के इतने शौक़ीन होते हैं कि अपनी पत्नियों और बेटियों को गिरवी रख माँस-मदिरा का शौक पूरा करते हैं। यही नहीं, ऋण-भुगतान न होने पर अपनी स्त्रियों को साहूकारों के यहाँ छोड़ देते हैं और साहूकारों को इनकी स्त्रियों से यौन-सम्बन्ध रखने का अधिकार तब तक रहता है जब तक कि इनका ऋण अदा न हो जाय। साहूकारों से इनके जो संतान होती है उन्हें ये साहूकारों के यहाँ छोड़ देते हैं और ऋण का भुगतान हो जाने पर स्त्रियों को वापिस अपने घर ले आते हैं। घर वापिस आने पर इन स्त्रियों के साथ कोई भेदभाव नहीं किया जाता और न ही इनके समाज में इसे बुरा समझा जाता है।

इनके यहाँ किम्वदंती है कि सातिया लोग पहले एक स्थान पर शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे किन्तु एक बार इन्होंने देवी पर चढ़ाये गये माँस को गंदा कर दिया। क्रुद्ध होकर देवी ने इन्हें शाप दिया और तब से ये लोग अपना जीवन इस प्रकार व्यतीत करने पर बाध्य हैं। स्त्रियों की दशा इनके समाज में बहुत ही शोचनीय है। पशुओं की भाँति ये अपनी स्त्रियों को कभी भी बेंच सकते हैं और उन्हें गिरवी रख सकते हैं। ये लोग पीपल वृक्ष की पूजा करते हैं। सातिया स्त्रियाँ इस वृक्ष की इस विनय के साथ पूजा करती हैं कि वह साहूकारों के ऋण से मुक्त हो जायं। पूजा में पीपल के वृक्ष पर मदिरा भी चढ़ाते हैं।

बौरिया

यह जाति सम्पूर्ण उत्तरी भारत में पाई जाती है। ये अपने को राजपूतों के वंशज बताने में गर्व का अनुभव करते हैं। इनका कहना है कि किसी समय इनके पूर्वज चित्तौड़ के शासकों की सेना में थे पर चित्तौड़ के पतन के बाद ये लोग इधर-उधर अनेक दलों में बँट गये तथा बाद में अपराधशील हो गये। इनके समाज में स्त्रियों को बड़ी स्वछंदता मिली है। अजनबी लोगों से इन स्त्रियों को आलिंगन करने की स्वच्छंदता है। ये लोग अन्य वर्गों की स्त्रियों को फुसलाकर अपने समाज में बहका कर भगा लाते हैं और फिर उनसे वेश्यावृत्ति कराते हैं। सुन्दर बालिकाओं को भी ये लोग चुरा कर ले जाते हैं और बाद में उनसे वेश्यावृत्ति कराकर आय करते हैं।

ये लोग एक अनोखें ढंग से भी आय करते हैं- अपने को राजपूत बताकर अपनी

विमुक्त जाति (बंजारा) युवतियाँ (अपनी पारम्परिक वेशभूषा में)

सुन्दर बालिकाओं के विवाह तय करते हैं और विवाह के पश्चात् उनकी लड़कियाँ विवाह में मिले आभूषण एवं अन्य धनराशि लेकर भाग आती हैं। इस प्रकार विवाह में मिली बड़ी धनराशि और आभूषण इनके हाथ लग जाते हैं। अपनी स्त्रियों को यह अपराध-विद्या में प्रशिक्षित करते हैं और उनसे जासूसी का बड़ा काम लेते हैं। इनकी स्त्रियाँ दिन में जाकर जासूसी का काम करती हैं और जासूसी-सूचना के आधार पर ये लोग रात में चोरी, डकैती करते हैं। इनकी स्त्रियाँ भी अपराध करने में पुरुषों की भाँति निपुण होती हैं- विशेषतया चोरी के माल की प्राप्ति में बौरिया स्त्रियाँ बड़ी दक्ष होती हैं- इस काम के लिए उन्हें विशेष प्रशिक्षण भी मिला होता है।

यरूकला

यह जाति मैसूर, मद्रास, और आंध्र प्रदेश में पाई जाती है। इन्हें 'कुराचा' और 'कुरावा' भी कहते हैं। ये लोग अपने बालक-बालिकाओं को अपराध-विद्या में कठिन प्रशिक्षण देते हैं। उन्हें मार खाने में इतना पक्का कर देते हैं कि पुलिस द्वारा तगड़ी मार खाने के बाद भी ये लोग तथ्य नहीं बताते। जनता के साथ व्यवहार में ये बड़े कुशल होते हैं और ये अच्छी तरह जानते हैं कि किस समय, किससे किस प्रकार की बात, कैसे की जाय। इनकी स्त्रियाँ इतनी बातूनी होती हैं कि सर खा जाती हैं। ये हाथ देखकर भविष्य बताती हैं। नपुंसकता दूर करने की दवा देती हैं। बांझपन दूर करती हैं और प्रेमियों को प्रेम-पाश में बाँधने के जादू-मन्तर भी करती हैं। इनकी स्त्रियाँ पुरुषों से कहीं अधिक तेज़ और साहसी होती हैं। एक स्त्री कितने ही विवाह कर सकती है किन्तु एक समय में यह केवल एक पति के साथ रह सकती हैं। इनके समाज में भी पत्नियों को गिरवी रखा जाता है और स्त्रियाँ का विक्रय किया जाता है।

बँजारा

यह जाति उत्तर पश्चिमी भारत और दक्षिण भारत में काफी संख्या में पाई जाती है तथा सुगाली, लम्बाड़ा, लवनानी, लम्बानी आदि नामों से भी पुकारी जाती हैं। ये लोग अपने को सुग्रीव, के वंशज, बताते हैं। इनकी स्त्रियाँ सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध होती हैं। ये आभूषणों और वस्त्रों की बहुत शौकीन होती हैं। अपने पूरे शरीर को बंजारा युवतियाँ चमकदार वस्त्रों व मूल्यवान आभूषणों से ढके रहती हैं। कहा जाता है कि मुग़ल सेना जब उत्तर से दक्षिण गई थी और दक्षिण से वापिस आई थी तब उनके साथ बंजारा युवतियों का दस्ता भी गया था। ये बड़ी परिश्रमी और साहसी होती हैं। संगीत और नृत्य इनकी रग-रग में भरा होता है। ये आमोद-प्रमोद से मस्त जीवन व्यतीत करते हैं किन्तु इनको यदि किसी ने भूल से छेड़ दिया तो ये उसकी बुरी दशा कर देती हैं।

डुम्मरां

ये एक नर्तक जाति के हैं और खानावदोश जीवन व्यतीत करते हैं। इनकी स्त्रियाँ पतले और छरहरे शरीर की होती हैं। शरीर गठा हुआ और लोचदार होता है जिससे कि वह रस्सी पर चल सकें तथा नटबाजी के करामात दिखाकर लोगों का मनोरंजन कर सकें। नटबाजी इन लोगों की आय का मुख्य साधन होता है। यहाँ तक कि कुछ बालिकाओं का विवाह बाँस और तलवार के साथ इसलिए किया जाता है कि वह नट और कलाबाजी द्वारा अपने जीवन में जनता का मनोरंजन करती रहेगी।

विवाह के पूर्व डुम्मरां बालिकाओं को प्रेम करने और दूसरों से यौन-सम्बन्ध रखने में स्वच्छंदता मिली होती है। विवाह के पश्चात् भी दम्पति को अन्य व्यक्तियों से यौन-सम्वंध की स्वच्छंदता मिली है। ये लोग दूसरी जातियों की बालिकाओं को भगाकर लाने में निपुण होते हैं और युवतियों को इनके यहाँ मंदिरों और तीर्थों पर अर्पित करने की प्रथा है। ऐसा करने के बाद वे युवतियाँ बिना किसी लोक-लाज के वेश्यावृत्ति कर सकती हैं और समाज में उनका सम्मान उसी प्रकार बना रहता है।

बेड़िया

यह एक घुमन्तू जाति है और पूरे उत्तर भारत में पाई जाती है। इनके यहाँ नारियों की दशा बहुत ही गिरी हुई है। इस जाति के विवाह-संस्कार भी बड़े असम्मानपूर्वक सम्पन्न होते हैं। इनके यहाँ स्त्रियों से खुले रूप में वेश्यावृत्ति कराई जाती है जो इनकी आय का एक प्रमुख साधन है। यहाँ तक कि विवाह योग्य बालिकाओं को वेश्यावृत्ति हेतु सुरक्षित रखा जाता है जिससे कि वह वेश्यावृत्ति द्वारा पैसा कमाकर दें।

डोम

क्रुक के अनुसार डोम भारत के मूल निवासियों में से है। इतिहासकार डोम को द्रविड़ों की एक जाति बताते हैं। इनकी स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक बुद्धिमान होती हैं। इनका शरीर गठा हुआ और स्वास्थ्य अच्छा होता है। इनके समाज में स्त्रियों को यौन-स्वतंत्रता प्राप्त होती है। वे अन्य पुरुषों से भी प्रेम कर सकती हैं और यौन-सम्बध रख सकती हैं।

साँसियाँ

इनकी स्त्रियाँ अपराध करने में पुरुषों को पूरा सहयोग देती हैं। अपराधों की जासूसी का काम ये बड़े अच्छे ढंग से करती हैं। बताया गया है कि चोरी का आभूषण और पैसे ये अपने अन्दर के कपड़ों की जेब में इस तरह छिपा लेती है कि आसानी से पता लगाना बड़ा कठिन होता है।

बेंड़िन नर्तकी का नाच

करवाल

यह जाति पूरे उत्तर भारत में पाई जाती है। कहा जाता है कि भाँतू और करवाल एक ही जाति है और उनमें कोई भेद नहीं है। इनके यहाँ स्त्रियों का विशिष्ट स्थान है क्योंकि इनकी मुखिया एक अधेड़ उम्र की स्त्री होती है। उसके हाथ में दल का पूरा निर्देशन रहता है। इनकी शिविर-योजना मुखिया बनाती है। दल में वह अनुशासन रखती हैं और आपस के झगड़े भी वह निपटाती हैं। अनुशासन न बरतने पर मुखियाँ अपने दल के सदस्यों को दंडित भी करती है। अपराध से जो माल की प्राप्ति होती है उसमें मुखिया को बड़ा अच्छा भाग मिलता है। इसी प्रकार विवाह आदि सामाजिक संस्कारों में मुखिया को साड़ी व अन्य उपहार दिये जाते हैं। मुखिया का उत्तराधिकारी उसकी बड़ी बहू के अतिरिक्त और कोई दूसरा नहीं बन सकता।

इस जाति में भी यौन-स्वच्छंदता पाई जाती है किन्तु इन लोगों का विश्वास है कि अपनी जाति के अन्दर यौन-स्वच्छंदता अनैतिक है। अतएव ये लोग अपनी जाति के बाहर के व्यक्तियों से यौन-सम्बन्ध रख सकते हैं। यही कारण है कि इनकी संतान मिश्रित रक्त की पाई जाती है। ये लोग पशु चुराने में बड़े प्रवीण होते हैं, विशेषकर बकरे को चुराने में। बकरे की गर्दन को इस प्रकार मरोड़ देते हैं कि यह बोल भी नहीं पाता। इनकी स्त्रियाँ अपने घाघरे में बकरे को छिपाने में दक्ष होती है। कहते हैं कि इनके घाँघरे 50-60 गज़ कपड़े के होते हैं जिसमें वे आसानी से एक बकरे की छिपा लेती हैं।

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि इन्हें विमुक्त हुए कई दशक हो गये हैं किन्तु अब भी इनकी दशा बड़ी शोचनीय बनी हुई है विशेषतया इनकी नारियों की दशा और अधिक गिरी हुई है जिनका यौन-स्वतंत्रता के नाम पर अनेक प्रकार से बुरी तरह शोषण किया जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि केवल कानून बना देने या निरस्त कर देने से किसी जाति का सुधार नहीं होता है। किसी जाति में समाज-सुधारक बड़े सफल हो सकते हैं यदि वे पूरी लगन से सुधार करने को तैयार हों। और यदि धार्मिक नेता भी समाज-सुधारकों के साथ बिना किसी संकोच के अपना पूर्ण योगदान दें तो यह काम और आसान हो सकता है।

4

आदिवासी क्षेत्रों की यात्रा

किन्नर आदिम जाति

भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य में 'किन्नर जाति' का विवरण "गंधर्वों" के साथ मिलता है। प्राचीन साहित्य के अनुसार किन्नर जाति के लोग संगीतकार होते थे। महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' में भी किन्नर जाति का विवरण मिलता है, जो इस प्रकार है :- "विरही यक्ष" उड़ते हुए मेघ से अपनी 'यक्षिणी' के पास जब सन्देश भेजता है तो कहता है कि उसके देश में किन्नर लोग संगीत करते हुए मिलेंगे। आधुनिक तिब्बत प्रदेश को यक्षों का देश कहा जाता था जहाँ पर कभी पौराणिक ग्रन्थों के अनुसार धन का राजा 'कुबेर' राज करता था। किन्नौर जिला, जहाँ किन्नर जाति पाई जाती है तिब्बत की सीमा से मिलता है और इस जिले की प्रमुख हिम-चोटी को "किन्नर-कैलाश" कहा जाता है। अतः सिद्ध होता है कि हिमाचल प्रदेश के किन्नौर जिले के किन्नर लोगों को ही प्राचीन साहित्य में 'किन्नर' कहा जाता था।

संस्कृत भाषा में 'किन्नर' शब्द का अर्थ होता है किं+नर ? अर्थात् यह नर है या नारी ? वास्तव में किन्नर जाति के नर-नारी बड़े सुन्दर और गौर वर्ण के पाए जाते हैं तथा दोनों की वेषभूषा प्रायः एक ही रहती है। किन्नर नर और नारियां रंगीन सुन्दर टोपी पहनते हैं, कान के ऊपर और टोपी के ऊपर फूल सजाते हैं और गले में फूल-माला पहनते हैं। सरस्वती की कृपा से इन लोगों को मधुर कंठ भी मिला हुआ है। इस प्रकार दूर से किन्नर नर और नारी एक समान ही दिखाई देते हैं। यह जन-जाति भारतवर्ष में केवल किन्नौर जिले में पाई जाती है जिसकी जनसंख्या 1961 ई० जनगणना के अनुसार 40 हजार के लगभग बताई जाती है। इस जनजाति की उत्पत्ति भारतीय बताते हैं। यहाँ के नर-नारी औसत क़द के होते हैं। सुन्दर गौर-वर्ण सभी को मिला हुआ है। आर्यों की तरह इन लोगों की नाक सुन्दर व उठी हुई और तीखी होती है। नारियों के नेत्र विशाल और कृष्ण-वर्ण होते हैं। किन्नर बालिकाएं और नारियाँ कश्मीरी युवतियों की तरह बड़ी आकर्षक और सुन्दर होती हैं। शीत जलवायु होने के कारण यहां के लोगों में विशेषकर

बालिकाओं और नारियों के मुखों में गुलाबी रंग देखने को मिलता है जो स्वास्थ्य और सुन्दरता का प्रतीक है।

अक्टूबर 1970 के द्वितीय सप्ताह में मुझे हिमाचल प्रदेश जाने का अवसर मिला। दिल्ली से कालका तक 'कालका मेल' द्वारा यात्रा की, जो बड़ी सुविधाजनक रही- कालका हरियाणा राज्य का अन्तिम स्थान है और उसके ऊपर हिमाचल प्रदेश प्रारम्भ हो जाता है। कालका से शिमला 56 मील है और पहाड़ी रास्ते द्वारा शिमला तक पहुंचना होता है। अधिकतर यात्री कालका से शिमला मोटर बस और टैक्सी द्वारा जाते हैं क्योंकि उससे समय और पैसा दोनों की बचत होती हैं। यह 56 मील का रास्ता पूर्णतः पहाड़ी है किन्तु विदेशी शासन-काल में ही कालका से शिमला तक रेल बनाई गई, जो वास्तव में एक बड़ा कठिन कार्य रहा होगा। अंग्रेजी शासन-काल में भारत के वाइसराय गर्मियों के दिनों में दिल्ली की तपती धूप से बचने के लिए शिमला में कुछ दिनों के लिए निवास करते थे। अतः हो सकता है वहाँ तक रेल ले जाने का यही मुख्य कारण रहा हो। कुछ भी हो, रेल इंजीनियरों ने शिमला तक रेल बिछाकर कमाल का काम किया है। पहाड़ों में सड़क बनाना बड़ा कठिन काम होता है और फिर रेल ले जाने में तो बहुत कठिनाइयों और बाधाओं का सामना करना पड़ा होगा। कालका से शिमला तक 100 से अधिक सुरंगें मिलती हैं जिनके अन्दर से रेलगाड़ी जाती है। मैंने कालका से शिमला तक रेल कार द्वारा यात्रा की जो बहुत ही सुखद थी। यह रेल कार मोटर गाड़ी की तरह होती है जिसमें 10 यात्री आराम से बैठ सकते हैं किन्तु यह रबड़ के पहियों के स्थान पर रेल की पटरियों पर चलती है। 7 बजे हमारी रेल कार कालका से चली ओर साढ़े चार घन्टे में हमें उसने शिमला पहुँचा दिया। रेल कार द्वारा समय तो अधिक लगा किन्तु पहाड़ी रास्ते की थकावट नहीं लगी और जिन रास्तों से रेल होकर गई वहाँ से रमणीक दृश्य बड़े आराम से दृष्टिगोचर हुए। चूंकि जुलाई और अगस्त के महीने में वर्षा हो चुकी थी, अतएव रास्ते भर हरियाली देखने को मिली तथा ओक, चीड़, देवदार आदि पहाड़ी वृक्षों के अतिरिक्त रंग-बिरंगे मौसमी फूल देखने का आनंद भी प्राप्त हुआ।

शिमला में एक दिन रहने के बाद अगले दिन जीप से मैं किन्नौर जिले के लिये चल पड़ा। शिमला से कालपा (किन्नौर) 150 मील है और पूरा रास्ता पहाड़ी है, सड़क पक्की है और अधिकांश रास्ता सतलुज नदी के किनारे-किनारे है जिसके कारण रास्ते की थकावट अधिक नहीं मालूम होती। यह सड़क 1962 ई० में चीनी आक्रमण के बाद बनाई गई। उसके पहले किन्नौर पैदल रास्ते द्वारा ही जाया जा सकता था। सड़क के बनाने में बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा क्योंकि अनेक स्थानों पर विशाल पत्थर की चट्टानों को काटकर रास्ता बनाया गया है। कहीं-कहीं पर ऐसा लगता है कि पत्थरों

की महराब के नीचे से सड़क निकाली गई है। बताते हैं कि इस सड़क के बनाने में सैकड़ों व्यक्तियों की जानें चली गई। पत्थरीले पहाड़ों पर सड़क बनाने में बहुत दूर से पेड़ों पर रस्सी बांधकर श्रमिकों को काम करना होता था और रस्सियों से लटक कर बहुत थोड़े पत्थर सुबह से शाम तक ये लोग तोड़ पाते थे। प्रारम्भ में गोरखा श्रमिकों ने इस सड़क पर काम किया और इसको बनाने में सैकड़ों गोरखा श्रमिकों ने अपने प्राण भी दिये अतः हमें उन का ऋणी होना चाहिये।

रास्ते में रामपुर बुशहर कस्बा पड़ता है जो शिमला और कालपा के मध्य में स्थित है। कुछ वर्ष पहले किन्नौर क्षेत्र रामपुर बुशहर राजा के अधीन था और जागीरदारों द्वारा यह राजा किन्नौर में शासन करता था। सतलुज नदी पूरे रास्ते भर सड़क के नीचे-नीचे बहती है और उसकी जल-धारा कहीं-कहीं पर सड़क से सैकड़ों गज़ नीचे दिखाई देती है। नदी का जल बड़ा स्वच्छ और नीला था। बड़ी-बड़ी चट्टानों को काटकर नदी बहाव को ले जाती है जो देखने योग्य है। ऐसा लगता है कि पत्थरों की विशाल चट्टानों को किसी ने छेनी और हथौड़ी द्वारा काटा हो। यहाँ पर सतलुज, पहाड़ी नदी होने के कारण बड़े वेग के साथ बहती है और उसकी कल-कल ध्वनि बड़ी कर्ण-प्रिय लगती है। दिन भर चलने के बाद शाम को हम किन्नौर जिले के मुख्यालय कालपा में पहुँचे जो समुद्र तल से 9000 फीट की ऊँचाई पर स्थित है। यह सतलज नदी के ऊपर बसा हुआ है जिसके दूसरी ओर किन्नर-कैलाश की शुभ्र-धवल हिम चोटी दूर तक फैली दृष्टि-गोचर होती है। यह स्थान वैसे ही काफी ठण्डा रहता है किन्तु उस शाम को किन्नर कैलाश की दिशा से शीतल मन्द-सुगन्ध वायु आ रही थी जिससे वातावरण बड़ा सुहावना था। कमरे के बाहर अधिक देर तक सर्दी में खड़ा नहीं रहा जा सकता था। कालपा में वन-विभाग का बड़ा अच्छा बंगला है जहाँ पर मैने दो दिन विश्राम किया। रात में कमरे को आग जला कर गर्म करना पड़ा था। संयोगवश चाँदनी-रात थी और उस प्राकृतिक प्रकाश में किन्नर-कैलाश हिम-चोटी बहुत ही मनोरम दिखाई देती थी। रात को मैं सोते से दो-एक बार जब उठा तब खिड़की खोलकर मैं किन्नर कैलाश की अनुपम छटा को थोड़ी देर तक-एकटक देखता रहा। उसके देखने से जो नैसर्गिक सुख की अनुभूति हो रही थी उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

अगले दिन प्रातः उठकर सर्वप्रथम मैंने किन्नर-कैलाश के दर्शन किये। सूर्य की किरणें उस हिम-चोटी पर आनी आरम्भ हो गई थीं और वह हिमचोटी धीरे-धीरे धवल-वर्ण से सुनहरे रंग में परिणित हो रही थी। पूरी हिम-चोटी की ओर देखने से ऐसा लगता था कि चोटी का कुछ भाग चमकदार चाँदी द्वारा निर्मित है और कुछ भाग जहाँ

पर सूर्य की किरणें पड़ रही थीं वह सोने द्वारा निर्मित है। इतनी ऊँचाई पर बहुत कम पक्षी पाये जाते हैं किन्तु फिर भी कुछ पक्षियों का मधुर-कलरव भी सुनाई पड़ रहा था। चरवाहे अपने पशुओं को चरागाहों की ओर ले जा रहे थे। वहाँ के मुख्य पशु भेड़, बकरी, गाय और याक हैं। याक पशु तिब्बत में बहुतायत से पाया जाता है अतएव तिब्बत के निकट होने के कारण यहाँ भी इस पशु को यहाँ के निवासी बहुत दिनों से पालते आये हैं। याक और गाय के मेल से एक नयी नस्ल तैयार की गई है जो देखने में याक और गाय का मिश्रित सा रूप दिखाई देता है। बताया जाता है कि खेती के काम के लिये यह मिश्रित नस्ल बड़ी उपयोगी पाई गई है। पूरे दिन यहाँ के पशु जँगलों में रहते हैं। यहाँ तक कि इनका दूध भी घर से बाहर चरागाहों में दुहा जाता है। यहाँ के निवासी दूध दुहने के लिए भेड़, बकरी के चमड़े का बर्तन रखते हैं जिसमें अपने पशुओं का दूध दुहकर वहीं चट्टनों के नीचे दबा देते हैं और उसे अपने घर में नहीं लाते। यह जानकर आश्चर्य हुआ कि यहाँ के निवासी न तो दूध को दूध के रूप में प्रयोग करते हैं और न ही उसे घर में लाते हैं। यहाँ सर्दी पड़ने के कारण चट्टानों के नीचे रखा हुआ दूध कई दिनों तक खराब नहीं होता। दो-चार दिनों के बाद दूध को निकाल कर उससे मक्खन निकाल लिया जाता है। मक्खन निकालने की प्रक्रिया बड़ी आसान है। चमड़े के बर्तन,-जिसके अन्दर दूध रहता है, को खूब हिलाते हैं और इस प्रकार मक्खन ऊपर की सतह पर आ जाता है। मक्खन निकालने के बाद जो मठ्ठा बचता है उसे ये लोग या तो स्वयं पी जाते हैं या अपने कुत्तों और अन्य पशुओं को पिला देते हैं।

यहाँ जो बाहरी लोग रहते हैं उन्हें ताज़ा दूध प्राप्त नहीं होता। अतएव वे लोग दुग्ध-चूर्ण या संघनित दूध की चाय पीते हैं। उत्तरकाशी (उत्तरांचल) जिले में भी एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ के लोग दूध का प्रयोग बिल्कुल नहीं करते क्योंकि वहाँ दूध को देवता समझा जाता है। यह उत्तरकाशी जिला किन्नौर जिले से सीमा बनाता है। किन्नर लोग जो चाय पीते हैं उसमें दूध का प्रयोग बिल्कुल नहीं होता। उनकी चाय एक विशेष प्रकार ही होती है जिसमें हरी चाय की पत्ती, अखरोट, नमक और मक्खन या घी का प्रयोग होता है। इस चाय का बर्तन भी एक विशेष प्रकार का होता है जो लकड़ी का एक लम्बा खोखला बेलन होता है जिसके अन्दर यह सभी सामग्री गर्म पानी के साथ डाली जाती है और एक लकड़ी की मूसली से उसे कूटा जाता है। चाय पीने के लिए बर्तन पीतल के होते हैं जिनकी आकृति छिछली कटोरी की भाँति होती है। इस चाय को ये लोग 'थंग' कहते हैं और काफी मात्रा में इसे पिया जाता है। थकावट के बाद यह चाय बड़ी ताज़गी और फुर्ती लाती है और मक्खन तथा अखरोट के होने के कारण स्वास्थ्य के लिए यह 'थंग' बड़ी

पोषक भी होती है। भोटिया लोग भी इसी प्रकार की चाय बनाकर पीते हैं जिसे वे 'जा' कहते हैं।

किन्नर जनजाति माँसाहारी होती है जैसा कि अधिकांश आदिम जातियाँ होती हैं। वास्तव में इतने ठंडे क्षेत्र में रहने वाले लोगों को माँसाहारी होना आवश्यक भी होता है। अधिकतर ये लोग भेड़ और बकरे का माँस खाते हैं और इस माँस को सुखाकर भविष्य के लिए रख भी लेते हैं। काफी सर्दी पड़ने के कारण इस प्रकार का माँस दूषित नहीं होता। माँस के अतिरिक्त मौसम की सब्जियाँ होती हैं जैसे गोभी, करमकल्ला, आदि- उन्हें भी सुखाकर रख लिया जाता है। यहाँ के स्थानीय फल-सेव, नासपाती आदि हैं- उन्हें ये लोग काटकर सुखा लेते हैं और जब उनका मौसम नहीं रहता तब उन्हें प्रयोग में लाते हैं। इस क्षेत्र में जौ की खेती काफी होती है और उसका सत्तू यहाँ के लोग बड़े स्वाद से खाते हैं। अब कृषि- विभाग ने गेहूँ का प्रचार काफी किया है। अतएवं यहाँ के किसान जौ के स्थान पर गेहूँ भी पैदा करने लगे हैं। इसके अतिरिक्त मक्का व राजमा आदि भी यहाँ के लोग उगाते हैं और उनका प्रयोग नित्य प्रति के भोजन में किया जाता है। यहाँ के निवासी मद्यपान भी करते हैं और ये लोग अपने घर में ही इसे बनाते हैं। 25 रुपये में शराब बनाने का इन्हें लाइसेन्स मिल जाता है और उससे ये कितनी भी मात्रा में शराब बना सकते हैं। यहाँ सेव, नाशपाती, अंजीर और अँगूर आदि फल पैदा होते हैं जिनका प्रयोग यहाँ के लोग शराब के बनाने में भी करते हैं। जो फल खट्टे और खाने योग्य नहीं रहते या जो जंगली सेव होते हैं उन फलों को सड़ा कर ये लोग शराब बनाते हैं। मद्यपान यहाँ के सभी पुरुष करते हैं किन्तु नारियाँ मद्यपान बिल्कुल नहीं करतीं। मेलों-त्यौहारों के अवसर के लोग अधिक मद्यपान करते हैं और नशे में आकर खूब नाचते-गाते हैं।

दिन में मुझे 'चीनी' और 'दूनी' गाँव देखने का अवसर मिला। चीनी गाँव कालपा से मिला हुआ है और जिले के अनेक अधिकारी चीनी गाँव में ही रहते हैं तथा सभी दुकानें भी चीनी गाँव में हैं। केवल सरकारी कार्यालय कालपा में है जो चीनी गाँव से मिला हुआ है। चूँकि यह जिला 1962 ई० के चीनी आक्रमण के बाद बना इसलिए चीनी गाँव में जिले का मुख्यालय रखना ठीक नहीं समझा गया और कालपा गाँव को जिले का मुख्यालय बनाया गया। कुछ घरों के अन्दर जाकर मुझे इन लोगों का रहन-सहन देखने का अवसर मिला। इन लोगों का जीवन बड़ा सादा है। लकड़ी के मकान होते हैं जो बड़े मज़बूत होते हैं। अधिकतर मकान देवदार की लकड़ी के होते हैं। कुछ मकान पूरे लकड़ी के बने हैं तथा कुछ लकड़ी और पत्थर को मिलाकर बनाये गये हैं। मकानों के दो भाग होते हैं। नीचे वाले भाग में पशुओं को रखा जाता है और उसी में उनका चारा व लकड़ी आदि भरी होती है। ऊपर के भाग में ये लोग स्वयं रहते हैं। सर्दी अधिक पड़ने के कारण

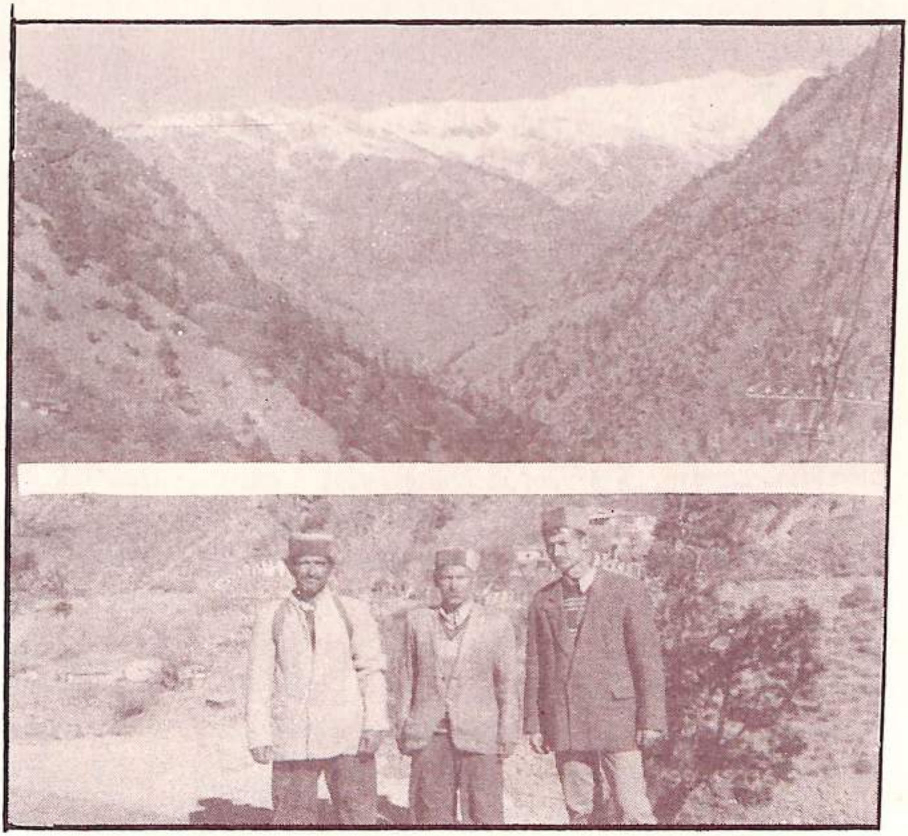

(ऊपर) किन्नौर के पर्वतों का मनोरम दृश्य (नीचे) तीन किन्नौरी पुरुष
(किन्नौरी टोपी लगाए हुए)

मकान में खिड़की और रोशनदान बहुत कम देखने को मिलते हैं। यहाँ तक कि धुआँ निकलने के लिए भी ये लोग चिमनी तक नहीं बनाते और फलस्वरूप जब घर में आग जलती है तो सारा घर धुएँ से भर जाता है। खिड़की-रोशनदान न होने के कारण घर में रोशनी बहुत कम रहती है। घर के अन्दर चारपाई प्रायः नहीं होती और ये लोग फर्श पर ही अपना बिस्तर लगाते हैं।

ठंडे-प्रदेश के निवासी होने के कारण ऊनी कपड़े का प्रयोग वहाँ के लोगों को पूरे वर्ष करना होता है। पुरुष और बच्चे कोट, कमीज़, पाजामा, पैण्ट-धोती और जूते का प्रयोग करते हैं। स्त्रियाँ और बालिकायें, कमीज़, ब्लाउज, घाघरा, शाल और जूतों का प्रयोग करती हैं। टोपियों का प्रयोग स्त्री और पुरुष दोनों यहाँ करते हैं और इनकी टोपी बड़ी रंग-बिरगी होती है जो ऊन और शनील की पुट्टियों द्वारा बनी होती है। टोपी गोल होती है और उसकी आकृति कुछ-कुछ लालाओं की टोपी से मिलती है। टोपी के ऊपर यहाँ के नरनारी फूल लगाते हैं तथा कानों पर भी फूल लगाने का इन लोगों में बड़ा शौक है। स्त्रियाँ आभूषणों की बड़ी शौकीन होती हैं और इनमें चाँदी के आभूषण प्रचलित हैं। बालों के ऊपर, कान, गर्दन, बाजू, कलाई, पैर, और अंगुलियों में चाँदी के ज़ेवर बहुत पहने जाते हैं, जो बड़ी बारीकी और सुन्दरता से बने होते हैं। सम्पन्न घरों की स्त्रियाँ सोने के आभूषण भी पहनती हैं। मेले और त्यौहारों के अवसर पर किन्नर स्त्रियाँ और बालिकायें अपने सभी आभूषण पहनती हैं।

यहाँ के निवासी हिन्दी भाषा अच्छी तरह से समझते और बोलते हैं जबकि इनकी अपनी स्थानीय बोली भी है जिसे ये लोग आपस में बोलते हैं। अपनी बोली में इनके लोक-गीत भी हैं जिन्हें ये लोग समूह के साथ गाते हैं, जो सुनने में कानों को बड़े अच्छे लगते हैं। तिब्बत के समीप होने के कारण 60 प्रतिशत किन्नर जनजाति बौद्ध-धर्म को मानती है। किन्नौर जिले का उत्तरी भाग, जो तिब्बत से मिला हुआ है और ऊँची पहाड़ियों पर स्थित है, के निवासी अधिकतर बौद्ध धर्मावलम्बी हैं। शेष जाति या तो हिन्दू धर्म को मानती है या हिन्दू और बौद्ध दोनों धर्मों के देवताओं को पूजती है। किन्नरों में ब्राह्मण जाति नहीं होती है अतः पुरोहित का काम लामा करते हैं, जो बौद्ध मन्दिरों के पुजारी होते हैं। दूनी गाँव का बौद्ध मन्दिर मैंने देखा जो प्राचीन दिखाई देता था। पूरा मन्दिर लकड़ी का बना हुआ है। मन्दिर के बाहर के भाग में रंगीन कपड़े पर बुद्ध-कथा के अनेक चित्र अंकित किये गये हैं और एक बहुत बड़ा ढोल भी रखा हुआ है। मन्दिर के अन्दर भगवान बुद्ध की बहुत बड़ी मूर्ति देखने को मिली जो मिट्टी की बनी हुई सजीव और ओजपूर्ण प्रतिमा उस मन्दिर में स्थापित है। पूछने से पता चला कि उसे बनाने के लिये तिब्बत से शिल्पकार आये थे। मन्दिर के अन्दर दीवालों पर भगवान बुद्ध की अनेक

जातक-कथायें बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित की गयी हैं। यह सब देखकर मुझसे उन चित्रकारों और कलाकारों की प्रशंसा किये बिना न रहा गया जिन्होंने भगवान बुद्ध का इतना सुन्दर मंदिर इस छोटे से गाँव के अन्दर बनाया है।

चीनी गाँव में "नारायण मन्दिर" देखने को मिला, जिसमें हिन्दू देवताओं की मूर्तियाँ, स्थापित हैं। इस मन्दिर का हाता काफी बड़ा है और लकड़ी तथा पत्थर द्वारा इस विशाल मंदिर को निर्मित किया गया है। प्रत्येक गाँव में कोई न कोई मंदिर यहाँ पाया ज़ाता है क्योंकि ये लोग धर्म में अपना अटूट विश्वास रखते हैं और अपने देवता से बहुत डरते हैं। पास के कोठी गाँव में भगवती देवी का बहुत पुराना मंदिर पाँडवों के समय का बताया जाता है। इसी प्रकार इसी जिले के 'मोरंग' स्थान पर पांडवों के किले के कुछ अवशेष बताये जाते हैं। कोठी मंदिर की भगवती देवी के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ क्योंकि जिस दिन मैं वहाँ ठहरा हुआ था, उसी दिन दूनी गाँव में दशहरा का मेला था। कोठी मंदिर से भगवती देवी की सवारी विधिवत् लायी गयी थी और दूनी गाँव के मंदिर में उसे सम्मानपूर्वक रखा गया था। देवी के सामने किन्नर नर-नारी सामूहिक रूप से वृत्ताकार घेरे बनाकर नाच रहे थे। दशहरे के अवसर पर किन्नर जनजाति बड़ा त्यौहार मनाती है और इस महीने में इन लोगों के पूजा-पाठ तथा मेले आदि चलते रहते हैं जिनमें ये लोग खूब नाचते-गाते हैं तथा आमोद-प्रमोद में व्यस्त रहते हैं। भगवती देवी को लकड़ी के ढाँचे के ऊपर रखा गया था। देवी का ऊपरी भाग सोने के पात्रों द्वारा जड़ित था तथा निचला भाग चाँदी के पात्रों द्वारा जड़ित था। देवी बहुत प्राचीन बताई जाती थीं और उसके देखने से यह अनुमान लगता था कि देवी की स्थापना में एक बड़ी धन-राशि खर्च की गयी होगी। देवी के सामने किन्नर युवक और युवतियाँ हाथ में हाथ मिलाकर गोलाकार घेरों में नाच रहे थे। युवक और युवतियाँ दोनों अपनी रंगीन टोपियाँ लगाये थे, जिनके ऊपर मौसमी फूल लगाये थे। कानों में भी फूल थे तथा गले में फूल-मालायें पड़ी हुई थीं। जो पुजारी नाच का अगुवा था उसके सर पर फूल और पत्तों की टोपी सजी थी और वह हाथ में तलवार या फर्से लिये नाच रहा था। किन्नर युवतियाँ काले घांघरे के ऊपर सफेद शाल डाले बड़ी आकर्षक लग रही थी। रंगीन पुष्प-माला और टोपी के बीच उनके गोरे और सुन्दर मुखड़े बहुत ही मनमोहक दिखते थे। युवतियाँ अपने मधुर कंठ से भगवती देवी की स्तुति में गीत गा रही थीं और पुरुष नशे में झूमते हुये नाच रहे थे- थोड़ी-थोड़ी देर के बाद इन लोगों को चुल्लू में मद्यपान भी कराया जाता था जिससे कि ये लोग थक कर नाचना न बन्द कर दें। जो किन्नर दर्शक गण थे वह भी अपनी वेशभूषा में सज-धजकर आये थे विशेषकर बालिकायें और स्त्रियाँ सोने और चाँदी के आभूषणों को पहनकर आयी थीं तथा अपने शरीर और टोपियों में फूलों को सजाकर खड़ी थीं जो

नर्तकों एवं नर्तकियों के साथ उस अवसर की शोभा बढ़ा रही थीं। कोई-कोई नर्तक अधिक नशे में आकर अपनी नर्तक टोली से अलग हो जाता था और झगड़ा भी करने लगता था। उस समय उसके घर के पुरुष और स्त्रियाँ आकर उसे संभालते थे और वह जब क़ाबू के बाहर हो जाता था तो उसे देवी के सामने से दूर हटा दिया जाता था। गाने के साथ-साथ कुछ लोग ढोल, डपले, झाँझ और बड़े बिगुल बजा रहे थे। नाचने और गाने के साथ इस प्रकार की देवी-पूजा दशहरे के अवसर पर कई दिन तक इन लोगों में चलती रहती है। आधी रात तक ये लोग देवी के सामने नाचे और उसके बाद भगवती देवी की सवारी चीनी गाँव के नारायण मन्दिर में ले गये जहाँ आधी रात के बाद प्रातःकाल तक इन लोगों का नाच-गाना चलता रहा। भगवती देवी के प्राँगण में मुझे अस्पृश्यता का स्वरूप भी देखने को मिला। देवी के ठीक सामने जो लोग नाच रहे थे। वे किन्नर राजपूत थे और कुछ दूरी पर जो नाच रह थे वे किन्नर जनजाति की अस्पृश्य जाति के लोग थे। 60 प्रतिशत किन्नर लोग राजपूत हैं और शेष अस्पृश्य हैं जिनमें कोल, कोली, कोलटा, चमार, लुहार, आदि जातियां आती हैं। इन जातियों को मन्दिरों के अन्दर प्रवेश करने की अनुमति नहीं है। राजपूत लोग अस्पृश्य जातियों को घरों के अन्दर भी नहीं जाने देते। मैंने एक राजपूत वृद्ध पुरुष से कुछ बातचीत भी की जिससे पता चला कि प्राचीन समय में इन अस्पृश्य जातियों के पूर्वजों ने याक का माँस खा लिया था जिस पर देवी ने रुष्ट होकर उन्हें शाप दिया और तब से ये लोग अस्पृश्य समझे जाने लगे। यह केवल एक किम्वदन्ती है किन्तु सत्य यह है कि अस्पृश्य जातियों के ये लोग मन्दिरों और घरों के अन्दर नहीं जा सकते।

किन्नौरी बाला (अपनी पारम्परिक वेशभूषा में)

पूरे किन्नौर क्षेत्र में दशहरा के अवसर पर भगवती देवी या स्थानीय देवता की पूजा की जाती है। इस जिले के एक क्षेत्र में कंस की भी पूजा होती है जिसका अर्थ यह होता है कि उस क्षेत्र में कंस के अनुयायी कभी रहे होंगे। इसी प्रकार उत्तरकाशी (उत्तरांचल) जिले की एक पट्टी में दुर्योधन की पूजा की जाती है और दुर्योधन के मन्दिर वहाँ के गाँवों में पाये जाते हैं। कालपा और रामपुर बुशहर के बीच में एक गाँव 'सेंज' पड़ता है यहाँ पर ऊषा देवी का मन्दिर है जिसकी पूजा वहाँ के लोग करते हैं। बताते हैं कि यह ऊषा वाणासुर राक्षस की पुत्री थी जिसके साथ कृष्ण के पौत्र ने विवाह किया था।

किन्नर जनजाति में अधिकतर प्रेम-विवाह होते थे। मेले और त्यौहारों में प्रेमी अपनी प्रेमिका से मिलता है और वहाँ से ही प्रेमी अपनी प्रेमिका को भगाकर अपने घर ले जाता है। उसके पश्चात् लड़की के पिता के यहाँ लड़के का पिता कुछ रुपया और शराब की बोतल एक व्यक्ति के हाथ भेजता है। यदि लड़की का पिता राज़ी हो जाता है तो वह लड़के वालों के यहाँ आता है और उसका अच्छी तरह आदर-सत्कार किया जाता है। कुछ मामलों में लड़की का बाप लड़के वालों को पता देता है कि उसकी लड़की अमुक समय में अमुक स्थान पर रहेगी जहाँ से लड़का उसे भगाकर ले जा सकता है। निश्चित समय और स्थान पर लड़का वहाँ पहुँचता है और लड़की को घसीटकर अपने घर ले आता है। यदि लड़की राज़ी हो जाती है तो कोई बात नहीं। लड़की के राजी न होने पर लड़की का पिता तथा अन्य निकट सम्बन्धी आते हैं जो लड़की को फुलसाकर राज़ी करते हैं। यदि लड़की फिर भी राज़ी नहीं हुई तो उसे वापस लड़की का पिता अपने घर ले जाता है।

जब से किन्नरों में शिक्षा का कुछ प्रसार हुआ है या लोग शिक्षित होकर बाहर आने-जाने लगे हैं तब से शिक्षित परिवार में मध्यस्थ द्वारा भी विवाह तय होने लगे हैं जैसा कि शेष समाज में होता है कि एक व्यक्ति दोनों पक्षों के मध्य बीचवानी का काम करता है। विवाह का विधिवत् समारोह इनके यहाँ वर्षों बाद किया जाता है। बिना विवाह-संस्कार के लड़की और लड़का वर्षों तक पत्नी और पति के रूप में रहते हैं तथा उनकी संतान उत्पन्न होने के बाद भी यदि लड़की रहने को राज़ी नहीं होती तो वह अपने पिता के घर वापस चली जाती है और उसका विवाह अन्यत्र कहीं हो जाता है। इस प्रकार यहाँ स्त्रियों को काफी स्वतन्त्रता मिली हुई है। विवाह का संस्कार यहाँ के लामाओं द्वारा कराया जाता है।

किन्नर समाज में बहुपतित्व प्रथा प्रचलित है। एक स्त्री के कई पति होते हैं और यही कारण है कि इस जनजाति की जनसंख्या अधिक नहीं बढ़ सकी है। सौगला आदि अनेक गाँवों में अविवाहित नारियों की संख्या सैकड़ों बताई जाती है। यहाँ की प्रथा के अनुसार जो बड़ा भाई होता है उसी का विवाह किया जाता है और बड़े भाई की पत्नी

सभी भाइयों की सह-पत्नी होती है। इसी प्रकार की प्रथा उत्तरांचल के देहरादून की जौनसारी जनजाति में पायी जाती है किन्तु उन लोगों में बहुपतित्व के साथ बहुपत्नी प्रथा भी साथ-साथ चलती है। कुछ भी हो, यहाँ की नारियों के ऊपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व रहता है और उसके लिए अपने सभी पतियों को खुश करना सदैव एक महान समस्या रहती है। इसके साथ-साथ उस बेचारी को पूरे घर और बाहर का काम करना पड़ता है। यहाँ यह बताना आवश्यक होगा कि पहाड़ की स्त्रियाँ घर और खेत दोनों स्थानों का काम देखती है- दिन रात उन्हें बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। बहुत सी स्त्रियाँ तो अधिक काम तथा पतियों की अनावश्यक यातना के फलस्वरूप अपनी ससुराल छोड़कर अपने माँ-बाप के पास वापस चली जाती हैं और दूसरा विवाह कर लेती हैं। ऐसा करने से इनके समाज में कोई अड़चन नहीं होती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किन्नरों की सभ्यता और संस्कृति बहुत ही प्राचीन तथा स्वतंत्रतापूर्ण है। नर और नारी दोनों को यौन-विषयों पर समान अधिकार मिला हुआ है। ये लोग आमोद-प्रमोद प्रिय हैं और अपने अतिथि का बड़ा सत्कार भी करते हैं। जो कुछ ये लोग कमाते हैं उसे खा-पीकर मौज मनाते हैं। इनमें जोड़ने की प्रवृत्ति नहीं होती।

इन्हें यह चिंता नहीं रहती कि भविष्य के लिए भी कुछ अन्न या धन-संग्रह किया जाय। "खाओ पीयो और मस्त रहो" -में ये लोग विश्वास रखते हैं।

यहाँ के निवासी अधिकतर कृषि द्वारा अपनी जीविका चलाते हैं। पूरा जिला पहाड़ी है जहाँ खेत सीढ़ी नुमा होते हैं। इस जिले में वर्षा भी 8-10 इंच वार्षिक से अधिक नहीं होती। अतएव जहाँ पर सिंचाई की व्यवस्था है, केवल वहीं पर अच्छी खेती हो सकती है। अधिकतर भूमि किन्नर राजपूतों के पास है जो रामपुर बुशहर के राज के समय से उस ज़मीन के मालिक चले आ रहे हैं। जो हरिजन (अस्पृश्य) हैं उनके पास आरम्भ से खेती बहुत कम है। ये लोग राजपूतों के खेतों में काम करके अपना पेट पालते रहे हैं। जब से भूमि-सुधार योजना लागू हुई है तब से कुछ भूमि किन्नर हरिजनों को भी मिली है किन्तु अभी इन लोगों के पास बहुत कम खेती है। शेष हरिजन लोग सड़कों आदि पर काम करके अपनी जीविकोपार्जन करते हैं। इस समय भी भूमि-सुधार-योजना के अन्तर्गत कुछ भूमि का आवंटन किया जा रहा है जिसमें यदि हरिजनों को कुछ भूमि मिल सके तो उनका बड़ा भला हो सकता है। प्रत्येक गाँव में देवता की पर्याप्त भूमि पाई जाती है जिसे हरिजनों को खेती के लिए दिया जा सकता है। भूमि-आवँटन में 'हरिजनों' के लिए कोई आरक्षण नहीं है जिसके फलस्वरूप बेचारे हरिजनों को बहुत कम भूमि सरकार से मिल पाई है और अधिक भूमि उन्हीं लोगों को मिली बताते हैं जिनकी ऊपर तक पहुँच है या जिनका राजनीति एवं सरकारी नौकरियों में प्रतिनिधित्व है। हरिजनों को भूमि दिलाने के लिए आवश्यक होगा कि भूमि-आवंटन में हरिजनों के लिए कुछ प्रतिशत भूमि सुरक्षित

रखी जाय। इसी प्रकार सरकार द्वारा विकास एवं कुटीर उद्योग-धन्धों के लिए जो ऋण और अनुदान दिया जाता है उनसे भी हरिजनों को समुचित रूप से लाभ नहीं मिलता। कुछ इनेगिने हरिजनों को ही सरकारी ऋण और अनुदान मिल पाते हैं। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि सरकार द्वारा जो भी ऋण-अनुदान दिया जाय तथा खेती व बागवानी के लिए जो भूमि दी जाय उसमें हरिजनों के लिए समुचित आरक्षण अनिवार्य रूप से हो। वरना हरिजनों की आर्थिक दशा नहीं सुधर पायेगी। और जब तक उनकी आर्थिक दशा ठीक नहीं रहेगी तब तक वे अपनी सामाजिक, शैक्षिक और राजनैतिक दशा में भी पर्याप्त सुधार नहीं कर पायेंगे।

कालपा में हिमाचल प्रदेश सरकार द्वारा एक बड़ा अच्छा कृषि अनुसंधान केन्द्र चलाया जा रहा है जिसमें आलू, गोभी आदि के अच्छे बीज तैयार किये हैं और उन्हें किन्नौर के किसानों में प्रचलित किया है। हिमाचल प्रदेश सरकार ने आलू और सेव की खेती में बड़ी उन्नति की है जिससे वहाँ के किसानों की आर्थिक दशा पहले से अच्छी हो गई है। जिला कृषि अधिकारी ने मुझे अनुसंधान केन्द्र दिखाया और मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि गेहूँ, आलू और गोभी की तरह सेव, नासपाती, बादाम, चिलगोजा, अखरोट आदि फलों के उन्नत-बीज तैयार करने में भी इस केन्द्र द्वारा बड़ा अच्छा काम किया गया है। उपरोक्त फलों की बीसों किस्मों के पेड़-पौधे उस केन्द्र में देखने का मिले। यह जानकर और भी प्रसन्नता हुई कि वहाँ के किसान उन्नत किस्म के फलों की बाग़वानी करने लगे हैं और गेहूँ', आलू आदि की उन्नत फसल भी खूब तैयार करने लगे हैं। उद्योग-विभाग द्वारा दूनी गाँव में एक औद्योगिक-प्रशिक्षण संस्थान भी चलाया जाता है। मुझे इस संस्थान को भी देखने का अवसर प्राप्त हुआ जहाँ पर मैंने किन्नर बालकों और बालिकाओं दोनों को प्रशिक्षण प्राप्त करते हुए पाया। यह जानकर मुझे आश्चर्य और निराशा भी हुई कि संस्थान में छात्रों के लिए छात्रावास की व्यवस्था है किन्तु छात्राओं के लिए नहीं। लगभग एक दर्जन बालिकायें बड़ी दूर से आकर इस संस्थान में सिलाई, कटाई, आदि का प्रशिक्षण प्राप्त कर रही हैं और वे गाँव में किराये का मकान लेकर रहती हैं। भारत के अधिकांश ग्रामीण स्थानों से बालिकायें अपने घर से दूर आकर इस प्रकार शिक्षा नहीं ग्रहण कर पातीं क्योंकि बाहर भेजने में उनके माता-पिता को डर रहता है। चूँकि किन्नर-समाज में नारियों को काफी स्वतंत्रता है तथा किन्नर बालिकाओं और नारियों में आत्म-विश्वास की भावना इतनी प्रबल है कि वे अपने गाँव से अकेले आकर ऐसे विषम वातावरण में भी अपनी शिक्षा ग्रहण करती हैं। वास्तव में साहसी किन्नर बालिकायें बड़ी प्रशंसा की पात्र हैं। सरकार को ऐसे स्थानों पर पहले छात्राओं के छात्रावास बनाने चाहिए और बाद में छात्रों के छात्रावास या दोनों साथ-साथ।

हिमाचल प्रदेश सरकार ने इस जिले में बहुत सी पाठशालायें और विद्यालय खोले हैं किन्तु अभी भी किन्नर जनजाति में साक्षरता कम है। सड़कों पर बड़े भोले-भोले और सुन्दर किन्नर बालक और बालिकायें काम करते हुए देखे जा सकते हैं। उन्हें इस अवस्था में पाठशाला में होना चाहिए, न कि सड़क पर श्रमिक के रूप में। सड़कों पर काम करते हुए भी किन्नर युवक, युवतियों, बालक और बालिकाओं के सिर पर उनकी सर्वप्रिय रंग-बिरंगी टोपी देखी जा सकती है जिस पर कुछ लोग फूल भी लगाए रहते हैं। वर्तमान पाठशालाओं-विद्यालयों के अतिरिक्त इन जनजातियों के विशेषकर अस्पृश्य किन्नर जनजाति के बच्चों के लिए कुछ आश्रम-विद्यालय भी खोले जाने चाहिए जहां पर निर्धन छात्र-छात्राओं को सरकार द्वारा निःशुल्क शिक्षा मिल सके और शिक्षा के साथ-साथ उन्हें सरकार से वस्त्र, भोजन आदि भी निःशुल्क प्राप्त हो। ऐसे आश्रम-विद्यालयों में आधे छात्र-छात्रायें अस्पृश्य जनजातियों के होने चाहिए जिससे कि इन गरीबों में और अधिक शिक्षा का प्रसार हो सके।

जब से किन्नर जिला अलग से बना है तब से यहाँ के निवासियों में बड़ी राजनीतिक जागृति आयी है। इस जागृति के साथ-साथ इन लोगों में सामाजिक और आर्थिक जागृति भी जाग उठी है और सरकारी सुविधाओं की सहायता से किन्नर जनजाति प्रयत्न कर रही है कि उसकी आर्थिक दशा में पर्याप्त परिवर्तन हो। तथापि राजनीतिक चेतना आने से इनकी धार्मिक व्यवस्था में कोई कमी नहीं हुई। यहाँ के लोगों द्वारा मुझे पता चला कि पिछले आम चुनाव में कोठी की भगवती देवी के कहने पर इन लोगों ने अपने मत दिये। उन्होंने बड़ी दिलचस्प बात बताई कि मत डालने से पहले दोनों उम्मीदवारों को देवता के सम्मुख खड़ा किया गया। देवता को पुजारी ने थोड़ी देर तक हिलाया और हिलाने के बाद देवता का मुख जिस उम्मीदवार की ओर रुक गया उसी को वहाँ के निवासियों ने यह कह कर मत दिये कि यह देवता का आदेश है और अन्त में वही उम्मीदवार विजयी भी हुआ।

भारत की यह प्राचीन और सुन्दर जनजाति अपने प्राचीन धर्म और सुन्दर संस्कृति को क्या भविष्य में भी इसी प्रकार जीवित रख सकेगी ?

उत्तराकाशी के जाड (भोटिया)

तिब्बत और हिमाचल प्रदेश की सीमा से लगे हुये जिला उत्तरकाशी (उत्तरांचल) में लगभग पच्चीस हज़ार भोटिया रहते हैं और अपने को 'जाड' कहते हैं- भोटिया नाम से वहाँ उन्हें कम ही जाना जाता है। पड़ोसी जिला चमोली (उत्तरांचल) में भोटियों को "तालछा" और "मारछा" नाम से जाना जाता है और दूसरे पड़ोसी जिला पिथौरागढ़ में भोटिया अपने को "शौका" कहते हैं- 'भोटिया' बहुत कम कहते हैं। इससे यह प्रगट होता है कि उत्तर प्रदेश में "भोटिया" शब्द लोकप्रिय नहीं है। "वास्तव में" भोटिया शब्द की उत्पत्ति भूटान से हुई है। असम और बंगाल में भूटान के व्यापारियों को भोटिया कहा जाता है। भूटान के ये भोटिया तिब्बत से उसी प्रकार व्यापार करते थे जिस प्रकार उत्तरकाशी के जाड, चमोली के तोलछा और मारछा एवं पिथौरागढ़ के शौका करते थे।

सन् 1949 ईसवीं में तिब्बत पर चीन का कब्जा हो जाने के बाद भोटिया व्यापारी विस्थापित हो गये क्योंकि तिब्बत से उनके व्यापार के रास्ते बन्द हो गये। इसके पूर्व तिब्बत से इनका व्यापार बड़ा अच्छा चलता था और इन्हें व्यापार से 100 से लेकर 200 प्रतिशत तक लाभ होता था। ये भारत से चीनी, गुड़, नमक, मसाले आदि तिब्बत ले जाते थे और वहाँ से तिब्बती ऊन भारत लाते थे। चीन द्वारा भोटियों का यह व्यापार बन्द कर देने के कारण इनकी आर्थिक दशा अत्यधिक प्रभावित हुई है। तथापि सन् 1949 ईसवी के बाद से नेपाल और चीन के मध्य व्यापार काफी बढ़ा है अतएव तिब्बती ऊन अब अनधिकृत रूप से नेपाल होकर भारत आती है किन्तु उतनी मात्रा में अब नहीं आती। तिब्बती ऊन की भारत में अब भी बड़ी माँग है क्योंकि वह उच्च गुणवत्ता की होती है। सुन्दर एवं उत्तम गलीचे व कपड़े तिब्बती ऊन से ही अच्छे बनते हैं-देशी ऊन के जो गलीचे व कम्बल बनते हैं वे मोटी गुणवत्ता के होते हैं। अतएव उत्तम गलीचे-कम्बल बनाने के लिये भोटियों में तिब्बती ऊन की सदैव माँग रही है।

उत्तरकाशी जिले के भटवारी ब्लाक में हरसिल गाँव स्थित है जहाँ जून 1969 में मेरा जाना हुआ था। यहाँ के अधिकतर निवासी जाड (भोटिया) हैं। हरसिल के अलावा भटवारी ब्लाक के नील्लंग, जादुंगा और बगोरी गावों में भी जाड निवास करते हैं इस प्रकार वहाँ जाडों की कुल संख्या बीस हज़ार से अधिक होगी- केवल हरसिल में ही कई सौ जाड स्थाई तौर पर निवास करते हैं। हरसिल गाँव गंगा नदी के ऊपर उत्तरकाशी से 46 मील की दूरी पर स्थित है। यह बड़ा रमणीक स्थान है और चारों ओर से हिमालय पर्वत की गगनचुम्बी चोटियों से घिरा है। नदी के दोनों ओर देवदार के घने वन बड़ा मनोरम दृश्य उपस्थित करते हैं और कुछ दूरी पर गंगोत्री की धवल हिम-चोटियाँ भी चमकती दृष्टिगोचर होती हैं। इस स्थान पर अनेक छोटी नदियाँ तेज गति से आकर गंगा में मिलती हैं। समुद्र तल से इस स्थान की ऊँचाई 8000 फीट से अधिक है और यहाँ

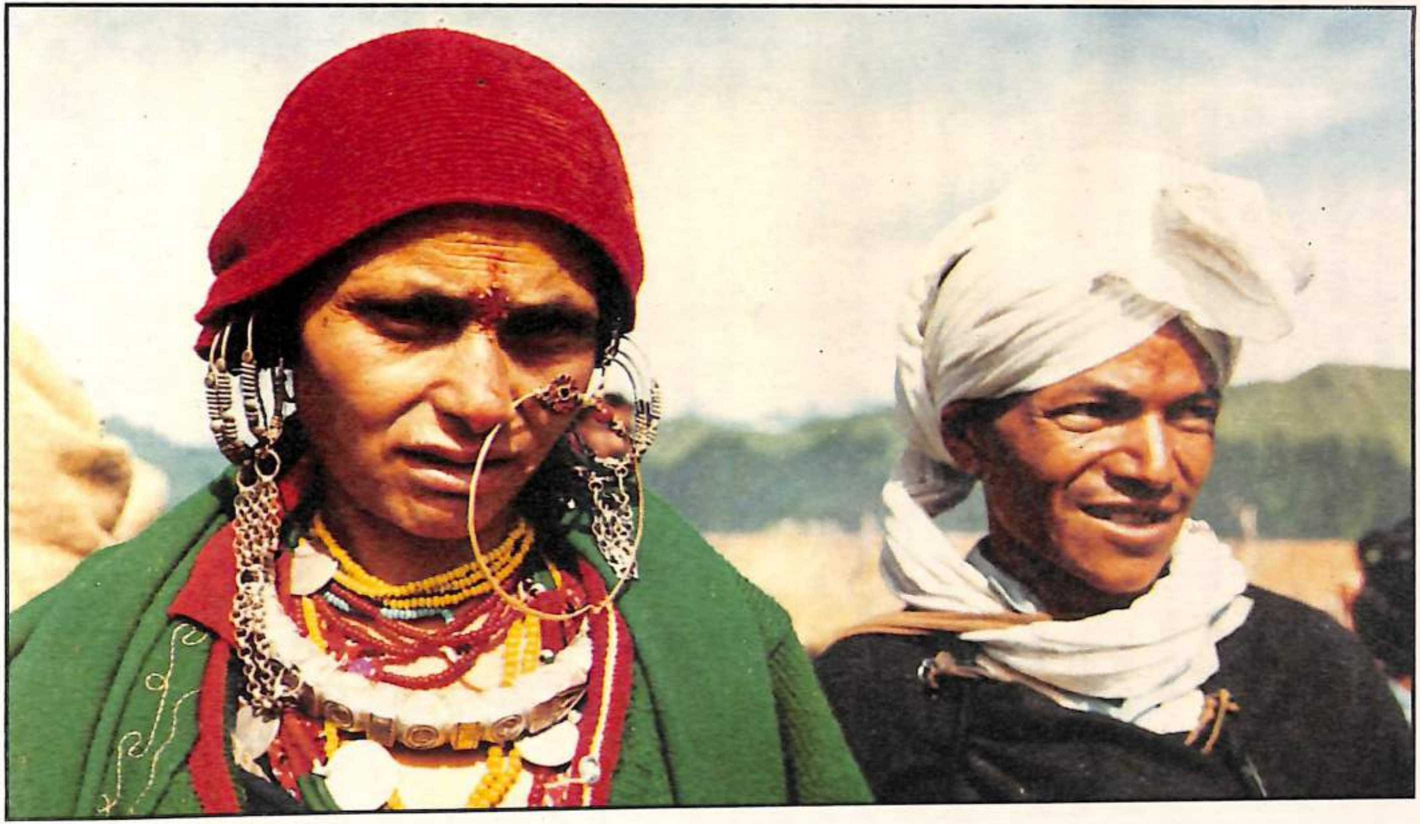

जिला उत्तरकाशी का एक भोटिया दम्पति (अपने पारम्परिक वेश-भूषा में)

बड़ी ध्वनि के साथ बड़ी तेज़ और ठण्डी हवायें सदैव चला करती हैं। सुरक्षा की दृष्टि से यह स्थान बड़ा सामरिक महत्त्व भी रखता है अतः यहाँ सीमा सुरक्षा सेना सदा तैनात रहती है और यहाँ से इस सेना के दस्ते चीन-सीमा पर प्रायः जाते रहते हैं। उत्तरकाशी से गंगोत्री जाने और वहाँ से लौटने वाले सैकड़ों तीर्थयात्री प्रतिदिन हरसिल से गुज़रते हैं और कुछ यात्री हरसिल से गंगोत्री तक का 15 मील का रास्ता पैदल ही चलते हैं।

उत्तरकाशी से हरसिल तक का रास्ता गंगा नदी के किनारे-किनारे चलता है और पूरे रास्ते देवदार के घने और गहरे हरे वन मिलते हैं जिससे रास्ते की छटा बड़ी मनमोहक पाई जाती है। गंगा नदी के किनारे-स्थित अधिकांश पर्वत-चोटियाँ भी वहाँ हरी पाई जाती हैं। हरसिल का वन-विश्राम-गृह एक प्राचीन ऐतिहासिक भवन में स्थित है जो पूरा लकड़ी का बना है। यह सन् 1864 ई० में देवदार की लकड़ी से बनाया गया था। कहा जाता है कि विल्सन नामक अंग्रेज को यह स्थान बहुत पसन्द था अतः वहाँ अपना स्थायी निवास बनाने हेतु उसने टेहरी राज्य के महाराजा से कुछ भूमि प्राप्त की। उसी भूमि पर विल्सन द्वारा निर्मित मकान वर्तमान वन-विश्राम-गृह है। उसने एक स्थानीय सुन्दरी से विवाह भी किया जिसका चित्र इस विश्राम-गृह में लगा था। यहाँ के लोगों का कहना है कि उसने कई पर्वतीय सुन्दरियों (स्थानीय) से विवाह कर रखे थे जिनकी सन्तानें आज भी उस क्षेत्र में विद्यमान हैं। मसूरी का प्रसिद्ध शार्ली विली होटल विल्सन के परिवार का ही बताया जाता है। विल्सन के उल्लेख का यहाँ आशय यही है कि वह न केवल यहाँ की प्राकृतिक सुन्दरता पर मोहित था बल्कि यहाँ की सुन्दरियों पर भी मोहित था।

यहाँ जाडों की बस्ती वन विश्राम-गृह से केवल दो फर्लांग पर स्थित है और सभी जाड़ परिवार इस बस्ती में मिलजुलकर रहते हैं। इनके मकान लकड़ी और पत्थर के बने दुमंजिले होते हैं। निचली मंजिल में मवेशी और उनका चारा रखे जाते हैं या किसी-किसी घर में करघा भी होती है। ऊपर की मंजिल में ये अपने परिवार के साथ रहते हैं। अन्य पहाड़ी मकानों की भाँति इनके मकानों के द्वार छोटे होते हैं तथा रोशनी हेतु रोशनदान की व्यवस्था बहुत से मकानों में नहीं होती। इसका कारण यह हो सकता है कि सर्दी के दिनों में यह इलाका पूरा बर्फ से ढका होता है। हरसिल के सभी जाड बौद्ध धर्म के मानने वाले हैं और बस्ती के अन्दर एक बौद्ध-मन्दिर भी पाया जाता है जो आकार में छोटा है किन्तु ऊँचे चबूतरे पर बनाया गया है। मन्दिर के अन्दर भगवान बुद्ध की मूर्ति देखना चाहता था किन्तु मूर्ति के स्थान पर केवल पत्थरों को देखकर मुझे निराशा हुई, इन पत्थरों पर तिब्बती भाषा में कुछ मंत्र लिखे हुये थे। इस मन्दिर का पुजारी एक तिब्बती लामा है जो हरसिल में बहुत वर्षों से रहता है यहाँ के जाडों के तीर्थस्थल रुलवसर (जिला-मण्डी-हिमालाचल प्रदेश) थुलिंगमठ (कैलाश) और पशुपतिनाथ (नेपाल) में स्थित

हैं। जाडों के सभी मकानों की छतों पर झण्डा उसी प्रकार लगे होते हैं जैसे त्रिवेणी-प्रयाग में पण्डों के घरों के उपर। ये झण्डे बड़े ऊँचे बाँसों में लगाये जाते हैं और रंग-बिरंगे होते हैं जिन्हें दूर से ही देखकर जाना जा सकता है कि झण्डा लगाने वाले भगवान बुद्ध के अनुयायी हैं।

जाडों के समस्त धार्मिक एवं सामाजिक उत्सव व कार्यक्रम इन मन्दिरों में ही सम्पन्न होते हैं और जहाँ लामा उपलब्ध नहीं होते वहाँ स्थानीय पण्डित को धार्मिक कार्यक्रम करने हेतु बुला लिया जाता है। हिन्दुओं की भाँति जाड भी मृत व्यक्तियों की चिता लगाकर उनका अन्तिम संस्कार करते हैं और उसके एक सप्ताह बाद भोज पर मृतक के सभी सम्बन्धियों तथा बिरादरी के लोगों को निमंत्रित किया जाता है।

इन मकानों में स्वच्छता की कमी पाई जाती है और इनके शरीर पर जो वस्त्र होते हैं-बहुत दिनों के बाद धोए जाते हैं। ये लोग प्रतिदिन स्नान भी नहीं करते-जिसका एक प्रमुख कारण यह हो सकता है कि यह लोग बड़ी ऊँचाई पर निवास करते हैं जहाँ पूरे वर्ष सर्दी पड़ती है। इनकी बस्ती भी स्वच्छ नहीं पाई गई और व्यक्तिगत स्वच्छता भी इनमें कम पाई गई। मद्य-पान के ये शौकीन होते हैं-स्थानीय चावल से यह लोग सुरा तैयार कर लेते हैं जिसे शाम को सभी अवश्य पीते हैं।

जाडों के एक से अधिक ठिकाने (बस्तियाँ) होते हैं- गर्मी के मौसम में ये अपनी भेड़-बकरियों समेत नीलुंग, जदुंग और बगोरी चले जाते हैं। प्रत्येक जाड-परिवार के पास लगभग 150-200 भेड़ें पाई जाती हैं। ग्रीष्म और वर्षा-ऋतु में ये ऊँची पहाड़ियों पर भेड़ चराने हेतु चले जाते हैं और जाड़े के मौसम में ये अपने मवेशियों के साथ ऋषीकेश के आस-पास या डुण्डा आदि स्थानों पर चले जाते हैं। टेहरी-उत्तरकाशी-मार्ग पर उत्तरकाशी से आठ मील की दूरी पर डुण्डा स्थित है। इनकी नारियाँ घरों के अन्दर ऊन की कताई-बुनाई का काम करती हैं। किन्तु बढ़िया किस्म के कालीनों की बुनाई पुरुषों द्वारा ही की जाती है। जाडों द्वारा निर्मित कालीन आसानी से बाज़ार में बिक जाती हैं।

जाडों का मुख्य पेशा व्यापार रहा है और व्यापार के निष्पादन में कुलियों व श्रमिकों की आवश्यकता होती है। हरसिल के जाडों द्वारा कोलियों से श्रमिक का काम लिया जाता है जो हरसिल में ही रहते हैं किन्तु जाडों की बस्ती से कुछ दूरी पर। लगभग 100 गज फासले पर ये कोली इकट्ठे रहते हैं। ये जाडों के लिये दैनिक पारिश्रमिक पर उनके ऊन की कताई-बुनाई का काम करते हैं और कहीं-कहीं उन्हें नक़द मजदूरी के स्थान पर अनाज भी दिया जाता है। ये जाडों से ऊँची ब्याज दर पर ऋण भी लेते हैं जिसका भुगतान बड़ी कठिनता के साथ ये कर पाते हैं। यह कोली जाडों पर अपनी जीविका हेतु पूर्णतया आश्रित होते हैं अतः जाडों द्वारा इनका बड़ा शोषण किया जाता है। इनके पास

भूमि बहुत कम पाई जाती– इतनी कम कि उस पर कुछ फल-सब्ज़ी आदि ही उगाये जा सकते हैं। कोलियों के जो प्रतिनिधि मुझसे वहाँ मिले थे-उनका कहना था कि जाडों द्वारा उनका बड़ा आर्थिक व सामाजिक शोषण किया जाता है।

जब तिब्बत से जाड व्यापार करते थे-तब उनकी आर्थिक दशा बड़ी अच्छी थी। उस समय जाडों के पास बड़ी भूमि होती थी जिस पर वे स्वयं खेती नहीं करते थे। हरसिल और नीलंग के जाडों ने मुझसे शिकायत की कि उनकी अधिकांश भूमि सरकार द्वारा सेना के उपयोग हेतु ली गई किन्तु उसका प्रतिकर उन्हें बहुत कम मिला। जो भूमि उनके कब्ज़े में बची है उस पर वे स्वयं खेती नहीं करते। भेड़-पालन और गलीचा-बुनाई का काम अधिक पसन्द करते हैं और गलीचे बनाने के लिये तिब्बती ऊन की माँग करते हैं जिसकी गुणवत्ता बड़ी उत्तम होती है। तिब्बत-व्यापार से विस्थापित होने के बाद भी यहाँ के जाडों की आर्थिक दशा अन्य लोगों की अपेक्षा बेहतर है तथापि सरकार द्वारा इनकी यथासम्भव सहायता की जानी चाहिये जिससे कि ये भेड़-पालन और गलीचा-बुनाई के व्यवसाय को और अधिक उन्नत बना सकें।

उस समय हरसिल में एक प्राइमरी और एक जूनियर हाई स्कूल पाये जाते थे किन्तु सर्दी के मौसम में जूनियर हाई स्कूल डुण्डा स्थानान्तरित हो जाता था। जाडों के प्रतिनिधियों ने मुझसे निवेदन किया कि सर्दी में यह जूनियर हाई स्कूल डुण्डा न जाकर हरसिल में ही रहे। उनका कहना था कि सर्दी के मौसम में जाड-परिवार तो डुण्डा चले जाते हैं किन्तु जाडों को छोड़कर अन्य परिवार वहीं बने रहते हैं अतः उनके बच्चों की शिक्षा प्रभावित होती है। इसी प्रकार जाड़ों में राजकीय औषधालय के कर्मचारी उत्तरकाशी चले जाते हैं जो नहीं होना चाहिये। उनकी माँग थी कि इस औषधालय का लाभ उन्हें पूरे वर्ष सुलभ होना चाहिये।

उत्तरकाशी के भोटियों में उतनी शिक्षा नहीं पायी जाती है जितनी कि पिथौरागढ़ के भोटियों में। उनमें जो शिक्षित हैं वे अपने बच्चों को शिक्षा हेतु विद्यालय अवश्य भेजते हैं। उनकी माँग थी कि सरकार द्वारा उनके इलाके में एक ऐसा आवासीय विद्यालय खोला जाय जहाँ छात्रों को निःशुल्क भोजन व वस्त्र आदि की भी व्यवस्था हो। इसके अलावा उन्होंने बगोरी में भी एक प्राइमरी विद्यालय की माँग की। उन्हें हरसिल के सरकारी वनों में तो पशु चराने का अधिकार प्राप्त है किन्तु हरिहर, शिवपुरी, थानू, लच्छीवाल, बड़कोट व मोतीचुलू आदि के वनों में उन्हें यह अधिकार नहीं मिला। अतः वहाँ के लिये भी उनके द्वारा मवेशी चराने के अधिकार की माँग की गई जिससे कि वे वहाँ के आरक्षित वनों में भी अपने भेड़, बकरी, पशु और खच्चर चरा सकें।

भोटियों के लिये विकास योजनायें तभी आरम्भ कर दी गई थीं जब इस क्षेत्र में सामुदायिक विकास का श्रीगणेश किया गया। सन् 1967 ई० में जून में भारत सरकार द्वारा भोटियों को अनुसूचित जनजाति घोषित किया गया और तब से जनजाति-कल्याण विभाग द्वारा इनके विकास हेतु अनेक योजनायें प्रारम्भ की गईं। विश्वविद्यालय-स्तर तक भोटिया छात्रों की निःशुल्क शिक्षा का प्रावधान है तथा इनके निर्धन छात्रों को छात्रवृत्ति भी सरकार द्वारा दी जाती है (दशोमोत्तर कक्षाओं में) और दसवीं कक्षा तक सभी छात्रों को छात्रवृत्ति मिलती है। कृषि, बागवानी एवं कुटीर-धन्धों हेतु उन्हें सरकार द्वारा अनुदान दिया जाता है। इनके विकास हेतु जो पंचवर्षीय योजनायें चलाई जा रही हैं उनमें इनके सर्वांगीण विकास का ध्यान दिया जाता है। इनके शैक्षिक एवं आर्थिक विकास के साथ-साथ इनके रहन-सहन के स्तर में सुधार हेतु प्रावधान किया जाता है, आवास-निर्माण हेतु भी इन्हें सरकार द्वारा आर्थिक सहायता दी जाती है।

इस क्षेत्र के जाड़ों में शिक्षा-प्रचार के कारण बड़ी चेतना जागृत हुई है जो एक शुभ लक्षण है तथापि इनके सामाजिक एवं आर्थिक विकास हेतु विशेष प्रयासों की आवश्यकता है क्योंकि इन जनजातियों की जीवन-शैली अन्य लोगों से भिन्न है। शैक्षिक एवं आर्थिक विकास की दशा में ऐसा भी कुछ नहीं होना चाहिये जिससे उनके धर्म और संस्कृति को क्षति पहुँचे-इनका धर्म महान है तथा इनकी संस्कृति व सभ्यता महान है जिनकी रक्षा की जानी चाहिये।

मुंशियारी (पिथौरागढ़) के भोटिया

पिथौरागढ़ उत्तरांचल का सीमान्त जिला है जो तिब्बत और नेपाल की सरहद को जोड़ता है। यहाँ की जनसंख्या 1991 ई० की जनगणना के अनुसार 5,66,408 है, उसमें अनुसूचित जन-जाति की जनसंख्या लगभग 25,000 है। पिथौरागढ़ जिले में केवल दो जनजातियाँ निवास करती हैं:- (1) भोटिया (2) राजी या बनरावत-जिसकी संख्या पूरे जिले में लगभग 500 है और ये लोग पहाड़ के ऊपर जंगलों के अन्दर रहते हैं तथा ये अन्य लोगों से मिलना अधिक पसन्द नहीं करते हैं। अब भी इनके रहन-सहन का ढंग बड़ा प्राचीन है और इन लोगों में आधुनिक सभ्यता अभी भी नहीं पहुँच पाई है। ये बड़े ही लजीले स्वभाव के होते हैं और जंगल के अन्दर ही रहना पसन्द करते हैं।

इस जिले की मुख्य जनजाति भोटिया है जिसकी जनसंख्या लगभग 25,000 है। यह जनजाति जिले की चारों तहसीलों, मुशियारी, धारचुला, पिथौरागढ़ और डीडीहाट में पाई जाती हैं। मैं जब निदेशक, समाज कल्याण, उत्तर प्रदेश था- मुझे मुंशियारी जाने का अवसर 25 और 26 मई, 1969 को प्राप्त हुआ-तब पिथौरागढ़ से तेजम तक ही मोटर गाड़ियाँ चलती थीं। अतः लोगों को वहाँ तक पैदल चलना पड़ता था। तेजम से मुंशियारी 35 मील है जबकि पैदल वाले रास्ते से यह दूरी केवल 19 मील है। लोक निर्माण विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा मुंशियारी तक सड़क बनाने का काम जारी था। जीप से मुंशियारी तक किसी प्रकार जाया जा सकता था। अतएव 25 मई को मैं श्री ए. पी. पाण्डेय, जिला पंचायत राज अधिकारी के साथ जीप द्वारा पिथौरागढ़ से मुंशियारी के लिए रवाना हुआ। तेजम तक सड़क अच्छी मिली तथा सड़क के दोनों और बड़े अच्छे प्राकृतिक दृश्य देखने को मिले। हिमालय पर्वत की ऊँची-नीची चोटियाँ पूरे रास्ते भर मिलती गयीं तथा बीच-बीच में हिमाच्छादित चोटियाँ भी दिखाई दीं। रास्ते में हरे-भरे चीड़, ओक, देवदार आदि के जंगल भी मिलते गये जिससे यात्रा बड़ी रोचक रही। तेजम के बाद रास्ता अच्छा नहीं मिला क्योंकि सड़क पर काम जारी था किन्तु प्राकृतिक दृश्य रास्ते में बहुत रमणीक मिले। पहाड़ी नदियों के अतिरिक्त झरने भी मिले जिनके श्वेत जल की धार दूर से चाँदी की लम्बी छड़ी जैसी दिखाई देती थी। रास्ते में काला-मुनि पर्वत से गुज़रना पड़ा जिसकी प्राकृतिक शोभा बड़ी ही निराली थी। काला मुनि समुद्र तल से 9-10 हजार फीट की ऊँचाई पर स्थित है ओर यह काले-भूरे रंग की विशालकाय चट्टानों द्वारा बना है। देवदार आदि अनेक प्रजाति के वृक्षों के घने जंगल यहाँ पाये जाते हैं तथा सतह पर हरी घास की हरियाली चारों ओर दृष्टिगोचर होती है। सारे रास्ते की थकावट काला मुनि पर्वत की अद्भूत छटा देखकर दूर हो जाती है। यहाँ का तापमान काफी ठण्डा है और यहाँ पहुँचने पर गर्म कपड़े पहनने की आवश्यकता होने लगती है।

काला मुनि पर्वत के दूसरी और पंचचूलि हिम-चोटी स्थित है और उसी के नीचे मुंशियारी बस्ती दिखाई देती है। काला मुनि पर्वत पार करके हम ज्योंही मुंशियारी की तरफ आये तो दूसरा संसार दिखाई पड़ा। आँखों के सामने शुभ्र हिमचोटी, पंचचूलि मीलों लम्बी चमकती थी और उसी के नीचे मुंशियारी बस्ती जीती-जागती दिखाई पड़ रही थी। काला मुनि पर्वत का समस्त पृष्ठ भाग हरी घास और हरे जंगल से इस प्रकार आच्छादित था कि वह काशमीर के गुलमर्ग की याद दिलाता था। मैं वहाँ की नैसर्गिक छटा को देखकर मुग्ध रह गया। मेरी आँखें या तो पंचचूलि हिमचोटी को ताकती रह जाती थीं या मुंशियारी की हरियाली को देखती रहती थीं। वहाँ की रमणीक भूमि को देखकर मैं बराबर यही सोचता था कि ईश्वर ने यह स्थान कितना सुरम्य व सुन्दर बनाया है। वैसे मुंशियारी की समुद्र-तल से ऊँचाई केवल साढ़े सात हज़ार फिट है किन्तु पंचचूलि हिमचोटी के सीधे निकट होने के कारण और दूसरी ओर काला मुनि पर्वत की ऊँचाई एवं घने जंगलों के कारण यहाँ का तापमान बड़ा ठंडा रहता है। यहाँ बड़ी ठंडी हवायें चलती रहती हैं। वर्षा ऋतु में यहाँ इतनी अधिक वर्षा होती है कि सारे रास्ते कट जाते हैं और आवागमन प्रायः ठप्प पड़ जाता है। जाड़े की ऋतु में यह स्थान बर्फ से महीनों ढका रहता है और पंचचूलि हिमचोटी से मिलकर हिम-समुद्र का रूप धारण कर लेता है। मुंशियारी से पंचचूलि हिमचोटी के निकट दिखाई पड़ती है। और ऐसा लगता है कि यदि पैदल सीधे चला जाये तो दो-चार मील से अधिक नहीं लगती किन्तु चोटी तक पहुँचने में 15-20 मील चलना पड़ता है। यह चोटी देखने में बहुत ही सुन्दर और अद्भुत इसलिए लगती है कि इसका आकार एक पिरामिड की भाँति बना हुआ है। ऊपर चोटी से नीचे तक सीधी लकीरें इस प्रकार दिखाई देती हैं जैसे कि बर्फ पर एक बहुत बड़ा पिरामिड काटकर बनाया गया हो। इसके अतिरिक्त इस चोटी की दीवारें बहुत चिकनी और उज्जवल दिखाई देती हैं। चोटी के दोनों ओर अनेक बर्फीली चोटियाँ पायी जाती हैं जो मीलों तक फैली हुई हैं। अभी तक इस चोटी पर कोई विजय नहीं पा सका। बताते हैं कि अनेक पर्वतारोही दलों ने इस चोटी पर चढ़ने की चेष्टा की किन्तु असफल रहे। इस प्रयास में कुछ व्यक्तियों की जानें भी चली गई। मुंशियारी के कुछ बुजुर्गों ने पंचचूलि चोटी का इतिहास बताया कि पाण्डवों के वहाँ पाँच चूल्हे हैं। महाभारत के युद्ध के पश्चात् महाराजा युधिष्ठर अपने भाइयों को लेकर हिमालय पर्वत पार करते हुए स्वर्ग जा रहे थे, वे इसी पंचचूलि स्थान पर विश्राम किये और यहीं पाँच चूल्हे बनाये। यह केवल किम्वदन्ती है और इस तथ्य को इसलिए मान्यता मिली है कि इस चोटी का नाम पंचचूलि है।

मुंशियारी के पास दो प्रमुख ग्लेशियर पाये जाते हैं जहाँ पैदल जाना होता है और वहाँ पर प्रायः साहसी पर्यटक जाते रहते हैं। बताते हैं कि दोनों ग्लेशियर देश के बड़े सुन्दर ग्लेशियर माने जाते हैं। मुंशियारी गाँव मुख्यतः भोटिया लोगों की बस्ती है जो पिथौरागढ़ जिला बनने से पूर्व बहुत छोटा सा साधारण गाँव था किन्तु 1960 ई० में

पिथौरागढ़ जिला बनने के बाद मुंशियारी को तहसील मुख्यालय बनाया गया और वहाँ पर परगनाधीश, तहसीलदार और खण्ड विकास अधिकारी आदि के कार्यालय खोले गये। एक सरकारी अस्पताल भी खोला गया और पशुओं के लिए भी यहाँ एक अस्पताल सरकार द्वारा चलाया जाता है। इनके अतिरिक्त यहीं पर एक सरकारी इण्टर कालेज है तथा खादी-बोर्ड द्वारा संचालित ऊन का एक बड़ा केन्द्र है। इस प्रकार अब मुंशियारी एक छोटा कस्बा बन गया है तथा यहाँ पर बड़ी चहल-पहल दिखाई देती है।

मुंशियारी ब्लाक के क्षेत्र विकास अधिकारी श्री एस. एम. पला मिले जिनके द्वारा मालूम हुआ कि वहाँ की कुल जनसंख्या 30 हज़ार थी जिनमें 8942 भोटिया जनजाति के लोग थे और 5662 अनुसूचित जाति के लोग थे। इस ब्लाक की अनुसूचित जातियों में लोहार, दर्जी, भूत्ल, निराशी, ढोली टाठा, (शिल्पकार) पाये जाते हैं। शिल्प और कारीगरी का अधिकांश काम अनुसूचित जातियों द्वारा ही यहाँ किया जाता है। इनके अतिरिक्त यहा पर गिरी और नाथ नाम की पिछड़ी जातियाँ भी रहती हैं जिनकी जनसंख्या केवल 800 है।

मुंशियारी में भोटिया की संख्या काफी है और यहाँ तीन प्रकार के भोटिया पाये जाते हैं (1) नितवाल (जो भोजन आदि बनाने का काम आदि करते हैं) (2) कुनकिया (जो प्रायः नौकरी तथा मज़दूरी पर आश्रित हैं) (3) भोटिया। यहाँ के भोटिया चमोली के भोटिया से भिन्न हैं जो अपने को तोल्छा और मोरछा वर्गों में विभाजित किये हुए हैं। इसी प्रकार ये लोग उत्तर काशी के भोटियों से भिन्न है जिन्हें जाड नाम से अधिक जाना जाता है। पिथौरागढ़ जिले की धारचूला तहसील में सबसे अधिक भोटिया पाये जाते हैं। किन्तु उनमें और मुंशियारी के भोटियों में काफी भिन्नता है, जो निम्न प्रकार है:-

मुंशियारी और थल के भोटिया	धारचूला के भोटिया
1. तिब्बती-बर्मन नस्ल का प्रभाव कम पाया जाता है।	तिब्बती बर्मन नस्ल का प्रभाव अधिक मात्रा में पाया जाता है।
2. इनकी भाषा अधिकतर कुमायूँनी है।	इनकी भाषा तिब्बती भाषा से मिश्रित है।
3. ये हिन्दू धर्म को मानते हैं व हिन्दू देवताओं की पूजा करते हैं।	ये बौद्ध धर्म को मानते हैं तथा बौद्ध अर्हन्तों की पूजा करते हैं।
4. ये अधिक शिक्षित हैं।	ये बहुत कम शिक्षित हैं।
ये अधिक धनी नहीं हैं।	ये काफी धनी पाये जाते हैं।
5. नेपाल के लोगों से इनका सम्बंध अधिक नहीं है।	नेपाल के लोगों से इनका सम्बंध अधिक है।

इन दोनों के मध्य शादी-विवाह का सम्बन्ध अभी तक नहीं है। दोनों वर्ग एक-दूसरे से भिन्नता बनाये रखते हैं। यहाँ के भोटिया पूरे वर्ष एक स्थान में नहीं रहते। जाड़े के दिनों में ये लोग निचले स्थानों में चले जाते हैं जिन्हें खेड़ा कहते हैं। वहाँ वे अपने पूरे परिवार की गृहस्थी का सामान और पशुओं के साथ जाते हैं। और जाड़े भर वहीं रहते हैं। गर्मी के दिनों में ये लोग पहले और ऊपर चले जाया करते थे जब तिब्बत से उनका व्यापार होता था। अब भी यह लोग गर्मी के दिनों में और ऊपरी पहाड़ों में चले जाते हैं। इस प्रकार भोटिया के घर तीन स्थलों पर हुआ करते थे। यदि तीन न हुए तो प्रत्येक भोटिया परिवार के पास दो स्थान पर दो मकान अवश्य हुआ करते थे। जब तक तिब्बत चीन के अधीन नहीं हुआ था तब तक यहाँ के भोटियों की दशा बहुत अच्छी थी। ये लोग इस क्षेत्र के ज़मीन्दार थे किन्तु स्वयं खेती नहीं करते थे-अन्य जातियों द्वारा अपनी खेती कराते थे और बड़ा लाभ कमाते थे। बड़ी संख्या में भेड़-बकरियाँ पालते थे जो अब भी पालते हैं। ये लोग ऊनी शाल-गलीचे भी बनाते थे। अब भी इनके द्वारा बड़े अच्छे गलीचे व शाल बनाये जाते हैं जब कि उन्हें तिब्बती ऊन मिलने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। इस समय अधिकांश भोटियों का मुख्य पेशा भेड़-बकरी पालना है तथा ऊन कातना और ऊनी कम्बल व गलीचे आदि बनाना है। भोटिया लोग नीचे से भेड़-बकरी और खच्चरों द्वारा सभी प्रकार का सामान लाते हैं और बड़े मुनाफे के साथ बेंचते हैं। सारा स्थानीय व्यापार यहाँ के भोटियों के हाथों में है। इधर कुछ वर्षों से भोटिया नवयुवक ऊँची शिक्षा प्राप्त करके सरकारी नौकरी में भी जाने लगे हैं। अब इनके पास खेती कम रह गयी है क्योंकि ज़मीन्दारी-उन्मूलन के पश्चात इनकी खेती भी उन्हें गयी है जो वास्तव में इनके मार्फत खेती करते थे। खेती चले जाने का इन लोगों को काफी मलाल है किन्तु मुझे यह बताया गया कि यह लोग अच्छे खेतिहर नहीं हैं और खेती में इनकी रुचि भी नहीं है। यह लोग सदैव व्यापारी रहे हैं और व्यापारी ही रहना चाहते हैं। इन्हें आवश्यक साधन उपलब्ध हों तो यह ऊन के व्यापार द्वारा अपना जीविकोपार्जन बड़े अच्छे ढंग से कर सकते हैं।

मुंशियारी में खादी बोर्ड द्वारा ऊन कातने और बुनने का बड़ा केन्द्र है, जिसके अन्तर्गत लगभग ढाई हजार भोटिया कारीगर काम करते हैं। खादी केन्द्र द्वारा उन्हें ऊन दे दिया जाता है जिसको लेकर ये लोग अपने घरों में उसे कातते और बुनते हैं। स्त्री और पुरुष दोनों इस काम को करते हैं। ऊन की कताई में इन्हें बहुत कम पैसा प्राप्त होता है किन्तु यदि कारीगर कम्बल और गलीचा आदि बुनना जानता है तो उसे दिन भर में गुज़ारे भर के लिये काफी आमदनी हो जाती है। मुंशियारी के लगभग 50 प्रतिशत कारीगर खादी केन्द्र से ऊन लेकर काम करते हैं और इस प्रकार सुगमतापूर्वक अपना जीवन-निर्वाह कर रहे हैं। शेष कारीगर या तो अपना काम स्वयं करते हैं या सहकारी समिति के

माध्यम से ऊन की कताई और बुनाई का काम कर रहे हैं। सहकारी समिति के कुछ सदस्य मुझे मिले और उन्होंने मुझे अपनी कठिनाइयाँ बताईं। खादी केन्द्र की तुलना में सहकारी समिति का प्रबन्ध सन्तोषजनक नहीं था तथा उसके द्वारा कारीगर को अच्छी आमदनी भी नहीं होती थी। खादी केन्द्र द्वारा कच्चे माल की बिक्री की भी पूरी व्यवस्था है। अतः खादी केन्द्र को प्रयत्न करना चाहिए कि उस क्षेत्र का अधिकांश ऊन का काम और व्यापार उन्हीं के द्वारा हो। खादी बोर्ड के केन्द्र के अतिरिक्त उद्योग विभाग उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा भी मुंशियारी में एक प्रशिक्षण एवं उत्पादन-केन्द्र चलाया जा रहा है।

अच्छे शाल-गलीचे और कम्बल बनाने के लिए अच्छा ऊन चाहिए जो तिब्बत से मिला करता था। अब उसके मिलने में उन्हें बड़ी कठिनाई है जिससे लोगों में बड़ा असन्तोष है। आस्ट्रेलिया का भी ऊन अच्छा होता है किन्तु वह भी उन्हें आसानी से प्राप्त नहीं होता है। तिब्बती ऊन नेपाल के माध्यम से कुछ लोगों को प्राप्त होता है किन्तु उसमें धारचूला वाले भोटिया अधिक सफलता प्राप्त कर लेते हैं और मुंशियारी के भोटियों को तिव्वती ऊन बहुत कम मिल पाता है। इस बात का भी इनमें बड़ा असन्तोष है। उनकी माँग उचित भी है कि उन्हें सरकार द्वारा अच्छी ऊन दिलाई जाये जिससे कि पहले की भाँति वे लोग सुन्दर शाल-गलीचे और कम्बल बुन सकें और अपनी जीविका का निर्वाह अच्छी तरह करते रहें।

यहाँ के भोटियों में शिक्षा काफी पाई जाती है, ऐसा अनुमान है कि लगभग 40 प्रतिशत भोटिया यहाँ के शिक्षित होंगे। प्रत्येक भोटिया ग्राम में प्रारम्भिक पाठशाला पाई जाती है और- छः गाँवों के बीच जूनियर हाई स्कूल पाये जाते हैं। मुंशियारी में मुझे इण्टर कालेज देखने का अवसर मिला जिसका भवन बड़ा सुन्दर है तथा जिस स्थान पर कालेज बनाया गया है यह बड़ा खुला हुआ और रमणीक है। इस कालेज में सैकड़ों छात्र अध्ययन करते हैं और इनमें से अधिकांश छात्र भोटिया जनजाति के हैं तथा 30 प्रतिशत छात्र अनुसूचित जाति के हैं। यह जानकर मुझे खुशी हुई कि कई भोटिया अध्यापक भी इस कालेज में अध्यापन का कार्य करते हैं। जबसे (जून 1967 ई.) भोटिया भारत सरकार द्वारा अनुसूचित जनजाति घोषित कर दिए गए हैं तबसे सरकार द्वारा इनकी शिक्षा ऊँची कक्षाओं तक निःशुल्क कर दी गई है। इसके अतिरिक्त अधिकांश भोटिया छात्रों को पूर्व दशम् कक्षाओं में छात्रवृत्ति दी जाती है और दशमोत्तर कक्षाओं में सभी भोटिया छात्रों को छात्रवृत्ति मिलती है। मुझे कालेज में प्रधानाचार्य द्वारा बताया गया कि भोटिया छात्रों को कई विभागों से छात्रवृत्ति मिलती है। जैसे सीमान्त विभाग द्वारा, शिक्षा-विभाग द्वारा, समाज कल्याण विभाग द्वारा-तीनों विभागों की छात्रवृत्ति की दरों में भिन्नता भी है। अतएव सम्बन्धित अधिकारियों को छात्रवृत्ति स्वीकृत करने में बड़ी कठिनाई होती है।

भोटिया छात्रों और उनके अभिभावकों में इस बात का असन्तोष पाया जाता है कि विभिन्न विभागों द्वारा अलग-अलग दर से छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं। अच्छा हो यदि सारी छात्रवृत्तियाँ एक विभाग द्वारा दी जायें और उनकी दर एक हो। इस सम्बन्ध में तीनों विभागों को विचार करना चाहिए। मुझे भोटियों में शिक्षा का प्रसार देखकर बड़ा सन्तोष और हर्ष हुआ।

मैं मुंशियारी में भोटिया बस्ती के अन्दर भी गया और इन लोगों के मकान तथा रहन-सहन को देखा। इनके मकान लकड़ी के बने होते हैं और दो मंजिले होते हैं। दरवाज़े और खिड़कियाँ बहुत छोटे होते हैं तथा दरवाज़ों और खिड़कियों पर लकड़ी में खुदाई का काम भी पाया जाता है। भोटिया लोग कलाप्रिय होते हैं। बेल-बूटों के साथ बड़े सुन्दर शाल-गलीचे बनाते हैं। अपने मकानों के दरवाज़ों पर भी कला को उचित स्थान देते हैं। मकान की नीची मंजिल में प्रायः पशुओं को रखा जाता है और करघे पाये जाते हैं जहाँ वे अपना ऊन का काम करते हैं। नीचे की मंजिल मे रोशनदान की व्यवस्था नहीं पाई जाती है जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। इसी प्रकार रसोई घर में रोशनी का कोई उचित प्रबन्ध नहीं रहता जो स्वास्थ्य के लिए ठीक नहीं है। इनके मकान काफी बड़े और अच्छी दशा में पाये गये किन्तु उनमें और अधिक स्वच्छता की आवश्यकता पाई जाती है। भोटिया लोग अन्य पर्वतीय निवासियों की भाँति रोज़ स्नान नहीं करते। पानी के अभाव तथा ठंडी जलवायु होने के कारण कपड़े भी अधिक साफ नहीं रखते। पूरे वर्ष उन्हें ऊनी कपड़े पहनने पड़ते हैं। भोटिया पुरुष कुर्ते, कमीज, पैजामा, पैन्ट, टोपी, सदरी और कोट पहनते हैं। किन्तु भोटिया स्त्रियाँ अब भी अपनी प्राचीन वेश-भूषा धारण करती हैं और कमर के चारों ओर बहुत बड़ा ऊनी कपड़ा लपेटे रहती हैं। भोटिया स्त्रियाँ गहनों की बहुत ही शौकीन हैं। चाँदी-सोने के आभूषण शरीर के पूरे अंग पर धारण किए रहती हैं तथा मूँगों की मालाओं का बहुत प्रयोग करती हैं। उनके लिए आभूषण स्थानीय शिल्पकार और लोहार तैयार करते हैं।

भोटिया मांसाहारी होते हैं और ये लोग मदिरापान तथा धूम्रपान बहुत करते हैं। मदिरा ये लोग घर में ही तैयार कर लेते हैं जिसे कुछ अंश तक पौष्टिक भी बताते हैं। इनके यहाँ स्त्री-पुरुष तथा बच्चे सभी मदिरापान करते हैं। चाय पीने के ये लोग बहुत आदी होते हैं किन्तु इनकी चाय अलग होती है जिसे ये नमक और घी के साथ तैयार करते हैं और उसे "जा" कहते हैं। "जा" पकाने के लिए लकड़ी का बर्तन और मूसल अलग होता है। इनकी चाय बड़ी स्वादिष्ट होती है और थकावट दूर कर स्फूर्ति प्रदान करती है। खाने-पीने के ये लोग बड़े शौकीन होते हैं। फुरसत के समय ये लोग ताश-पत्ते और जुआ आदि खेला करते हैं।

भोटिया जनजाति की अपनी निजी संस्कृति है जो तिब्बती लोगों से कुछ अंशों में मिलती है। इनका अपना संगीत है जो मंच पर बहुत ही मनोरंजक होता है। मंच पर ये लोग बहुत ही कीमती पोशाक पहन कर आते हैं तथा अपने लोक-संगीत द्वारा दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर देते हैं। बीसवें गणतंत्र दिवस के अवसर पर जनवरी 1969 में समाज कल्याण विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा लखनऊ में उत्तर प्रदेश की जनजातियों का सांस्कृतिक सामारोह आयोजित किया गया था जिसमें भोटिया दल भी आया था और उन्होंने अपने भोटिया-नृत्यों द्वारा उत्तर प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल डा. बी. गोपाल रेड्डी तथा लखनऊ की जनता को बड़ा मोहित कर दिया था। मैं उस विभाग का तब निदेशक हुआ करता था।

पहले भोटिया युवक और युवतियाँ शाम को मदिरा-पान करके एक स्थान पर एक साथ नृत्य करते थे तथा दिन भर की थकावट को दूर करते थे। इसके लिए गाँव के बाहर इन लोगों का अलग भवन होता था जिसे "रंग-बंग" कहते हैं। वहाँ युवक तथा युवतियाँ अपने जीवन साथी भी चुन लिया करते थे। वह एक अच्छी परम्परा थी किन्तु जैसे-जैसे इन लोगों में शिक्षा फैल रही है यह प्रथा धीर-धीरे समाप्त हो रही है।

तिब्बत पर चीन के अतिक्रमण के बाद से भोटियों की आर्थिक दशा बहुत गिर गई। सरकार द्वारा उन्हें पुनर्वासित करने की अनेक योजनायें चलाई गईं किन्तु फिर भी इन लोगों में असन्तोष जारी रहा। जून, 1967 ई० में भारत सरकार ने उत्तर प्रदेश की पाँच जनजातियों को अनुसूचित घोषित कर दिया जिसमें भोटिया जाति भी है तब से इनके लिए कल्याणकारी योजनायें भारत सरकार व समाज कल्याण विभाग, उत्तर प्रदेश (अब उत्तरांचल) द्वारा संचालित की गयी हैं। अब समस्त भोटिया छात्रों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती है तथा उनमें से अधिकांश छात्रों को छात्रवृति भी मिलती है। इनकी आर्थिक दशा को सुधारने के लिए इन्हें कुटीर उद्योग-धन्धों के लिए सरकार द्वारा अनुदान दिया जाता है और कृषि-विकास के लिए भी अनुदान दिया जाने लगा है। इस क्षेत्र में सरकार ने भोटिया छात्रों के लिए आश्रम पद्धति विद्यालय भी खोले हैं जहाँ इनके छात्रों को निःशुल्क शिक्षा के अलावा निःशुल्क भोजन व वस्त्र आदि की भी व्यवस्था की गई है। सरकार द्वारा की जा रही कल्याणकारी योजनाओं को क्षेत्र के निवासियों द्वारा पसन्द किया गया है तथापि अधिकांशतः भोटिया लोगों की प्रमुख माँग यही है कि उन्हें बुनाई के लिए अच्छा ऊन उपलब्ध कराया जाये तथा ऊन का व्यापार बढ़ाने के लिए उन्हें आर्थिक सहायता दी जाए। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में उत्तर प्रदेश व उत्तरांचल की जनजातियों के विकास हेतु अनेक परियोजनायें चलाई गई हैं जिनमें मुख्यतः शिक्षा-प्रसार व कुटीर उद्योग-धन्धों के लिए आर्थिक सहायता, सहकारी-समितियों द्वारा ऊन के व्यापार में और अधिक

विस्तार, खेतीं और बागवानी को उन्नत करने के लिए आर्थिक सहायता, भवन-निर्माण, पेयजल की व्यवस्था, पशु-पालन, जनजाति-संस्कृति का अनुरक्षण आदि योजनायें सम्मिलित हैं। इन योजनाओं के कार्यान्वयन से भोटिया लोगों की दशा अवश्य सुधरी है और ये लोग देश के अन्य निवासियों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर राष्ट्र के निर्माण में मूल्यवान योगदान दे रहे हैं।

नारियों का देश

30 अप्रैल, 1971 को दिल्ली से मैं गौहाटी विमान द्वारा रवाना हुआ। उन दिनों मैं भारत सरकार के समाज कल्याण विभाग में पदरत था। विमान पश्चिमी बंगाल के ऊपर से उड़ रहा था। वैसे वर्षा ऋतु उस समय तक प्रारम्भ नहीं हुई थी, किन्तु कुछ पानी अप्रैल के महीने में बरसा था जिससे बंग-भूमि हरी-भरी दिखाई पड़ती थी। बंगाल के गाँवों का दृश्य मनोरम लगता था। वर्षा हो जाने पर दूर-दूर तक फैले चौरस खेत हरे रंग के सुन्दर गलीचे जैसे दिखाई दे रहे थे। गाँव के आस-पास तालाब और पोखरों के समूह दिखाई पड़ते थे जिनके किनारे ऊँचे-ऊँचे नारियल के वृक्ष खड़े हुए थे। बंगाल के गाँवों की यह विशेषता है कि वहाँ तालाब बहुत अधिक होते हैं जिनमें मछली-पालन किया जाता है। कहा जाता है कि प्रत्येक किसान का अपना तालाब होता है जिसमें वह मछली पालता है। तालाब के किनारे नारियल और केले के पेड़ भी कसरत से पाये जाते हैं। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि बंगालियों का मुख्य भोजन मछली और चावल है। इसके अतिरिक्त कच्चे और पक्के नारियल का प्रयोग भी वह अपने खाने-पीने में करते हैं। धान की खेती विमान से स्पष्ट दीख रही थी। बंगाल की इस "शस्य श्यामला वसुन्धरा" को देखने की बार-बार इच्छा होती थी, अतएव मैंने अपनी दृष्टि से खिड़की बंगाल की हरित एवं स्वर्णमयी भूमि पर गड़ा रखी थी।

उस दिन आकाश कहीं-कहीं पर बादलों से घिरा हआ था, अतएव विमान बादलों को पार करने में कभी-कभी ऊपर-नीचे अपनी चाल कर देता था और उस समय ऐसा अनुभव होता था जैसे हम किसी झूले में सवारी कर रहे हों। वायुयान के सामने कभी बादलों का ढेर इतना अधिक आ जाता था कि बादलों के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखाई देता था। कभी अपना वायुयान बादलों से इतना ऊपर उठता था कि मेघपुंज धरती के ऊपर लिपटा हुआ दिखाई देता था। ऐसा लगता था कि धरती के ऊपर रुई के अपार ढेर फैला दिये हों। बादलों का वह आकर्षक दृश्य देखते ही बनता था।

भारत और पाकिस्तान के बीच कुछ समय पूर्व विमान-अपरहण की घटना के ऊपर अच्छे सम्बन्ध न होने के कारण हमारा विमान पाकिस्तान (अब बंगलादेश) की भूमि के ऊपर नहीं उड़ा, अतएव उसे गौहाटी पहुँचने में आधा घण्टा निर्धारित समय से अधिक लगा। गौहाटी में यान से उतर कर जीप द्वारा मैं शिलांग के लिए रवाना हुआ। शिलांग से श्री बी. डी. पुघ मुझे लेने आये थे। वे उसी क्षेत्र के निवासी हैं, अतएव उनके द्वारा वहाँ की जानकारी प्राप्त करने में मुझे बड़ी सुविधा हुई। गौहाटी असम का एक मुख्य नगर है और यहाँ का विश्वविद्यालय बहुत प्रसिद्ध है, जिसमें असम, मेघालय, नागालैंड, नेफा आदि प्रदेशों के छात्र अध्ययन करने आते हैं। इसकी ऊँचाई समुद्र तल से 400-500 फुट

के लगभग है और यह नगर घाटी में बसा हुआ है। इंजीनियरिंग कालेज और गौहाटी विश्वविद्यालय यहाँ का प्रमुख संस्थायें हैं। गोहाटी से शिलाग जाने में असम का प्राकृतिक सौन्दर्य देखने को मिला। सड़क के दोनों और दूर-दूर तक हरे-भरे मैदान दिखाई देते थे। धान और आलू के खेत मिले और हरे-भरे चरागाह मिले जहाँ चरवाहे अपने पशुओं के साथ दिखाई देते थे। यद्यपि यह पहाड़ी रास्ता है किन्तु इसमें उतार-चढ़ाव वैसा नहीं है जैसा कि काशमीर व हिमाचल प्रदेश आदि के पहाड़ी रास्तों में मिलता है। इस यात्रा में सड़क के चारों ओर इतनी हरियाली देखने को मिलती है कि यात्रा बिना किसी थकावट के बड़ी सुखद लगती है। कई जल बाँध भी रास्ते में मिले जिनसे उन स्थानों का दृश्य रमणीक प्रतीत होता है। इन बाँधों में जलाशय छोटे-मोटे सागर की तरह दिखाई देते हैं और उनके चारों ओर हिमालय पर्वत की हरी-भरी पहाड़ियाँ उन्हें अतिरिक्त सुन्दरता प्रदान करती हैं। सड़क के दोनों और ओक, चीड़, बांस आदि के पेड़ तथा अनेक झाड़ियों के वन बहुतायत से मिले। इसके साथ-साथ चौरस भूमि में आलू और अनन्नास के खेत दिखाई देते थे। इस प्रदेश की हरियाली देखकर कहा जा सकता है कि यह प्रदेश काशमीर से अधिक हरियाली और वनस्पति में सुन्दर व धनी है।

दोपहर के समय हम लोग शिलांग नगर पहुँचे जो पहले असम की राजधानी थी और इस क्षेत्र का सबसे प्रमुख नगर है। यह समुद्र तल से 5000 फुट की ऊँचाई पर बसा हुआ है और यहाँ की जलवायु ठण्डी है। अंग्रेजों ने अपने शासन-काल में इस नगर को बड़े सुन्दर ढंग से बसाया था और अब भी इसे भारत के सुन्दर पहाड़ी स्थानों में गिना जाता है। यहाँ तीन सरकारों (असम, मेघालय और नेफा) के मुख्यालय थे जिनका राज्यपाल एक ही था। यहाँ बड़े अच्छे-अच्छे अंग्रेजी विद्यालय हैं और सैनिक छावनियाँ हैं। शिलांग में मैं श्री पुघ के निवास स्थान पर ठहरा जहाँ पर बड़े आराम से रहा। श्री और श्रीमती पुघ ने मेरा बड़ा अतिथि-सत्कार किया। उस समय श्री पुघ उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के उपनिदेशक, पिछड़ा वर्ग कल्याण, भारत सरकार के पद पर कार्यरत थे और मैं समाज कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार (नई दिल्ली) में उपसचिव था।

अगले दिन शिलांग से जीप द्वारा चेरापूंजी के लिए रवाना हुआ। यह रास्ता केवल 33 मील का है, किन्तु पूरा रास्ता पहाड़ी है। पहाड़ी रास्ता होने के बावजूद भी इसमें ऊँचे-नीचे उतार-चढ़ाव अधिक नहीं है क्योंकि इस प्रदेश में हिमालय की पहाड़ियाँ पठार के रूप में अधिक पाई जाती हैं। पूरा रास्ता हरियाली से आच्छादित मिला। चीड़, ओक, बाँस आदि के पेड़ यहाँ की भूमि में बहुत अधिक पाये जाते हैं। अनेक प्रकार की झाड़ियों की विशेषता यह है कि दोनों ओर ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ होती हैं जो ऊपर मेज़ की तरह पठारी हो जाती हैं और बीच में तंग घाटियाँ एवं गहरी कन्दरायें देखने को मिलती हैं। पठारनुमा पहाड़ियाँ और कन्दरायें दूर से बड़ी सुन्दर लग रही थीं तथा उनके ऊपर

हरी-हरी घास उग रही थी। दूर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता था कि प्रकृति ने इन पहाड़ियों और कन्दराओं को हरित आवरण से सजा रखा हो। चेरा के 9-10 मील पहले तक सड़क बहुत अधिक अच्छी मिली जिस पर गाड़ी बहुत तेज चलाई जा सकती है। वर्षा-ऋतु में यह सड़क यात्रा के लिए बड़ी खतरनाक समझी जाती है क्योंकि अत्याधिक वर्षा से यहाँ की चट्टानें ऊपर से गिर कर रास्ता बन्द कर देती हैं और कभी-कभी इन चट्टानों के फिसलने से बड़ी दुर्घटनायें भी हो जाती हैं। भीमकाय चट्टानों को देखकर विश्वास नहीं होता था कि पानी की छोटी-छोटी बूंदें इन्हें इतनी ऊँचाई से नीचे सड़क पर और फिर नीचे गहरी घाटी में धकेल सकती हैं।

रास्ते में खासी आदिम जाति के कई गाँव देखने को मिले। एक-आध गाँव में जीप रोककर वहाँ के लोगों का रहन-सहन देखने का अवसर मिला। खासी लोग बड़े अच्छे ढंग से अपना रहन-सहन रखते हैं, घर बड़े साफ-सुथरे देखने को मिले और खासी नर-नारी भी बड़े सफाई पसन्द दिखाई दिये। शिक्षा का यहाँ प्रसार अच्छा है और यहाँ के बहुत से लोग ईसाई धर्म को मानते हैं। खासी व्यक्ति बड़े स्वच्छ एवं सभ्य पाये जाते हैं। कई गाँवों में बालवाड़ी और विद्यालय देखे जिनमें खासी अध्यापिकायें काम करती हैं। ये अध्यापिकायें बड़ी स्वच्छ, चुस्त और कुशल दिखाई देती थीं। गाँव में गिरजाघर भी देखने को मिले जिससे पता चला है कि यहाँ पर ईसाई धर्म गाँव-गाँव में फैला हुआ है। ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए यहाँ ईसाई मिशनरियाँ काफी संख्या में काम करती हैं और उनके प्रभाव से यहाँ के लोगों में शिक्षा का बड़ा अच्छा प्रसार हुआ है।

चेरापूंजी के पहले कोयले और चूने की खानें भी मिलीं। यह प्रदेश जिस प्रकार वनस्पति और वर्षा से परिपूर्ण है उसी प्रकार खनिज पदार्थों में भी यह प्रदेश बड़ा धनी है। कोयला व चूने की खानें यहाँ जगह-जगह पर मिलती हैं जिससे यहाँ के लोगों का बड़ा अच्छा व्यवसाय चलता है। बताया जाता है कि इस प्रदेश में मिट्टी के तेल के स्रोत भी पाये जाते हैं, किन्तु अभी उनकी और सरकार का ध्यान अधिक नहीं गया है।

रास्ते भर चेरापूंजी पहुँचने की उत्कंठा बार-बार मन में उठती रही कि उस स्थान को देखा जाय जहाँ संसार में सबसे अधिक वर्षा होती है और जिसका वर्णन विद्यार्थी-जीवन से पढ़ते आये हैं। चेरापूंजी पहुँचने पर देखा कि वह एक छोटा गाँव है तथा पठारनुमा पहाड़ी पर बसा है। इसकी समुद्र-तल से ऊँचाई 4500 फुट के लगभग पाई जाती है। इसके चारों और छोटी-छोटी झाड़ियों के जंगल हैं और इन पर इसका नाम चेरापूंजी पड़ा है (चेरा का अर्थ छोटी और पूंजी का अर्थ झाड़ी)। चेरापूंजी के चारों ओर की पहाड़ियाँ उसी प्रकार हरी-भरी हैं जैसे कि रास्ते की पहाड़ियाँ मिली थीं। इसके चारों ओर छोटी-छोटी नदियों और नालों का चमकदार पानी ऐसा लगता है जैसे कि उज्ज्वल-रजत शृंखला चेरापूंजी के गले में पहना दी गई हो।

चेरापूंजी की जनसंख्या उस समय 6000-7000 के लगभग थी। यहाँ पर इटालियन गिरजाघर बहुत प्राचीन हैं। गिरजाघरों के बाद यहाँ अनेक विद्यालय दिखाई देते हैं जिनमें रामकृष्ण मिशन विद्यालय सबसे प्रमुख है। ईसाई मिशनरियों ने भी यहाँ विद्यालय खोल रखे हैं। मुझे बताया गया कि अंग्रेजों ने चेरापूंजी को ही असम की राजधानी सन् 1832-33 ई० में बनाया था और उस समय यह नगर असम का सबसे अधिक सुन्दर स्थान हुआ करता था, तब अंगेंज, सिलहट (बंगला देश) के रास्ते से असम में प्रवेश किये थे। सिलहट तक रेलगाड़ी के द्वारा आना होता था और सिलहट से शैला तक नाव से आते थे और शैला से चेरापूंजी तक सड़क के रास्ते होकर आते थे। यह रास्ता बड़ा सीधा पड़ता है, किन्तु सन् 1947 ई० से देश-विभाजन के पश्चात् अब बड़े चक्करदार रास्तों से होकर चेरापूंजी पहुँचना होता है। बताते हैं कि सन् 1864 ई० में चेरापूंजी में बहुत बड़ा भूकम्प आया था जिससे यह स्थान बिल्कुल नष्ट हो गया था। अत्यधिक वर्षा के कारण उस समय के कोई अवशेष देखने को नहीं मिले। उस भूकम्प के पश्चात् चेरापूंजी से राजधानी शिलांग ले जाई गई जो अब भी वहीं पर है। यहाँ का सर्किट हाउस बड़ा सुन्दर है और यहाँ पर सरकारी अधिकारी एवं बाहर से यात्री प्रायः आते रहते हैं। पास में असम सीमेंट कारखाना है जो चेरापूंजी से दृष्टिगोचर होता है। चेरापूंजी में मैं रामकृष्ण मिशन के स्वामी गोकुलानन्द के अनुरोध पर गया था, अतएव उन्हीं के आश्रम में बड़े आराम से ठहरना हुआ। वहाँ पर स्वामी जी ने मुझे सभी प्रकार की सुविधायें प्रदान कीं।

जिस दिन मैं चेरापूंजी ठहरा उस दिन सौभाग्य से चेरापूंजी की वर्षा भी देखने को मिली। यहाँ की वार्षिक वर्षा 500 इंच के लगभग होती है और कभी-कभी केवल एक दिन में ही 40-50 इंच वर्षा हो जाती है, जबकि अपने देश के अनेक राज्यों की वार्षिक औसत-वर्षा 40-50 इंच नहीं होती। इतनी अधिक वर्षा के बाद भी चेरापूंजी में पीने के पानी की बड़ी कमी है। यह कैसी विडम्बना है। अधिक वर्षा होने के कारण यहाँ के लोग अपने मकान अधिकतर लकड़ी और टीन के बनाते हैं और छतें टीन या छप्पर की डालते हैं। यहाँ पर कभी-कभी भूकम्प भी आते हैं इसलिए प्रारम्भ से ही यहाँ लकड़ी के मकान बनाते आये हैं।

वर्षा के समय चेरापूंजी के चारों ओर फैली हुई पठारनुमा पहाड़ियाँ बड़ा भव्य-दृश्य उपस्थित करती हैं। समस्त भूमि हरियाली से ढकी होती है और उसके ऊपर सफ़ेद और काले बादल आकाश में इस तरह से घिरे होते हैं कि आकाश और धरती बादलों द्वारा जुड़े प्रतीत होते हैं। आकाश में इतने अधिक बादल वर्षा के समय छा जाते हैं कि नीला आकाश कहीं भी दिखाई नहीं पड़ता। सारा आकाश नीलाम्बर के स्थान पर मेघाम्बर

दिखाई देता है। कभी-कभी इतने अधिक काले बादल सर के ऊपर छा जाते हैं कि अंधेरा छा जाता है और दिन रात की तरह मालूम होता है। यहाँ पर हल्की वर्षा बहुत कम होती है। कभी-कभी लगातार इतनी वर्षा होती रहती है कि कई सप्ताह तक सूर्य भगवान् के दर्शन तक नहीं होते। वर्षा की तेज़ बौछारें और बादल खिड़की और दरवाजों द्वारा मकान के अन्दर घुस जाते हैं। इस प्रकार बादल घर के अन्दर आकर सब गीला कर देते हैं। वर्षा के समय चेरापूंजी के चारों ओर बहते हुए नदी-नालों में और अधिक पानी कल-कल की ध्वनि करते हुए बहता है। उस समय चेरापूंजी की हरी-भरी पहाड़ी देखने में ऐसी लगती है जैसे कि वह चाँदी की गोटों वाली हरी साड़ी पहने आई हुई हो। चेरापूंजी के निकट ही मासमाई झरना है जहाँ दूर से भूरे और काले पत्थरों के बीच से श्वेत जल की अनेक धारायें गिरती दिखाई पड़ती हैं। ऐसा लगता है कि झरने वाली पूरी पहाड़ी भूरे-काले पत्थरों की एक विशाल दीवार है और उसके वक्ष में श्वेत पुष्पों की अनेक मालायें पहना दी गई हैं। इसके चारों ओर गहरी कन्दरायें हैं जिनमें दूर-दूर तक छोटी-बड़ी झाड़ियों के हरे-भरे पेड़ दिखाई देते हैं। यह बड़ा रमणीक स्थान है और यहाँ पर प्रायः सैलानियों के झुण्ड के झुण्ड सैर करने के लिए आते रहते हैं। इस स्थान की विशेष सुन्दरता यह है कि यह मासमाई झरना बड़ी पहाड़ी पर स्थित है जो ऊपर पठारनुमा हो गई है और इसके नीचे उपत्यका है। जब बादल आते हैं तो यह उपत्यका बादलों से इतनी ढक जाती है कि बादलों के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं पड़ता। वहाँ का दृश्य बड़ा अद्भुत है क्योंकि सर के ऊपर आकाश में बदल होते हैं, धरातल के ऊपर चारों ओर बादल छिपे होते हैं और नीचे घाटी के अन्दर भी बादल भरे होते हैं। उस समय न हरियाली दिखाई देती हैं और नहीं भूरे काले पत्थर बल्कि ऊपर-नीचे और चारों ओर श्वेत-काले बादल ही बादल दिखाई देते हैं। यही चेरापूंजी की विलक्षण सुन्दरता है।

चेरापूंजी में रामकृष्ण मिशन और ईसाई मिशनरी द्वारा अनेक शैक्षिक संस्थायें चलाई जा रही हैं। अंग्रेजी शिक्षा देने के लिए ईसाई मिशनरियों ने यहाँ पर अनेक कानवेंट विद्यालय खोल रखे हैं जहाँ शिक्षा-स्तर बड़ा अच्छा बताया जाता है। शिक्षा के साथ-साथ यहाँ की ईसाई मिशनरियाँ ईसाई बनाने का काम भी करती हैं। शिक्षा की दिशा में रामकृष्ण मिशन ने चेरापूंजी में सबसे अधिक काम किया है। सन् 1931 ई० में यहाँ रामकृष्ण मिशन की स्थापना हुई जिसके अन्तर्गत एक विशाल विद्यालय स्थापित किया गया जिसका विकास निरन्तर होता रहा और विद्यालय प्रगति के पथ पर अग्रसर होता रहा। यहाँ रामकृष्ण मिशन का अपना मुख्य-भवन है जिसके अन्दर विद्यालय, छात्रावास, कार्यालय, कर्मशाला, सभाकक्ष, प्रार्थना-सभाकक्ष आदि विभिन्न खण्ड हैं। यहाँ पर सामान्य शिक्षा के अतिरिक्त सिलाई, कढ़ाई, बढ़ईगीरी आदि शिल्प की शिक्षा भी दी जाती हैं। इस

विद्यालय में दूर-दूर के गाँवों स छात्र-छात्रायें पढ़ने आते हैं जिनके आने और जाने के लिए मिशन द्वारा मोटर-बस की व्यवस्था की गई है। इस विद्यालय के अतिरिक्त चेरापूंजी के आस-पास मिशन द्वारा 40 अन्य शिक्षा-केन्द्र चलाये जा रहे हैं जिनमें छात्र-छात्राओं को प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती है। मिशन के इन विद्यालयों में अधिकतर स्थानीय महिला अध्यापिकायें हैं जो सभी खासी जनजाति की हैं। उन अध्यापिकाओं को देखकर मुझे इसलिए बड़ी प्रसन्नता हुई कि यहाँ की आदिम-जाति की नारियाँ पुरुषों से अनेक दिशाओं में आगे हैं और बड़ी कुशलता के साथ अध्यापन का कार्य कर रही हैं।

चेरापूंजी के रामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष स्वामी गोकुलानन्द का व्यक्तित्व बड़ा विशाल है। उनमें ऐसा आकर्षण है कि वे थोड़े समय में ही दूसरों को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। कई वर्षों से चेरापूंजी के आश्रम का प्रबन्ध तथा संचालन उन्हीं के कुशल और सक्षम हाथों में है। इनकी सहायता के लिए दो अन्य स्वामी हैं तथा दो ब्रह्मचारी भी हैं। यह ब्रह्मचारी आन्ध्र प्रदेश के निवासी हैं तथा दूसरे जापान से आये हुए हैं। संन्यासियों को केसरिया रंग के वस्त्र पहनने पड़ते हैं और ब्रह्मचारियों को श्वेत-वस्त्रों में रहना होता है। जब ब्रह्मचारी स्वामी बन जाता है तब वह भी गेरुआ वस्त्र धारण कर लेता है। जापानी ब्रह्मचारी इस क्षेत्र में बड़े लोकप्रिय बताये जाते थे। उनसे मिल कर और बातें करके बड़ा हर्ष हुआ। वे बड़े सादे स्वभाव के हैं। सर के ऊपर लम्बी चोटी भी रखे थे जो टोपी से बाहर लटकती दिखाई देती थी। वह पहले कलकत्ते के आश्रम में रखे गये किन्तु वहाँ की गर्म जलवायु उन्हें रुचिकर नहीं लगी अतएव उन्हें चेरापूंजी भेज दिया गया, जहाँ की ठन्डी जलवायु उन्हें पसन्द आ गई। स्वामी गोकुलचन्द ने बताया कि जापानी ब्रह्मचारी अपने देशवासियों की तरह बड़े काम करने वाले हैं और सदैव किसी न किसी काम में लगे रहते हैं। उनकी सहायता से चेरापूंजी आश्रम में बड़ा काम हो रहा था, विशेषकर भवन के निर्माण का और शिल्प-शिक्षा की कर्मशाला के विस्तार का।

मिशन के इस विद्यालय में अधिकतर खासी छात्र और छात्रायें पढ़ते हैं। यहाँ के अध्यापन का स्तर उच्च कोटि का है और यहाँ के विद्यार्थी बड़े शील और विनय के साथ अपना अध्ययन करते दिखाई दिये। खेल-कूद का भी यहाँ उचित प्रबन्ध है। प्रातः और संध्या के समय समस्त छात्र और छात्रायें मिशन के अध्यापक वर्ग और संन्यासियों के साथ सभा-कक्ष में प्रार्थना करते हैं। रात में कुछ समय के लिए छात्रों द्वारा थोड़ा मनोरंजन का कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया जाता है और उसके बाद सभी विद्यार्थी अपने-अपने कमरों में जाकर सोने से पहले अध्ययन करते हैं। स्वामी गोकुलानन्द के साथ रहने का सौभाग्य पूरे दो दिन मुझे प्राप्त हुआ और इस अवधि में विद्यालय का शांत, पवित्र और आध्यात्मिक वातावरण मुझे बड़ा अच्छा लगा। इसका श्रेय स्वामी गोकुलानन्द को प्राप्त है जो इस केन्द्र के प्राण कहे जा सकते हैं। पूरे प्रदेश में स्वामी गोकुलानन्द और उनका आश्रम बड़े लोकप्रिय हैं।

जिस दिन मैं चेरापूंजी पहुंचा था उस दिन वहाँ पर बाजार लगा था। यह बाज़ार सप्ताह में दो बार लगता है। बाज़ार का स्थान चेरापूंजी के मध्य में स्थित है जो एक चारदीवारी से घिरा हुआ है। इसके अन्दर दुकानें पक्की बनी हई हैं और उनमें टीन की छतें हैं। बाज़ार के अन्दर सभी दुकानों का संचालन चुस्त नारियों के हाथ में देखकर मुझे विस्मययुक्त हर्ष हुआ। एक भी दुकान में कोई पुरुष दुकानदार दिखाई नहीं दिया। सभी दुकानदार या तो युवतियाँ थीं या प्रौढ़ा थीं जो रंग-बिरंगी चुस्त पोशाकों में बड़ी आकर्षक दिखाई देती थीं। यही नहीं, बाजार के अन्दर अधिकांश ग्राहक भी प्रौढ़ायें, युवतियाँ और अधिक उम्र की स्त्रियाँ थीं। पुरुषों की संख्या बहुत ही कम थी। इस बाजार को देखकर मुझे मुगल बादशाह अकवर के मीना बाजार का स्मरण हुआ जहाँ अकबर के अतिरिक्त सभी नारियाँ पाई जाती थीं। मीना बाजार में राजमहल की युवतियाँ दुकानें लगाती थीं और सुन्दर युवतियाँ, रानियाँ, राजकुमारियाँ ग्राहक होती थीं। केवल अकबर बादशाह उसके अन्दर जा सकता था।

मैंने इस बाजार का एक चक्कर लगाया और सभी दुकानें कतारनुमा पाई एक कतार में एक तरह की दुकानें लगायी जाती हैं। किसी कतार में मछली की दुकानें हैं तो किसी में कपड़े की। कई कतारें सब्जी वालों की हैं तो खिलौने वाले पूरी कतारों में अपने खिलौने सजाये हैं। मछली बाजार में भाँति-भाँति की मछलियाँ देखने को मिलीं। छोटी-बड़ी मछलियों के अलावा सूखी मछली के ढेर मिले जिन्हें यहाँ के लोग बहुत चाव से खाते हैं। सूखी मछली की गन्ध के कारण में अधिक देर तक उस बाज़ार में खड़ा नहीं हो सका। अपितु वहाँ के लोगों को यह गंध अच्छी लगती है और सूखी मछली का व्यंजन बड़ा शुभ और स्वादिष्ट समझा जाता है। हरी सुपारी और पान की बहुत दुकानें मिलीं। यहाँ सभी व्यक्ति पान खाने के शौकीन हैं। पान यहाँ की पहाड़ियों पर बहुत उत्पन्न होता है और उसी प्रकार सुपारी के पेड़ भी यहाँ बहुत पाये जाते हैं। यहाँ के लोग पान के साथ कत्था नहीं खाते। पान, चूना और हरी सुपारी खाते हैं जिससे शरीर में कुछ गर्मी और झनझनाहट का अनुभव होता है। यहाँ पर शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो पान खाने का आदी न हो। यहाँ तक कि छोटी-छोटी बालिकायें भी पान चबाती हुई मिलती हैं। चाहे वे जंगल में हो या बाजार में -पान का बीड़ा उन लोगों के मुँह में सदैव बना रहता है। खासी महिलायें और बालिकायें पान चबाती हुई बड़ी सुन्दर लगती हैं क्योंकि पान के रंग से उनके अरुण अधर गोरे-बदन पर बड़े आकर्षक लगते हैं।

जब मैं शिलांग में श्री पुघ के यहाँ ठहरा हुआ था तो मैंने भी यहाँ के पान को चखा। पान खाने के बाद मुझे इतना पसीना आया कि रूमाल के स्थान पर मुझे तौलिया लेनी पड़ी और फिर भी पसीना कम नहीं हुआ। पान की गर्मी से ऐसा लगता था कि मैं

गिर जाऊँगा। इतनी बेचैनी हुई कि मैं खिड़की के पास गया और खिड़की खोलकर स्वच्छ और ताज़ा हवा द्वारा बेचैनी कुछ कम करनी चाही। इतने में श्री पुघ आ गये और उन्हें मुझे देखकर यह जानने में देर न लगी कि पान के कारण मेरी यह दशा हुई। दौड़ कर वह घर के अन्दर से कुछ चीनी लाये जिसे खाकर बेचैनी में बड़ी कमी हुई। फिर जीप में बैठकर हम चेरापूंजी के लिए रवाना हुये थे। कहते हैं कि सुपारी जितनी कच्ची और ताज़ा होती है उसका नशा उतना ही अधिक होता है। यदि सुपारी सूखी हो तो उसमें नशा नहीं रहता। खासी लोग हरी सुपारी खाने के आदी हैं, अतएव उनको इसका कोई नशा नहीं चढ़ता। कुछ भी हो-यहाँ के लोगों में पान-सुपारी खाना बहुत प्रचलित है और घर-घर में हरी सुपारी के गुच्छे लटकते दिखाई देते हैं। चाहे कार्यालय हो या घर हो या जंगल हो- यहाँ के लोग मुँह में पान चबाते दिखाई देते हैं। जाड़े में इस पान से इन्हें काफी गर्मी भी मिलती है।

चेरापूंजी में एक दिन ठहरने के बाद दूसरे दिन हम लोग स्वामी गोकुलानन्द जी के साथ शोभारपूंजी और शैला के लिए जीप द्वारा रवाना हुए। रास्ते में अनेक गाँव मिले और गाँव के अन्दर छोटी-बड़ी अनेक पत्थर की शिलायें रखी दिखाई दीं। उन्हें देखकर मुझे कौतूहल हुआ, अतएव जीप रोक कर मैं उन्हें देखने गया। मेरे साथ वालों ने बताया कि खासी जनजाति के यहाँ प्रथा है कि प्रत्येक मृतक की एक पत्थर की शिला खड़ी की जाती है और मृतक के अवशेष को पत्थर के नीचे दबा दिया जाता है। खासियों में दाह-क्रिया का प्रचलन है। दाह-क्रिया के बाद वे गाँव के अन्दर ही मृतक की पत्थर-शिलायें स्मारक के रूप में रखा करते हैं। यह स्मारक शिलायें प्रायः दाह-क्रिया स्थान पर स्थापित की जाती हैं। सबसे ऊँची शिलायें मामा और उनके वंशजों की होती हैं। छोटी शिलायें पिता और पिता के भाइयों की होती हैं। स्त्रियों की स्मारक-शिलायें भूमि पर लेटी हुई होती हैं और उनके नीचे मृतक की अस्थियाँ इस आशा में दबा कर रखी जाती हैं कि अगले जीवन में अपने वंशजों का पुनर्मिलन हो। क़बीले के मुखिया की स्मारक-शिला पर पत्थरों का छत्र बना होता है जिससे यह आसानी से जाना जा सकता है कि यह कबीले के सरदार की स्मारक-शिला है। जब खासियों के मध्य लड़ाई होती है तो उस समय वे इन शिलाओं के नीचे से अपने पूर्वजों की हड्डियाँ निकालते हैं और बड़े जोरों से आपस में लड़ाई करते हैं।

मृतकों के स्मारक के रूप में पत्थर-शिलायें स्थापित करना खासियों की संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। चूँकि इनका समाज मातृ-प्रधान होता है अतएव स्मारक शिलाओं में मामा और उनके वंशजों को विशिष्ट स्थान दिया जाता है। इसी कारण मामा आदि की स्मारक शिलायें ऊँची होती हैं और पिता आदि की शिलायें छोटी होती हैं।

चेरापूंजी से शोभारपूंजी का रास्ता लगभग एक घंटे का है। पूरा रास्ता प्राकृतिक सौन्दर्य से पूर्ण है। सड़क के दोनों ओर बाँस, ओक, सुपारी, तेजपाल, कटहल आदि के वन मिलते हैं। हरी घास और छोटी-बड़ी झाड़ियों से कोई स्थान खाली नहीं दिखाई पड़ा। शोभारपूंजी अनेक प्रकार के फलों के लिए प्रसिद्ध है। शोभारपूंजी का अर्थ है-फलदार झाड़ियाँ (शोभादार-फलदार, पूंजी-झाड़ियाँ)। शोभारपूंजी खासी पहाड़ियों के दक्षिणी ढाल पर स्थित है और इसकी ऊँचाई समुद्र तल से 2000 फुट है। यह एक बड़ा पर्वतीय गाँव है जहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य बड़ा मनमोहक है। इसके सामने बंगला देश का सिलहट जिला दिखाई पड़ता है जो चौरस भूमि, जलाशयों, हरी खेती और बागों से भरा पड़ा है। शोभारपूंजी से देखने में ऐसा लगाता है कि शोभारपूंजी दीवाल के ऊपर है और दीवाल के नीचे धरातल पर बंगला देश फैला हुआ है। जिस प्रकार मंसूरी से देहरादून घाटी का रमणीक दृश्य दिखाई देता है उसी प्रकार शोभारपूंजी से सिलहट की सुनहरी भूमि दर्शकों का मन मोह लेती है।

शोभारपूंजी में बाबू तरणी कुमार पुरकायस्त के दर्शन हुए जो तब वृद्धावस्था में पहुँच गये थे। वे 1928 ई० में सिलहट से शोभारपूंजी आये थे। उन्हें यह स्थान इतना अच्छा लगा कि खासियों की शिक्षा हेतु सन् 1933 ई० खासियों की सहायता से उन्होंने एक आश्रम आरम्भ किया जिसमें माध्यमिक स्तर तक प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती है। उसके बाद आश्रम में सिलाई, कढ़ाई आदि की शिक्षा आरम्भ कर दी है। इस आश्रम का अपना भवन है जो पहाड़ी के ढाल में निर्मित है और उसके चारों ओर सुपारी, तेजपात-इलायची व कटहल आदि के पेड़ इस प्रकार खड़े हुए हैं जैसे कि वे प्रहरी के रूप में आश्रम की रक्षा कर रहे हों। इस आश्रम में बालक-बालिकायें दोनों को शिक्षा दी जाती है और वे वहाँ पर रहते भी हैं। तरणी बाबू प्रारम्भ से इस आश्रम का संचालन बड़ी दक्षता और कुशलता के साथ कर रहे हैं। पहले तरणी बाबू इस आश्रम को स्वयं चलाते थे, किन्तु अब वृद्धावस्था होने पर उन्होंने इसे रामकृष्ण मिशन का एक केन्द्र बना दिया है और मिशन के अन्तर्गत इस केन्द्र की देखभाल वे स्थानीय प्रबन्धक के रूप में करते हैं। तरणी बाबू और उनके आश्रम के छात्र-छात्राओं से मिलकर ऐसा अभ्यास हुआ जैसे हम किसी ऋषि से उनके वनाश्रम में मिल रहे हों। आश्रम के अन्दर जो शान्त और पवित्र वातावरण विद्यमान है उसका वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता। आश्रम के छात्र-छात्राओं ने खासी गान द्वारा हम लोगों का स्वागत किया तथा फूल मालायें पहनाईं। उसके पश्चात् प्रार्थना-कक्ष में स्वामी रामकृष्ण और विवेकानन्द के चित्रों के समक्ष भक्ति-गान हुआ। दोपहर को छात्राओं ने अपने हाथों द्वारा बनाया सात्विक और स्वादिष्ट भोजन खिलाया। भोजन के बाद तरणी बाबू ने मुझसे कुछ विश्राम करने को कहा किन्तु मुझे आश्रम की खिड़की से बंगला देश का प्राकृतिक दृश्य इतना अच्छा लग रहा था कि मैं खिड़की से

अपलक बंगालदेश की स्वर्णमयी भूमि को निहारता रहा। उस दृश्य को देखकर ऐसा नहीं लगता था कि हम एक दूसरे देश की भूमि की ओर निहार रहे हैं बल्कि ऐसा लगता था कि यह अपने देश का ही अंग है, और मैं सोनार बंगला (स्वर्णमय बंगाल देश) की स्वर्णमयी भूमि को देख रहा हूँ। वास्तव में शोभारपूंजी से बंगला देश का दृश्य बहुत ही चित्ताकर्षक था और वहाँ से दृष्टि हटाने की इच्छा नहीं होती थी।

एक खासी बालक

इस आश्रम के छात्र-छात्रायें सभी खासी हैं। खासी छात्र कमीज, नेकर और पतलून पहनते हैं जबकि खाली बालिकायें ब्लाउज, स्कर्ट (घाघरा) और उसके ऊपर दोशालानुमा वस्त्र ओढ़ती हैं। खासी लोग गोरे वर्ण के होते हैं। इनकी मुखाकृति सुन्दर होती है विशेषकर आँखें बड़ी आकर्षक होती हैं। छात्रायें खासी पोशाक में बड़ी सुन्दर व सुशील लग रही थीं। विश्राम करने के बाद तरणी बाबू ने आश्रम का एक चक्कर लगवाया। आश्रम के विद्यार्थियों द्वारा बनाये गये सिलाई, कढ़ाई और बुनाई के कुछ नमूने देखने को मिले। उनमें से कुछ चीजों की बिक्री भी हो जाती है। यह आश्रम इस क्षेत्र में इतना लोकप्रिय है कि बहुत से लोग अपने बच्चों को यहाँ भेजने को तैयार हैं, किन्तु स्थान के अभाव के कारण अधिक प्रवेश इसमें नहीं किया जा सकता। जब हम लोग शेला के लिए वहाँ से चलने लगे तब हम लोगों को बड़ी मार्मिक विदाई दी गई। आश्रम की खासी बालिकायें खासी भाषा में बार-बार कहती थीं- "आपकी यात्रा शुभ हो और आप आश्रम में फिर आयें।" हम लोग आश्रम छोड़कर आगे रास्ता चलते जाते थे किन्तु मुड़-मुड़ कर

पीछे देखते जाते थे। आश्रम की बालिकायें हाथ व रूमाल हिलाकर बार-बार कह रही थीं कि आपकी यात्रा शुभ हो और आप आश्रम दुबारा आयें। जब तक हम लोग एक-दूसरे की दृष्टि से ओझल नहीं हुए तब तक आश्रम की बालिकायें हाथ में रूमाल हिला-हिला कर अपनी खासी भाषा में हमें विदाई देती रहीं और हम लोग मुड़-मुड़ कर हाथ हिलाकर उनकी विदाई का उत्तर देते रहे। विदाई की वेला हम लोगों के लिए बहुत ही हृदयद्रावक थी। ऐसा लगता था कि हमारा शरीर तो आश्रम छोड़कर शेला की ओर अवश्य बढ़ रहा है, किन्तु हृदय आश्रम में ही छूट गया है।

शोभारपूंजी से शेला जाते हुए केन्द्रम झरना मिला जो इस प्रदेश का बहुत बड़ा झरना माना जाता है। झरने के चारों ओर भूरे और काले रंग की विशाल पहाड़ी फैली हुई हैं सड़क और झरना के बीच काफी अन्तर है किन्तु फिर भी झरने से पानी की इतनी प्रबल धारा निकलती है कि सड़क के यात्रियों पर पानी की बौछारें आती हैं। काले पत्थरों की यह पहाड़ी किले की मोटी दीवार की तरह दिखाई देती है और उसके बीचों-बीच स्वच्छ एवं उज्जवल जल की मोटी धारा बड़ी ऊँचाई से गिरती है। इस विहंगम दृश्य को देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि यह पहाड़ी खासी पर्वत का देवता है और उसके वक्षस्थल पर मोटी मुक्ता मालायें चमक रही हैं।

शेला तक का रास्ता पहाड़ी है जो घने जंगलों के बीच से गुज़रता है। पूरे रास्ते भर बाँस, कटहल, ओक, सुपारी व तेजपात आदि के पेड़ कड़ी कसरत से पाये जाते हैं। शेला तक पहुँचने में आधा घंटे से अधिक समय लगा। शेला एक गाँव है जो शेला नदी के ऊपर बसा हुआ है। नदी के दूसरी ओर बंगला देश का सिलहट ज़िला पड़ता है। यहाँ पर रामकृष्ण मिशन का एक प्रारम्भिक विद्यालय है जो बहुत पहले स्थापित किया गया था। शेला नदी ऊपर की पहाड़ियों से निकलकर आती है और उसका जल वहाँ पर इतना स्वच्छ, उज्जवल और शीतल है जितना कि ऋषिकेश में गंगा नदी का जल पाया जाता है। शेला नदी के कटाव, मुड़ाव और पथरीले किनारे बहुत ही मनमोहक लगते हैं। नदी के दोनों ओर पहाड़ियाँ और हरे-भरे जंगल पाये जाते हैं। नदी की धारा अधिक तेज़ नहीं थी जैसी कि ऋषिकेश में भगीरथी की तेज़ धारा है। स्वामी गोकुलानन्द जी के आग्रह पर हम लोगों ने कुछ दूर के लिए नाव की सवारी जो बड़ी आनंददायक और स्फूर्तिदायक सिद्ध हुई। गोकुलानन्द जी ने बताया कि उन्हें शेला का प्रारम्भिक विद्यालय देखने के लिए प्रायः यहाँ आना पड़ता है।

नदी के दूसरी ओर बंगलादेश के शरणार्थियों का एक शिविर लगा हुआ था जहाँ कुछ सहायता-कार्य रामकृष्ण मिशन द्वारा भी किया जा रहा था। स्वामी गोकुलानन्द जी को उस सम्बन्ध में भी बार-बार शेला आना पड़ता था। स्वामी जी के साथ मैं भी शिविर देखने गया जहाँ पर लगभग 5000 शरणार्थी पड़े हुए थे। शरणार्थियों में हिन्दू-मुसलमान,

स्त्री-पुरुष, बूढ़े और बच्चे सभी थे किन्तु हिन्दुओं की संख्या मुसलमानों की अपेक्षा बहुत अधिक थी। बताया जाता है कि प्रारम्भ में हिन्दू-मुसलमान दोनों को पाकिस्तान के सैनिकों ने पीड़ित किया और उन्हें अपनी जान बचाकर भारत की शरण लेनी पड़ी। बाद में असामाजिक तत्वों की सहायता से पाकिस्तानी सैनिक-शासन के बर्बर सैनिकों ने हिन्दुओं पर अधिक अत्याचार करना आरम्भ किया जिसके फलस्वरूप अधिकांश हिन्दू परिवार अपनी जान बचाकर भागने के लिए विवश हुए। शिविर में इन शरणार्थियों की दशा देखकर बड़ा दुःख हुआ और उनकी दशा पर बड़ा तरस आया। मेघालय सरकार द्वारा शरणार्थियों के रहने और खाने का प्रबन्ध किया जा रहा था। बाँस और तिरपालों की सहायता से शारणार्थियों के लिए रहने की व्यवस्था की जा रही थी। उनके खाने के लिए चावल प्रतिदिन दिया जाता था। शरणार्थियों की संख्या प्रतिदिन सैकड़ों के लगभग बढ़ जाती थी-अतएव उनके रहने और खाने की व्यवस्था करना दिन-प्रतिदिन मेघालय शासन के लिए कठिन होता जा रहा था। मैंने अपनी आँखों से शरणार्थियों को अपने परिवारों के साथ आते देखा। बाँस के दोनों सिरों पर शरणार्थी लोग अपने बिस्तर एवं गृहस्थी का थोड़ा सामान लादकर ला रहे थे। अधिकांश पुरुष शरणार्थियों के शरीर पर केवल एक धोती या अंगोछा था। अधिकांश स्त्रियों के शरीर पर भी केवल एक धोती थी। आतंक, दमन, अत्याचार और डर से ये लोग अधिक सामान नहीं ला सकते थे। किसी प्रकार अपनी जान बचाकर पैदल या नदी के रास्ते चलकर इन लोगों ने भारत में शरण ली थी। पूछने पर इन लोगों ने बड़ी हृदय-विदारक घटनायें सुनाईं। किस प्रकार सैनिक शासन के क्रूर व बर्बर सैनिकों ने उनकी स्त्रियों और बालिकाओं पर अत्याचार किये? निर्दोष और दुध-मुँहे बच्चों की हत्या कर दी तथा घर और सम्मत्ति जलाकर राख कर दिया। पूर्वी पाकिस्तान के गुण्डे और वहाँ के सैनिक बड़ी निर्दयता से बंगलादेश के नागरिकों की हत्या कर रहे थे जिसका निकट भविष्य में कोई अंत नहीं दिखाई देता था और अधिक बात करने पर जब शरणार्थियों ने बताया है कि उनके परिवार के सदस्यों को किस प्रकार यम-लोक पहुँचा दिया गया और उन्हीं के सामने पाकिस्तानी सैनिकों द्वारा उनकी बहन-बेटियों पर पशुता के साथ व्यभिचार और अत्याचार किये गये तो आँखों में आँसू भर आये और सर नीचे झुक गया। शरणार्थी स्त्रियों को बताने की आवश्यकता नहीं पड़ी। ग्लानि से झुके और मुर्झाये चेहरे तथा आँखों से बहते आँसुओं ने सब कह दिया कि उन पर क्या बीती।

भारी संख्या में शरणार्थियों के आ जाने से मेघालय सरकार को एक बहुत बड़ी समस्या का सामना करना पड़ा। मेघालय राज्य की जनसंख्या 9 लाख थी जबकि शरणार्थियों की संख्या मेघालय के अन्दर एक लाख से ऊपर पहुँच गयी थीं। इसमें मेघालय की आर्थिक-व्यवस्था पर भी प्रभाव पड़ा। मेघालय ने शरणार्थियों की देखभाल के

लिए एक अलग मंत्रालय भी स्थापित कर रखा था। वास्तव में मेघालय जैसे छोटे राज्य के लिए इतनी बड़ी संख्या में शरणार्थियों का प्रबन्ध एक बहुत बड़ी समस्या थी। मेघालय सरकार के कर्मचारी रात-दिन काम करते दिखाई दिये और शरणार्थियों का तांता जारी रहा। बहुत से शरणार्थी परिवार पेड़ों के नीचे डेरा डाले दिखाई दिये क्योंकि जिस गति से शरणार्थी भारत में प्रतिदिन प्रवेश कर रहे थे उतनी तेजी से उनके रहने के लिए व्यवस्था नहीं हो पा रही थी। फिर भी बंगलादेश से आये हुए शरणार्थी भारत सरकार के बड़े आभारी थे। सभी शरणार्थी आँखों में आँसू भरे कहे जा रहे थे कि वे अपनी जान बचाने के लिए भारत में शरण के लिए आये हैं और भारत सरकार ने एवं भारत की जनता ने उन्हें शरण देकर उनके प्रति महान् उपकार किया है जिसे वे कभी नहीं भूलेंगे। इसके साथ-साथ वे बंगला देश की स्वतंत्रता की आशा कर रहे थे और उनका दृढ़ विश्वास था कि शीघ्र की बंगला देश स्वाधीन होगा।

उसी दिन शाम को शेला से चेरापूंजी लौटना हुआ। रास्ते में हल्की वर्षा हो जाने से मौसम बड़ा सुहावना हो गया था। खासियों के अनेक गाँव रास्ते में पड़े जहाँ उनके घर बड़े स्वच्छ और सुथरे दिखाई दिये। एक गाँव में मैं उनके घर देखने के लिए उतरा और घर के अन्दर भली-भाँति जाकर निरीक्षण किया। उनके घर बड़े कायदे के बने होते हैं। घर के बाहर पशुओं का छोटा सा बाड़ा रखा जाता है। ये लोग इन बाड़ों में सुअर आदि पशुओं को रखते हैं। घर बड़ा स्वच्छ रखा जाता है। घर के अन्दर बीचों बीच रसोई होती है और एक दूसरे कमरे में कोयले की अंगीठी होती है क्योंकि जाड़े के दिनों में उन्हें आग तापने की आवश्यकता पड़ती है और कोयला यहाँ पर खूब पाया जाता है। कम दामों में यहाँ पर कोयला उपलब्ध है। घर के एक किनारे पर स्नानघर और शौचालय की व्यवस्था भी की जाती है। ये लोग अधिकतर पीतल आदि धातुओं के बर्तन प्रयोग में लाते हैं। चीनी के बर्तनों का भी अब काफी प्रचलन होने लगा है। द्वार पर बाँस का डण्डा कुछ ऊँचाई पर बाँध देते है जिससे कि छोटे बच्चे बाहर न जायें। इस प्रकार मैंने देखा कि खासी लोगों का रहन-सहन बड़ा स्वच्छ एवं सादा है।

चेरापूंजी पहुँच कर हमने अपना सामान जल्दी से बांधा और शिलांग के लिए तैयारी की। शिलांग जाते हुए रास्ते में सड़क के किनारे खासियों का एक बड़ा पड़ाव मिला। पूछने पर श्री पुघ ने बताया कि ये खासी लोग बाज़ार से लौट रहे हैं। रात हो जाने के कारण इन्होंने यहाँ अपना पड़ाव डाल दिया है और अगले दिन ये अपने घरों के लिए प्रस्थान करेंगे। पड़ाव के निकट जाने पर ज्ञात हुआ कि उन लोगों ने धनुष विद्या की प्रतियोगिता लगा रखी है। इस प्रतियोगिता में इनके दो दल हो जाते हैं और दोनों दलों में जमकर धनुष-प्रतियोगिता होती है। प्रतियोगिता की समाप्ति पर ये लोग बहुत बड़ा भोज करते हैं और विजय की खुशी मनाते हैं। परन्तु पराजित दल सर नीचा करके रहता है और वह

हर्ष के स्थान पर शोक मनाते हैं। धनुष-बाण खासियों का प्रमुख शस्त्र है। अब इन लोगों के यहाँ बन्दूँकें भी आ गई हैं, किन्तु अधिकांश खासी धनुप-बाण का प्रयोग अब भी करते हैं। धनुष-बाण से ये वन्य पशुओं का शिकार करते हैं, शत्रु से युद्ध करते हैं और अपनी आत्मरक्षा भी करते हैं। धनुष्-विद्या की प्रतियोगिता में कभी-कभी दोनों दलों में लड़ाई भी हो जाती है जिसमें एक-आध जान भी चली जाती है। कुछ लोगों का कहना कि इस प्रतियोगिता में कुछ लोग जादू टोने से अपने प्रतिद्वन्द्वी पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं।

खासी प्रदेश में चन्द दिनों के प्रवास में मैंने खासियों पर कुछ अध्ययन किया जो निम्मांकित है-

इतिहास

नारियों का देश भारत के उत्तर-पूर्वी आंचल में खासी, गारों और जयन्तियां पहाड़ियों में बसा हुआ है। यह प्रदेश अनेक राष्ट्रीयताओं, जातियों और संस्कृतियों का घर बहुत पहले से रहा है। शताब्दियों से इस प्रदेश में बर्मा और भारत की ओर से लगातार आक्रमण होते रहे हैं। परिणामस्वरूप आक्रान्ताओं ने इस प्रदेश में अपनी नस्ल, धर्म, भाषा और संस्कृति की अमिट छाप यहाँ के लोगों पर छोड़ रखी है। विद्वानों का कहना है कि खासी जाति बर्मन-तिब्बती नस्ल की है और यह जाति एशिया की मौन और ख्रमेर जातियों से मिलती है जो पेगू और कम्बोडिया में क्रमशः निवास करती हैं। खासी जाति अनाम की निवासी जातियों से मिलती-जुलती है। माण्डले और शान राज्य (बर्मा) के पालोंग जाति के ये बहुत निकट हैं। इनकी बोली भारत की सन्थाल, मुण्डा और कोर्कू आदिम जातियों की बोली से मिलती है। मलाया की पहाड़ी आदिम जातियों की बोली तथा निकोबारी आदिम जातियों की भाषा भी बहुत अंशों तक खासियों की भाषा से मिलती-जुलती है। किन्तु इस भाषा की कोई लिपि नहीं है। अब कुछ अर्से से रोमन लिपि में खासी भाषा का साहित्य लिखा जाने लगा है।

खासी और जयन्तियां पहाड़ियाँ कई भागों में विभक्त हैं। उत्तरी पहाड़ में खासी जाति के निवासी 'भोई' कहलाते हैं, दक्षिणी खासी पहाड़ी के लोग 'बार' कहलाते हैं। पश्चिमी पहाड़ी के लोग 'लियांनगम' कहलाते हैं और पूर्वी पहाड़ियां पर रहने वाले 'हद्रेम' कहे जाते हैं। पठारी भूमि पर रहने वाले 'खासी' कहलाते हैं जहाँ अधिकतर पहाड़ियों पठारनुमा पाई जाती हैं। जयन्तियाँ पहाड़ी के निवासी 'सियन्तेंग' कहे जाते हैं। प्रत्येक भाग की अलग-अलग स्थानीय बोली होती है किन्तु चेरापूंजी की खासी भाषा के। इस प्रदेश के सभी लोग समझ लेते हैं और यहाँ की शैक्षिक संस्थाओं में चेरापूंजी की खासी बोली को ही पढ़ाया जाता है। अधिकृत रूप से चेरापूंजी की खासी भाषा को खासी भाषा की मान्यता दी गई है।

जयन्तिया (जनजाति) के नर्तक लाहो-नृत्य की वेशभूषा में

पहले इस प्रदेश में सियेम का राज्य होता था- वह खासी आदिम जाति का सरदार और मुखिया माना जाता था। अब भी सियेम घराने के सदस्यों की इस प्रदेश में बड़ी प्रतिष्ठा है। उनके घराने को राज-घराना माना जाता है और राजवंश के लोगों को 'कीसियम' कहा जाता है। पुरोहित घराने के सदस्यों को 'की-लियंगोह' कहते हैं। ये दोनों वर्ग समाज में उच्च समझे जाते हैं। इनके नीचे मध्य वर्ग और निम्न वर्ग के लोग होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू धर्म में वर्णव्यवस्था की तरह खासियों में भी चार वर्ग पाये जाते हैं।

मातृ-प्रधान समाज होने से खासियों में नारियों का विशिष्ट स्थान होता है। इनके यहाँ कहावत भी है कि नारी से गोत्र चलते हैं। पुरोहित के रूप में भी यहाँ नारियाँ पाई जाती हैं। किसी समय में सियेम राज्य की नारी राजा और पुरोहित दोनों हुआ करती थी जिस प्रकार तिब्बत में लामा राजा और पुरोहित दोनों रूप में होता था।

गोकि खासियों में सियेम राज्य बहुत दिनों तक चला, किन्तु इनका सामाजिक और राजनीतिक ढांचा बहुत पहले से प्रजातांत्रिक रहा है। अपने मुखियाँ का चुनाव ये लोग स्वयं करते रहे हैं और अब भी करते हैं। अनेक गाँवों को मिलाकर परिषद बनाते हैं और उसके अध्यक्ष को ये लोग स्वयं चुनते हैं। पूरे खासी प्रदेश के 26 खासी मुखिया बताये गये हैं और इन सबके ऊपर सियेम होता है जिसका दरबार बहुत प्रसिद्ध है और उसका वर्णन भी बहुत पुस्तकों में पाया जाता है। इनकी अपनी ग्राम-पंचायतें होती हैं जो पुराने समय से चली आ रही हैं। गाँव के सभी बालिग नर-नारी इस पंचायत के सदस्य होते हैं। आपसी झगड़े और विवाद इस पंचायत द्वारा तय होते हैं। इस पंचायत का निर्णय सर्वमान्य होता है। पंचायत का निर्णय देवता का निर्णय समझा जाता है और उसके विरुद्ध जाने का किसी का साहस नहीं होता। इन लोगों का ऐसा विश्वास है कि पंचायत का निर्णय न मानने पर उन पर बिजली गिरेगी या शेर या साँप के द्वारा उनकी मृत्यु हो जायेगी। ये लोग धर्म के विरुद्ध वैसे भी कोई काम करने का साहस नहीं करते और इसी विश्वास से वे वनों में अकेले निडर होकर जाते रहते हैं। उनका कहना है कि चूँकि उन्होंने ईश्वरीय नियमों के विरुद्ध कोई काम नहीं किया, अतएव उन्हें न तो शेर और साँप का डर है और न बिजली का भय है।

सामाजिक विषयों पर खासियों का पूरा समाज एक इकाई के रूप में दिखाई देता है। किसी की मृत्यु हो जाने पर समाज के सभी सदस्य मृतक के दाह-संस्कार में भाग लेते हैं और मृतक के संतप्त परिवार की यथासम्भव सहायता करते हैं। जो ऐसा नहीं करता, उसका सामाजिक बहिष्कार किया जाता है। ये लोग अपनी सभ्यता और संस्कृति के बड़े प्रेमी हैं और यही कारण है कि शताब्दियों से अनेक आक्रमणों के बावजूद भी इन्होंने

अपनी महान् संस्कृति को अभी जीवित रखा है। यह कहना गलत न होगा कि अपनी संस्कृति और धर्म के सहारे ये लोग बड़े साहसी और परिश्रमी होते हैं।

खासी–न्याय

इनके समाज में सियेम को बहुत अधिक आदर और सम्मान प्राप्त है। बड़े-बड़े मामलों को सियेम द्वारा सुलझाया जाता है। गम्भीर मामलों में सियेम बहुत बड़ी पंचायत बुलाता है। इस सम्बन्ध में सियेम द्वारा जो संदेश भेजा जाता है उसका माध्यम बड़ा अनोखा होता है। कहते हैं कि रस्सी में गाँठ बांधकर सियेम संदेश भेजता है। गाँठों की शैली से संदेश का तात्पर्य निकाला जाता है। मनादी द्वारा भी यहाँ संदेशों का प्रसारण होता है और घोषणायें की जाती हैं। ये मनादी संध्या समय प्रमुख स्थानों पर की जाती है जबकि सभी लोग वनों और खेतों से अपने घरों में वापिस आ गये होते हैं। मनादी करने वाला ऐसा व्यक्ति होता है जो उच्च स्वर से चिल्लाकर घोषणा करता है। उनके कहने का ढंग निराला होता है। दूर से ही मनादी वाले की बोली सुनकर इन लोगों को पता चल जाता है कि किसी प्रमुख संदेश की घोषणा की जा रही है।

मनादी के बाद निश्चित तिथि और स्थान पर पंचायत होती है जिसमें सियेम मामलों की सुनवाई करता है। ऐसे दरबार में पहले राजा अपनी प्रजा के साथ भाग लेता था और सभी मंत्रीगण उसमें उपस्थित होते थे। जब भी संगीन मामलों में इनके मुखिया द्वारा इस प्रकार का दरबार किया जाता है उस दिन कोई बालिग व्यक्ति बाहर नहीं जा सकता और न कोई और काम कर सकता है। मामलों की सुनवाई के बाद दरबार की राय से निर्णय होता है और निर्णय के अनुसार वादी और प्रतिवादी को दण्ड दिया जाता है। इस दरबार को पहले प्राणदण्ड देने तक का भी अधिकार था। यही, नहीं उस समय जिस अपराधी को दरबार द्वारा प्राणदण्ड दिया जाता था उसकी गर्दो से मारकर जान ली जाती थी।

इनके दरबार द्वारा कई प्रकार के दण्ड दिये जाते हैं। दण्डित व्यक्ति को सुअर, मुर्गे आदि भी दण्ड में देने होते हैं। सुअर और मुर्गे को देवता पर चढ़ाया जाता है और उसके बाद मुखिया तथा अन्य दरबारी उसके मांस को खाते हैं। पेचीदे मुकदमें खासी अदालत द्वारा अनोखे ढंग से सुलझाये जाते हैं। एक गहरे तालाब में वादी और प्रतिवादी अदालत के समक्ष अपने भाले गाड़ते हैं और उन भालों को वादी और प्रतिवादी पक्ष के सदस्य डुबकी लगाकर ढूंढ़ते हैं। जिस पक्ष के सदस्य अधिक समय तक डुबकी लगाकर पानी के अन्दर रहते हैं उसी पक्ष की विजय समझी जाती है।

एक बर्तन में पानी के अन्दर सोने और चाँदी के आभूषण डालकर भी यहाँ कभी-कभी संगीन मामलों का निर्णय किया जाता है। वादी-प्रतिवादी अपने-अपने एक-एक

हाथ डालकर आभूषण को बाहर निकालते हैं। जिसके हाथ स्वर्ण आभूषण लगते हैं वह पक्ष जीत जाता है और इस निर्णय को ये लोग जल की देवी का निर्णय समझते हैं।

जब कोई मामला बड़ा पेचीदा होता है और उसका निर्णय किसी अन्य प्रकार से नहीं हो पाता है तो कबीले की देवी द्वारा उसका फैसला कराया जाता है। एक कद्दू में कुछ खमीर और उबले चावल भर दिये जाते हैं तथा उनका मुखिया वादी और प्रतिवादी दोनों को बुलाकर उन्हें देवी की शपथ दिलाता है। शपथ देने के बाद उस कद्दू को अपने सर पर ऊपर रखना पड़ता है। इन लोगों में ऐसा विश्वास है कि झूठी शपथ वाले की मृत्यु हो जाती और उसके परिवार के सदस्य भी मर जाते हैं। इस भय से कोई पक्ष झूठी शपथ लेने का साहस नहीं करता। यह प्रथा अब प्रायः समाप्त हो रही है।

खासी परिवार

इनके परिवार मातृ-प्रधान होते हैं। पौराणिक कथाओं के अनुसार ये लोग नारी-पूर्वज की संतान हैं। इनके परिवार के सदस्य माँ, अवविवाहित पुत्र और पुत्रियाँ, पति, विवाहित पुत्रियाँ और उनके पति होते हैं। विवाह के पश्चात् भी इनकी पुत्रियाँ अपने माता-पिता के घर रहते रहती हैं और उनके पति भी वहीं ससुराल में रहते हैं। जब दम्पति के बच्चे हो जाते हैं और वे अपने परिवार पालने में समर्थ समझे जाते हैं तो दम्पति को उनके बच्चों के साथ अलग रहने की अनुमति दे दी जाती है। किन्तु छोटी पुत्री, बच्चे होने के बाद भी अपने माँ के घर रहती है क्योंकि परिवार की सम्पत्ति की वह उत्तराधिकारिणी होती है और सभी धार्मिक एवं पारिवारिक संस्कार उसको ही करने होते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि छोटी पुत्री बिना अपने भाईयों और मामाओं की राय से अपनी सम्पत्ति का निस्तारण नहीं कर सकती जबकि परिवार की सम्पत्ति पर एक मात्र उसी का अधिकार होता है। इसी प्रकार बहिन का पुत्र परिवार की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है। खासियों के मातृ-प्रधान समाज में पिता का अधिकार क्षेत्र बड़ा सीमित होता है। यहाँ तक कि पिता की मृत्यु पर उसकी अस्थियाँ उसकी पत्नी की अस्थियों के साथ नहीं रखी जाती हैं बल्कि उन्हें उसकी माँ की अस्थियों के साथ रखते हैं। विवाह के पूर्व पुत्र जो कुछ कमा कर लाता है वह आय सभी माँ के हवाले की जाती है और माँ ही बेटे की अभिभावक मानी जाती है।

ईश्वरवादी

खासी बड़े ईश्वरवादी होते हैं। वे एक ईश्वर में विश्वास करते हैं जिसमें वह माता और पिता दोनों के रूप देखते हैं जिस प्रकार कि सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति के

रूप में एक ईश्वर के अनेक रूप दर्शाये गये हैं। इस ईश्वर के अनेक रूप माने जाते हैं। वह सृष्टि का सृष्टा है, पालन-कर्ता है और विनाशक भी है। एक ईश्वर के बाद खासी लोग अनेक देवताओं को मानते हैं और उनमें अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के देवता होते हैं- उदाहरणार्थ, ऊबली नांगपन देवता विधाता है जो सृष्टिकर्ता है। ऊली लांजिंज देवता सबका पालनकर्ता है और रक्षा करता है। ऊरहि मलेरिया लाता है और ऊकारूलाम हैजा फैलाता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि अंग्रेजों के आने से इस प्रदेश में बहुत सी ईसाई मिशनरियों ने अपने केन्द्र खोले और शिक्षा के साथ-साथ इन भोले-भाले खासियों को उन्होंने ईसाई बनाना प्रारम्भ किया। अधिकांश खासी ईसाई धर्म के मानने वाले हो गये हैं किन्तु ईसाई होते हुए भी इन लोगों ने अपनी संस्कृति नहीं छोड़ी। पौराणिक कथाओं में अब भी इनका विश्वास है। इनके देवी-देवताओं की बहुत सी कहानियाँ कही जाती हैं और कुछ लोग उन्हें बड़े रोचक ढंग से कहते हैं। कथाकार लोग दुईतारा बाजे के साथ इतने सुरीले स्वर में इन पौराणिक कथाओं को सुनाते हैं कि सुनने वाले बड़े द्रवित होते दिखाई देते हैं और मुग्ध हो जाते हैं। इन कथाओं में ये कथाकार अपने वीर पुरुषों और नारी पूर्वजों की कथायें भी सुनते हैं। खासी भाषा की कोई लिपि न होने के कारण ये कथाकार इन कथाओं को मौखिक याद रखते हैं और सुनाते हैं जिस प्रकार कि वैदिक-काल में आर्यों के गुरु वेद-मंत्रों को मौखिक याद रखते और अपने शिष्यों को भी मौखिक याद कराते थे। अब इन लोगों ने रोमन लिपि अपना ली है और खासी कथाओं को रोमन लिपि में लिखा जाने लगा है।

गोकि इनकी अधिकांश पौराणिक कथायें तर्कयुक्त नहीं होतीं किन्तु फिर भी वे बड़े धार्मिक महत्त्व की समझी जाती हैं और उन पर इन लोगों की दृढ़ आस्था होती है। चन्द्रमा में जो कालिमा के धब्बे दिखाई देते हैं उसके ऊपर खासी इस प्रकार की कथायें बताते हैं कि प्राचीन समय में एक धनाढ्य महिला के चार बच्चे थे जिनमे तीन पुत्रियाँ और एक पुत्र था। पुत्रियों के नाम सूर्य, जल और अग्नि थे तथा पुत्र का नाम चन्द्र था। यहाँ बताना आवश्यक है कि मातृ-प्रधान समाज होने के कारण खासियों के अधिकांश देवी-देवता स्त्री लिंग में माने गये हैं। सूर्य बड़ी बालिका थी और जब उसने यौवन में प्रवेश किया तो उसके भाई चन्द्र ने उसे काम वासना की दृष्टि से देखना आरम्भ किया। चन्द्र अपनी बहिन सूर्य के ऊपर आसक्त होकर उससे प्रेम करने लगा। उस समय चन्द्र भी सूर्य की भाँति उज्ज्वल था। जब सूर्य को चन्द्र की काम-वासना और कुदृष्टि का पता चला तो वह अपने भाई चन्द्र पर बहुत क्रुद्ध हुई। उसने हाथ में राख लेकर चन्द्र को फटकारा कि बहिन पर इस प्रकार की दृष्टि डालकर तुम्हें लज्जा नहीं आती। जिस बहिन ने तुम्हें माता की भाँति गोद में पाला और पीठ पर लादकर जंगलों में घूमी, उसी बहिन के ऊपर तुमने

पाप-दृष्टि डाली। यह कहकर सूर्य ने चन्द्र के मुँह पर राख मल दी और कहा "दुष्ट और निर्लज्ज ! तुम अभी घर से निकल जाओ।" चन्द्र अपनी करतूत पर बहुत लज्जित हुआ और घर से निकल गया। तभी से चन्द्र मलिन प्रकाश देने लगा क्योंकि सूर्य ने उसके मुख पर राख मल दी थी। चन्द्र में जो बादल दिखाई देते हैं वह वही राख है जो सूर्य ने मल दी थी। चन्द्र के जाने के बाद भी तीनों बहिनें अपनी माँ के पास रहीं और जब तक उनकी माता जीवित रही वे उसकी सेवा-सुश्रूषा करती रहीं।

भाग्यवादी

खासी लोग भाग्य में बड़ा विश्वास करते हैं। इनके अनुसार कुछ दिन शुभ होते हैं और कुछ दिन अशुभ होते हैं। जिसका जन्म शुभ-घड़ी में होता है उसे भाग्यवान समझा जाता है। ये लोग शुभ-अशुभ लक्षणों में भी विश्वास करते हैं। हथेली में खुजली होने से उसे अच्छे दिनों का सूचक माना जाता है। बगीचे में यदि हूपू चिड़िया बोले तो परिवार में किसी का विवाह-सम्बन्ध होना चाहिए। पेड़ की डाल अकस्मात टूटने से उसे अपने किसी सम्बन्धी की मृत्यु का प्रतीक मानते हैं। कौवा और गिद्ध के घर में आने से मृत्यु की आशंका मानी जाती है। इसी प्रकार उल्लू के बोलने से बीमारी और मृत्यु का भय होता है। इन अशुभ पक्षियों के विरुद्ध ये लोग कुछ उपचार भी करते हैं। बड़ी और चौड़ी पत्तियों को जलाकर वे इन अशुभ पक्षियों को भगाते है जिससे कि इनके परिवार में आने वाला अनिष्ट टल जाये।

जादू-टोने में विश्वास

अन्य आदिम जातियों की भाँति खासी भी जादू-टोने और प्रेतात्माओं में विश्वास रखते हैं। जिन स्थानों पर प्रेतात्मायें रहती हैं उन्हें बड़ा अशुभ समझा जाता है और वहाँ जाना निषिद्ध माना जाता है। इन आत्माओं के साथ ही ओझा लोग होते हैं। जादू और मंत्र द्वारा ओझा प्रेतात्माओं का बुलाते और भगाते हैं। कुछ जादू-टोना करने वाले ओझा अनिष्ट काम भी करने वाले होते हैं जिन्हें समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता है और पकड़े जाने पर उनकी बड़ी पिटाई की जाती है। उनके सर का मुंडन तीन टुकड़ों में किया जाता है और फिर झाड़ू से उनके सिर की पिटाई लगायी जाती है। कहा जाता है कि कुछ ओझाओं के पास विशेष शक्ति (बान) होती है जिसके द्वारा वह अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के कार्य कर सकते हैं। लकड़हारा इस शक्ति द्वारा लकड़ी का गट्ठड़ क्षण भर में जंगल से अपने घर भेज सकता है। इस शक्ति से शत्रु पर प्रहार करता है और उसकी मृत्यु भी इसके द्वारा की जा सकती है। परन्तु यदि कमरे के अन्दर बोतल या कद्दू फल रख दिये जायें तो वहाँ इस शक्ति का प्रभाव नहीं पड़ता-ऐसा इन लोगों का विश्वास है।

प्रेतात्माओं के निवास-स्थान कुछ नाले और बाग होते हैं। नाले में रहने वाले कुछ जीव 'परी' कहलाते हैं। कहते हैं कि इन मादा परियों के विवाह कुछ मनुष्यों के साथ किये जाते हैं किन्तु उन मनुष्यों की मुखाकृति बड़ी असाधारण और भयावनी होती है, वह मंनुष्य और लोगों से बहुत कम बोलते है और अपना अधिकतर समय उस नाले पर बिताते हैं जहाँ उनका (अतिप्राकृतिक) दम्पति निवास करता है। जिन बागों में प्रेतात्मायें रहती हैं उन्हें "ला लियंगडोह" कहते हैं। इन बगीचों का बड़ा सम्मान और आदर किया जाता है, यहाँ तक कि कोई इनकी लकड़ी नहीं काट सकता और एक पत्ता भी नहीं तोड़ सकता। यदि इन बगीचों से कोई पेड़ काटेगा तो उनका बड़ा अनिष्ट होगा। कहते हैं कि शिलांग-डोकी मार्ग के नीचे एक ऐसे ही पवित्र बाग में एक लियांगडोह (पुरोहित) अनजाने जूते पहनकर चला गया अतएव उसकी मृत्यु हो गई।

अंध विश्वास

खासियों का ऐसा विश्वास है कि कुछ मनुष्य बाघ का रूप धारण कर सकते हैं। कामरूप की जादू की कहानियों में भी इस प्रकार की बातें बताई गई हैं कि वहाँ के लोग जादू द्वारा किसी भी व्यक्ति को पशु बना सकते हैं और उसको अपने पास में जब तक चाहें तब तक रखा जा सकता है। यहाँ के कुछ लोगों का कहना है कि काले नाग के पास मणि (पत्थर) होता है जिसके उजाले से वह अपना शिकार करता है। रात को मणि वाला साँप मणि को अपने मुँह से निकालकर रख देता है और उसका प्रकाश जितनी दूर तक जाता है वहाँ तक वह अपना शिकार करता है। जो लोग इस मणि को प्राप्त करना चाहते हैं वे चुपके से मणि के ऊपर गोबर डाल देते हैं जिससे मणि का प्रकाश बन्द हो जाता है। इस प्रकार साँप दौड़कर मणि की ओर आता है और अपनी मणि को न पाकर अपनी दुम को बुरी तरह पटकता तथा शरीर को ऐंठता है। इस प्रकार करते हुए थोड़ी देर में सांप की मृत्यु हो जाती है। सांप के मरने पर ही उसकी मणि गोबर के नीचे से ले जाई जा सकती है। यदि सांप के जीवित रहते हुए मणि को ले जाने की चेष्टा की गई तो उसकी खैर नहीं।

कुछ व्यक्तियों की दृष्टि बड़ी बुरी होती है और ऐसी कुदृष्टि जिनके ऊपर पड़ती है उसके पेट में शूल का दर्द हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों की कुदृष्टि यदि बच्चे पर पड़ जाये तो वह रोगी और दुर्बल हो जाता है। इनका विश्वास है कि यदि ऐसे किसी अपंग व्यक्ति पर हंसा या उसकी नक्ल की जाये तो उसकी अपंगता हंसने वाले पर आ सकती है। अतएव ये लोग अपंग व्यक्ति की हंसी नहीं उड़ाते।

प्रकृतिवादी

प्रकृति की गोद में रहने वाले खासी बड़े प्रकृतिवादी होते हैं और प्रकृति से इन्हें बड़ा प्रेम होता है। इनका कहना है कि प्रकृति की लीला और शक्ति बड़ी अलौकिक और अद्‌भुत होती है। धूल के बवण्डर जब उड़ते हैं तो उनके अन्दर की धूल लाने की ये लोग चेष्टा करते हैं। उस धूल के द्वारा अपनी इच्छा की वस्तु प्राप्त की जा सकती है। इनका विश्वास है कि सभी नदी-नाले रात को थोड़े समय के लिए अवश्य सोते हैं और यदि कोई उस समय का जल ला सके तो उसकी मनोकामना अवश्य पूर्ण होगी। पहाड़ी-जंगली प्रदेश होने से यहाँ जड़ी-बूटियों की कमी नहीं है। इन जड़ी-बूटियों से ये लोग छोटे-बड़े सभी रोग ठीक कर लेते हैं। जड़ी-बूटियों का इलाज बड़ा सस्ता होता है और प्रत्येक स्थान पर सुलभ होता है। गले में मछली खाते हुए जब कभी कांटा फंस जाता है तो ऊदबिलाव के सूखे पंजे से गले के ऊपर कंघा किया जाता है. तथा उस पंजे के पानी को निगला जाता है। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि ऊदबिलाव का प्रिय भोजन मछली होता है, अतएव मछली के कांटा फंसने में ऊदबिलाव के सूखे पंजे की सहायता ली जाती है। चालाक सियार का ये लोग शिकार करके अपना दिमाग तेज़ करने के लिए उसके दिमाग को पका कर खाते हैं। इनका विश्वास है कि गाय और विशेष जाति के बन्दर का मांस खाने से मलेरिया रोग दूर होता है। तिलचट्टे खाने से दमा का ठीक होना बताया जाता है। जड़ी-बूटियों से परिपूर्ण होते हुए भी इन लोगों की यह दृढ़ धारणा है कि अच्छे काम करने से ही कोई नीरोग और सुखी रह सकता है। यदि कोई पवित्र जीवन व्यतीत करेगा और ऐसा कोई काम नहीं करेगा जिससे किसी व्यक्ति को कष्ट हो या ईश्वर को अच्छा न लगे तो उस व्यक्ति को कभी कोई रोग नहीं होगा। अब भी पुराने विचार वाले खासी व्यक्ति रोगी होने पर कोई दवा नहीं लेते। वे दवा धर्म-विरुद्ध समझते हैं। उनका कहना है कि हमने कोई ऐसा काम किया होगा जिसका दण्ड रोग के रूप में ईश्वर के यहाँ से मिल रहा है, अतएव हमें वह दण्ड स्वीकार करना चाहिए।

समय-मापन

खासियों के अपने अलग समय-मापक हैं। चन्द्र-गति के आधार पर इन्होंने अपने समय-मापक बना रखे हैं। जितने समय में आँख की पलक मारी जाती है उसे क्षण कहते हैं। या जितने समय में सुपारी अर्पित की जाती है उसे भी क्षण कहा जाता है। खासी-सप्ताह सात दिन के स्थान पर आठ दिनों का होता है और महीना 28 दिन का होता है। एक वर्ष में इनके यहाँ के 12 के स्थान पर 13 महीने होते हैं। वर्ष का प्रारम्भिक मास

प्रायः नवम्बर के आस-पास होता है जबकि ये लोग अगली फसल की तैयारी करते हैं।

बस्ती

खासियों के रहन-सहन पर विदेशी लोगों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है क्योंकि सन् 1830 ई० से ही आसाम की राजधानी चेरापूंजी बनाई गई जो खासी प्रदेश के मध्य में स्थित है। इनके गाँव में बहुत से घर होते हैं और इनकी बस्तियाँ अधिकतर पहाड़ों के ऊपर बसी होती हैं। घाटियों में ये लोग अपनी बस्तियाँ इसलिए नहीं बनाते क्योंकि घाटियों को ये अशुभ और अनिष्ट मानते हैं। वहाँ अधिक बीमारियाँ होती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि खासियों का दृष्टिकोण अधिक तर्कपूर्ण और स्वास्थ्यवर्धक है। घर के बगीचे की भूमि ये लोग तिकोनी नहीं रखते क्योंकि तिकोनी भूमि इनके यहाँ अशुभ मानी गई है। सीमा-पत्थरों का ये बड़ा सम्मान करते हैं और ऐसा समझते हैं कि उन्हें छूने से गठिया रोग हो जाता है बल्कि गठिया के रोगी अपने रोग ठीक करने के लिए पत्थर के चारों ओर घास और लतायें बांधते हैं और विनती करते हैं कि गठिया रोग उनके शरीर से निकलकर पत्थर में स्थान्तरित हो जाये। घर के मुख ये लोग यथासम्भव पूरब दिशा में रखते हैं। अन्य दिशाओं में घर का मुख अधिक शुभ नहीं माना जाता। घर बन जाने पर ये लोग 'कियान्चोई सासकेन' संस्कार करते हैं और बड़ी खुशियाँ मनाते हैं। इस संस्कार के अवसर पर द्वार पर सूखी मछली व मांस के टुकड़े बांधकर लटकाये जाते हैं। पुरुष अतिथि जो इस अवसर पर आते हैं वे होड़ लगाकर इन लटकते हुए सुखी मछली के मांस को हथियाने की चेष्टा करते हैं। भोजन के बाद ये लोग खूब नाचते और गाते हैं।

पेशा

खासियों का मुख्य पेशा खेती है। घाटियों और पहाड़ियों के ऊपर ये लोग खेती करते हैं। पहाड़ी चोटियों पर झूमियाँ-खेती की जाती है। आग लगाकर जंगल जला दिये जाते हैं और वहाँ की भूमि चौरस करके वहाँ फसल बोते हैं। अगले वर्ष दूसरी पहाड़ियों के जंगलों मे आग लगाकर इसी प्रकार खेती की जाती है। आजकल इस क्षेत्र में आलू की खेती का बड़ा प्रचलन हो गया है और इसके द्वारा इनकी आर्थिक दशा भी बहुत सुधरी है। संतरे, कटहल, सुपारी, तेजपात, दालचीनी आदि के बगीचे भी यहाँ खूब लगाये जाते हैं और उससे बड़ी अच्छी आय हो जाती है। खेती के साथ-साथ ये लोग पशु-पालन भी करते हैं। कुत्ता, बिल्ली, गाय, मुर्गे आदि इनके घरों में पाले जाते हैं। मानव और पशु के बीच सम्पर्क कैसे हुआ, इस पर इनके यहाँ पौराणिक कथायें कही जाती हैं। पशुओं में मुर्ग सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पक्षी माना गया है। बिना मुर्ग के ईश्वर के साथ सम्पर्क

असम्भव माना जाता है। इसलिए देवताओं पर मुर्ग की बलि इनके यहाँ बहुत अधिक दी जाती है। कहते हैं कि बलि के बाद मुर्ग सीधा ईश्वर के पास जाता है और बलि करने वाले व्यक्ति की समस्याएँ ईश्वर के समक्ष रखता है। मुर्ग की भाँति उसका अण्डा भी ध ार्मिक और महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इन अण्डों को ये लोग ईश्वर का शिशु मानते हैं।

खासी लोग पहले दूध का प्रयोग नहीं करते थे। दूध पकते समय यदि आग में गिर जाये तो वह दूध देने वाले पशु के लिए बड़ा अनिष्ट समझा जाता है। इनका विश्वास है कि यदि दूध आग में गिरेगा तो उस पशु को रोग हो जायेगा अतएव पशु के हित में दूध प्रयोग न करना ही श्रेयस्कर है। यदि कभी आग में पकते हुए दूध गिर जाये तो तुरन्त थोड़ा नमक आग पर छिड़क दिया जाता है, जिससे कि उस पशु का अनिष्ट न हो। घर में मधुमक्खी का आना बड़ा शुभ समझते हैं और मधुमक्खी-पालन भी ये लोग करते हैं। आजकल उन्नत ढंग से ये लोग मधुमक्खी-पालन करने लगे हैं जिससे बड़ी अच्छी आय भी हो जाती है किन्तु यदि बड़ी मधुमक्खी घर में आ जाये तो उसे अशुभ समझा जाता है और उन मधुमक्खियों को भगाने का प्रयत्न किया जाता है। ये प्रयत्न बड़ी समझदारीपूर्वक होते हैं। ये लोग उन जंगली बड़ी मक्खियों से बात करते हैं और विनती करके उन्हें घर से बाहर जाने के लिए कहते हैं।

भोजन

खासी जाति मांसाहारी होती है। चावल इनका मुख्य भोजन है और उसके साथ मांस या मछली बहुत अधिक पंसद की जाती है। ये लोग कुत्ते, बिल्ली आदि को छोड़ कर अनेक पशुओं का मांस-भक्षण करते हैं। कुछ गोत्रों में किसी-किसी वस्तु का खाना निषिद्ध माना जाता है, जैसे रियन्जाह गोत्र में कद्दू नहीं खाया जाता। खाने के पूर्व खासी लोग पहला कौर धरती माता को अर्पित करते हैं और शांतिपूर्वक भोजन करते हैं। इनके यहाँ भोजन के समय गाना निषिद्ध माना जाता है। भोजन पर अजनबी की दृष्टि नहीं पड़नी चाहिए अन्यथा कोई उदर रोग होने की आशंका होती है। यदि धोखे से किसी अजनबी की दृष्टि भोजन पर पड़ जाये तो उसके निवारण के लिए थोड़ा सा भोजन भूमि पर डाल देते हैं। यदि पत्तों पर कुछ भोजन बाहर से लाया हो तो उसे बचाकर ले जाते हैं और उसका कोई अवशेष घर में वापिस नहीं लाते हैं- यहाँ तक कि खाने के बाद उस पत्ते को भी फाड़कर फेंक देते हैं। नींबू और सन्तरे इस प्रदेश के प्रिय फल हैं। इनके खाते समय यदि कोई स्त्री गोद में बच्चा लिये संतरा खाते सामने पड़ जाये तो उस बच्चे को संतरा खाने को अवश्य दिया जायेगा वरना बच्चे को मुँह से लार बहने की बीमारी हो जायेगी। खाने में यदि छींक आ जाये तो उस भोजन को त्याग दिया जाता है और हाथ

धोकर दूसरा भोजन परोसा जाता है। इसी प्रकार कुएं से खाली घड़ा और बाज़ार से खाली टोकरी लाना इनके यहाँ बड़ा अशुभ माना जाता है।

विवाह

खासी लोग गोत्रों की छानबीन करके विवाह-सपन्न करते हैं। ऊँच-नीच का भेदभाव विवाह के समय देखने में आता है। जिन गोत्रों में कभी कोई सम्बन्ध न रहा हो उनके यहाँ विवाह-सम्बन्ध किया जाता है। अपने गोत्र के अन्दर विवाह करना बड़ा अनिष्ट समझा जाता है और किसी-किसी गोत्र में यह निषिद्ध भी है। विवाह के बाद दम्पति अपने गोत्र में रहते हैं। यदि सबसे छोटी लड़की से विवाह हुआ तो लड़के को ससुराल में रहना पड़ता है और ससुराल में रहते हुए लड़के को सारी कमाई ससुराल में देनी होती है। कुछ बच्चे हो जाने के बाद वह ससुराल से अलग उस दशा में रह सकता है जबकि वह अपने परिवार के पालन करने में समर्थ समझा जाय। सियंतेंग परिवार में लड़के को अपने मामा के घर रहना होता है। विवाह हो जाने पर भी वह न तो ससुराल में रह सकता है और न अपनी पत्नी को अपने साथ रख सकता है। केवल रात में वह अपनी पत्नी के यहाँ रह सकता है और सुबह होते ही वह अपने मामा के घर लौट जाता है। रात में उसे अपनी ससुराल में केवल रहने की अनुमति होती है किन्तु वह वहाँ कुछ खा नहीं सकता। मृत्यु-पर्यन्त इसी प्रकार का जीवन सियंतेंग लोग बिताते हैं। मृत्यु होने पर दाह-संस्कार का समस्त प्रबन्ध मामा लोग ही करते हैं।

विवाह करते समय शुभ और अशुभ मौसम का विचार भी इनके यहाँ किया जाता है। वर्षा ऋतु में खासी विवाह करना अशुभ मानते हैं जबकि आसमियों के यहाँ वर्षा होने पर विवाह करना शुभ समझते हैं। सूखे मौसम में विवाह करना खासियों में उचित और शुभ समझा जाता है। खासियों में तलाक-प्रथा भी विद्यमान है जिसमें दोनों पक्षों की स्वीकृति आवश्यक समझी जाती है। तलाक का आधार व्यभिचार, बांझपन और पति-पत्नी में आपसी लड़ाई-झगड़ा आदि होनी चाहिए। एकतरफा तलाक देने वाले पक्ष को मुआवज़ा भी देना पड़ता है।

मृत्यु-संस्कार

ऊपर कहा जा चुका है कि खासियों के विश्वास के अनुसार यदि देवता क्रुद्ध हो जाता है तो बीमारी और मृत्यु आती है। इनके परिवार में जब कोई मर जाता है तो सभी लोग मृतक के पास रात भर जागते हैं और ऐसा न करने पर बड़ा पाप एवं अनिष्ट समझा जाता है। मृत्यु के दूसरे दिन विधिवत् मृतक-संस्कार किया जाता है। परिवार के सदस्य और सगे-सम्बन्धी तो इस अवसर पर रोते ही हैं बल्कि उनके अतिरिक्त कुछ

अपनी पारम्परिक वेशभूषा में एक खासी दम्पत्ति (मेघालय)

पेशेवर रोने वाले भी आ जाते है। दक्षिणी जयन्तियों के एक पहाड़ी क्षेत्र में ये पेशेवर रोने वाले काफी रहते हैं। रोने के साथ-साथ ये पेशेवर मृतक की बड़ी प्रशंसा करते जाते हैं और मृतक की वंशावली का पूरा इतिहास सुनाते जाते हैं। मृतक की अर्थी को श्मशान स्थान ले जाते हैं। मृत्यु के पूर्व यदि मृतक ने किसी दूसरे घर या स्थान में रहने की इच्छा प्रकट की थी तो अर्थी को उस स्थान से ले जाते हैं जिससे कि मृतक की आत्मा प्रसन्न रहे। किसी दुर्घटना से मरे मृतक को घर के अन्दर नहीं ले जाते और दाह-क्रिया भी घर से बाहर ही की जाती है। साधारणतया उनके यहाँ सभी मृतकों का दाह-संस्कार किया जाता है। किन्तु यदि चेचक आदि बीमारी से मृत्यु हुई हो तो मृतक को दफना देते हैं। दाह-संस्कार के स्थान पर दिवंगत आत्मायें अपने दाह-संस्कार का दृश्य देखती हैं। अतएव मृतक की अस्थियाँ उसकी एक सम्बन्धी महिला बड़े यत्न से एकत्र करती है और उन्हें अन्य मृतकों की अस्थियों के पास नियमानुसार रखती है। इन अस्थियों को लेकर वह महिला बड़े सधे पाँव चलती है और केवल अपने सामने की ओर देखती है। इधर-उधर उसे देखने की अनुमति इसलिए नहीं है कि कोई प्रेतात्मा उसका ध्यान भंग न कर सके। रास्ते में कोई नाला आने पर दोनों के किनारों पर डोरी बांधी जाती है जिसके द्वारा दिवंगत आत्मा आसानी से उस नाले को पार कर सके।

निषेध

खासी समाज में अनेक निषेध माने गये हैं। कटे नाखून और बाल इनके यहाँ लापरवाही से नहीं छोड़ जाते। ओझा उनके द्वारा अनिष्ट कर सकता है। इन कटे नाखून और बालों को फेंकने के पूर्व उन पर थूक दिया जाता है या किसी अन्य प्रकार से उन्हें गंदा कर दिया जाता है जिससे कि और कोई उनका प्रयोग नहीं कर सके। किन्तु कटे बाल या नाखून जलाये जा सकते हैं। सूर्यास्त के बाद उनके यहाँ नाखून काटना मना है। वरना दृष्टिहीन हो जाने की आशंका करते हैं।

घर के चारों ओर पत्थर की दीवाल का बनाना निषिद्ध है और घर बनाने में कीलों का प्रयोग भी अशुभ माना गया है। भट्ठी और चूल्हे बनाते समय इसका ध्यान रखा जाता है कि केवल एक प्रकार की लकड़ी का ही प्रयोग किया जाये। चीड़ की लकड़ी का घर में प्रयोग अनिष्ट है, किन्तु सियेम-परिवार में उसका प्रयोग किया जा सकता है। बायें हाथ से किसी चीज़ का लेना या देना भी वर्जित है किसी व्यक्ति के ऊपर कदम रखना उनके यहाँ अनिष्ट है, पशु-पक्षियों को काटते समय कुछ चावल अवश्य छिड़कना चाहिए वरना धर्म विरुद्ध हो जाता है गाय-बकरी का दूध, पीना उनके समाज में मना है। धान की कुटाई के समय कोई अपने साथियों के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति से बात नहीं कर सकता।

गर्भवती स्त्रियों के लिए कुछ और बातें निषिद्ध बताई गई हैं। मृतक के जुलूस में वे नहीं जा सकतीं। गर्भवती होने के पूर्व यदि कोई सिलाई, बुनाई प्रारम्भ की गई हो तो उसे यथाशीघ्र समाप्त कर देना पड़ता है। गर्भ के समय गर्भवती पत्नी का पति घर में छप्पर नहीं डाल सकता और कुल्हाड़ी एवं डाव में बेंट नहीं डाल सकता।

संगीत-प्रेम

अधिकांश आदिम जातियाँ संगीत प्रेमी होती हैं और उसी प्रकार खासी लोग भी बड़े संगीत प्रिय होते हैं। इनके यहाँ प्रणय-गीत और लोक-गीतों का बड़ा भंडार है। गीतों का विषय प्रणय, प्राकृतिक-जीवन, दाम्पत्य जीवन, धार्मिक और अंधविश्वास आदि होते हैं। संगीत के साथ ये लोग अनेक बाजों का प्रयोग करते हैं जिनमें से ढाक, ढोल, मडोल, करा, तासा, डोगरा, टिकारा, कांगसी, शहनाई तूरी और रन-सींगा प्रमुख हैं।

नृत्य का खासी जीवन में प्रमुख स्थान है। धार्मिक अवसरों पर बड़ा ज़ोरदार नृत्य होता है। इन अवसरों पर नांगक्रेन के नृत्य सर्वप्रसिद्ध हैं जो प्रायः वसन्त ऋतु के अन्त में किया जाता है। इस अवसर पर खासियों का मुखिया अपने पुरोहितों की सहायता से खासी देवता के लिए पशु की बलि देता है और देवता से विनती करता है कि फसल अच्छी हो तथा उसके समाज के सभी व्यक्ति सुखी रहें। इनके लिंए मुखिया अपने कबीले के सदस्यों को एक शुभ दिन पर आमंत्रित करता है। कबीले के लोग बकरे, मुर्गे और पूजा की अन्य सामग्री के साथ वहाँ इकट्ठा होते हैं। इस कार्यक्रम के पूर्व पुरोहित बलि-स्थान पर मदिरा छिड़कता है और वहाँ पूजा करता है। उस स्थान पर इनका मुखिया पुरोहित के साथ जाता है और मुर्गे की बलि देवता पर चढ़ाता है। चाँदी की थाली में पूजा की सामग्री के अतिरिक्त चावल का चूर्ण होता है। लौकी के तुम्बे में मदिरा भर ली जाती है। सुपारी एवं खासी ओक की पत्तियाँ भी पूजा के निमित्त रखी जाती हैं। जब बकरे की बलि दे दी जाती है। तो 22 खासी पुरुष हाथों में तलवार, ढाल और चंवर के साथ बड़ी मस्ती से नाचते हैं। नाचते हुए वे सियेम के घर जाते हैं और वहाँ भी उनका नाचना जारी रहता है सियेम भी इस नाच में सम्मिलित होता है। नर्तकों को सूखी मछली और अदरख खाने के लिए दिया जाता है जिसे वह बड़े चाव से खाते हैं। तत्पश्चात् खासी नर-नारियों का मिश्रित-नृत्य बृहत् रूप में किया जाता है। बालिकायें घेरे के अन्दर बीच में नाचती हैं एवं अपनी दृष्टि नीचे रखती हैं। सोने-चाँदी के आभूषण पहनकर नाचती हुई खासी बालिकायें बड़ी आकर्षक और सुन्दर लगती हैं। बालों की चोटी वे इस प्रकार बांधती हैं कि चोटी की गांठ सर के पीछे होती है। इस नृत्य में तांगगुरी, ढोल और झांझ बाजों का प्रयोग होता है।

खासी जनजाति का पारम्परिक नृत्य (नोंगक्रेम) (मेघालय)

इनका दूसरा प्रमुख नृत्य 'का शाद मस्तीह' होता है जिसे पुरुष-नृत्य कहते हैं। इसमें नर्तक रंग-बिरंगी पोशाकें पहनते हैं। मुर्गों के रंगीन पंख लगाकर अपनी वेशभूषा को और अधिक निराली और अनोखी बनाते हैं। ढाल और तलवार के साथ यह नृत्य किया जाता है। नृत्य में तलवारों से ये लोग झूठी लड़ाई भी करते हैं। प्राचीन समय में इस नृत्य के साथ सचमुच युद्ध किया जाता रहा होगा और अब उसकी स्मृति में नर्तक केवल झूठा युद्ध आपस में तलवार टकराकर दिखाते हैं। यह नृत्य बड़ा थकान वाला होता है जिसमें अंग-अंग पर बड़ा ज़ोर पड़ता है। अतएव थकने पर नर्तक विश्राम करते हैं और थोड़ी देर के बाद नृत्य पुनः आरम्भ होता है। नाचते-नाचते जब ये बिल्कुल थक जाते हैं तो इनके स्थान पर दूसरे जोड़े नाचने आते हैं और तलवारें लड़ाते हुए नृत्य का क्रम इसी प्रकार जारी रखते हैं।

खासियों के एक नृत्य में नर्तक पेड़ों की डालें और शाखायें लेकर खूब नाचते हैं तथा उछलते-कूदते हैं। यह नृत्य बड़ा रोम-हर्षक होता है और दर्शकगण इसे देखकर मुग्ध हो जाते हैं- इसे 'का शाद लियम्मोह' कहते हैं। एक अन्य नृत्य में केवल खासी बालिकायें नाचती हैं। रंग-बिरंगे और भड़कीले वस्त्रों के अतिरिक्त सोने-चाँदी और मूँगे के जेवरों से ये नर्तकियाँ अपने को आभूषित करती हैं। सर के ऊपर चाँदी के बड़े मुकुट भी धारण करती हैं और इस प्रकार वे बड़ी शालीनता और निसंकोच के साथ इतने सुन्दर ढंग से नृत्य करती हैं कि दर्शकगण मंत्र-मुग्ध होकर उनका नाच देखते रहते हैं। इस वेशभूषा में, खासी बालिकायें नाचती हुई ऐसी लगती हैं कि जैसे खासी अप्सरायें स्वयं सम्मुख नाच प्रस्तुत कर रही हों।

खासी आदिम जाति और अन्ध-विश्वास

खासी आदिम जाति भारत के उत्तर-पूर्वी प्रदेश मेघालय में पाई जाती है जो खासी, जयन्तिया और गारों पहाड़ियों से घिरा हुआ है। खासी पर्वत के निवासी होने के कारण इन्हें खासी नाम से पुकारा जाता है। यह प्रदेश पहले असम राज्य का एक भाग था किन्तु अप्रैल 1970 से मेघालय को एक अलग राज्य बना दिया है जिसकी जनसंख्या लगभग 10 लाख से अधिक है। यहाँ की अधिकांश जनसंख्या खासी और गारो जातियों की है। जैसा कि इस राज्य का नाम 'मेघालय' है-यहाँ देश भर में सबसे अधिक वर्षा होती है। सर्वाधिक वर्षा के लिये विश्वविख्यात चेरापूंजी मेघालय के हृदय में स्थित है जहाँ की वार्षिक वर्षा लगभग 500 इंच होती है। यह प्रदेश चारों ओर से पठारनुमा पहाड़ियों से घिरा हुआ है जिनके बीच लम्बी और गहरी कन्दरायें व घाटियाँ पाई जाती हैं। वर्षा ऋतु में न केवल आकाश बादलों से छा जाता है बल्कि पहाड़ियाँ, धरातल और कन्दरायें भी काले और सलेटी रंग के मेघों से बिल्कुल ढक जाती हैं और तब ऊपर-नीचे, दायें-बायें केवल बादल ही बादल देखते बनता है। मेघालय का सबसे बड़ा अद्‌भुत सौंदर्य यही है। इसके ऊपर उज्जवल जल-धारा वाले झरने, नदी और नाले यहाँ की अनुपम शोभा में चार चाँद लगा देते हैं। अधिक वर्षा और पर्वतीय प्रदेश होने के कारण सम्पूर्ण राज्य हरा-भरा दिखाई देता है। बाँस, ओक इत्यादि के वनों के साथ-साथ कटहल, सुपाड़ी, लौंग, दालचीनी, तेजपात के वृक्ष भी यहाँ कसरत से होते हैं। विभिन्न प्रकार की छोटी झाड़ियों के जँगलों से यह क्षेत्र भरा पड़ा है। इनमें से बहुत-सी झाड़ियाँ बड़ी उपयोगी और मूल्यवान जड़ी-बूटीदार होती हैं। चेरापूँजी का नाम ही झाड़ियों पर पड़ा है। (चेरा का अर्थ छोटी और पूँजी का अर्थ झाड़ियाँ)।

इस प्रकृति-धनी प्रदेश की रहने वाली खासी आदिम जाति तिब्बती-बर्मन नस्ल की बताई जाती है। इनकी भाषा खासी है जो बर्मा के शान राज्य के निवासियों की बोली से मिलती है। भारत के संथाल और निकोबारी आदिम जातियों की भाषा से भी यह कुछ मिलती है। अन्य पर्वतीय जातियों की भाँति खासी भी छोटे कद के होते हैं किन्तु शरीर बड़ा गठीला और फुर्तीला होता है। शरीर का रंग कुछ पीलापन लिये हुये गौर-वर्ण का होता है जो प्रायः सभी मंगोल जातियों में पाया जाता है। किन्तु अन्य मंगोलों की तरह इनकी नाक चिपटी नहीं होती बल्कि नथुने कुछ बड़े, चौड़े और गोल होते हैं। आँखें कुछ छोटी और अन्दर की और धंसी हुई होती हैं पर खासी नारियों के नेत्र काले, चमकदार और आकर्षक होते हैं। यहाँ की नारियाँ पुरुषों की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर होती हैं। इनके बाल लम्बे, काले और चमकीले होते हैं जिन्हें ये अच्छी तरह से सँवारती हैं औ

गारो (जनजाति) के नर्तक वांगला नृत्य करते हुए

जूड़े बनाकर अपना सर सजाती हैं। इनके यहाँ पर्दे की प्रथा नहीं है अतः नारियाँ अपना सर खुला रखती हैं। नारियों की वेश-भूषा पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव है किन्तु उसमें ये बड़ी, चुस्त और आकर्षक लगती हैं। ब्लाउज और स्कर्ट (घाघरा) के ऊपर यहाँ की नारियाँ दो छोटे शाल, अवश्य ओढ़ती हैं जो इनके शरीर पर बड़ा जँचता है। खासी नारियाँ और बालिकायें सदैव स्वच्छ वस्त्रों से अपने तन को ढके रखती हैं और मुँह में पान चबाती रहती हैं जिसके लाल रंग से इनकी सुन्दर मुखाकृति और अधिक लावण्यमय दिखाई देती है। खेत हो या घर, वन हो या नगर, खासी नर-नारी और बालक-बालिकायें सदैव पान चबाते दिखाई देते हैं। पान और सुपारी इनके यहाँ बहुतायत से उत्पन्न भी होता है तथा सुपारी खाना और उसका अर्पण करना इन लोगों में बड़ा शुभ समझा गया है। शाम को जब खासी युवतियों की टोलियाँ सज-संवर के सड़क पर घूमने निकलती हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि ये सारी-सुन्दरियाँ किसी सौन्दर्य-प्रतियोगिता में भाग लेने जा रही हैं। कभी-कभी तो इन्हें देखकर लगता है कि ये जापानी युवतियों से भी अधिक सुन्दर, सलोनी और चित्ताकर्षक हैं।

देश में अंग्रेजों के आगमन के साथ-साथ ईसाई मिशनरियों ने इन भोले-भाले खासियों को अपने रंग में रंगना आरम्भ कर दिया। गिरिजाघरों और विद्यालयों का इस प्रदेश में जाल बिछा दिया। परिणामस्वरूप जहाँ इन लोगों में शिक्षा का प्रसार हुआ वहाँ इनकी एक बड़ी संख्या ईसाई धर्म मानने लगी। रामकृष्ण मिशन और सरकार ने भी यहाँ अनेक विद्यालय खोले, जिसके फलस्वरूप देश की अन्य आदिम जातियों की अपेक्षा खासियों में साक्षरता बहुत अधिक पाई जाती है। यही नहीं, खासी शिक्षित युवक ऊँची नौकरियों में भी बहुत अधिक आने लगे हैं। राजनैतिक चेतना का यहाँ पूछना ही क्या-कुछ लाख मेघालय निवासियों ने असम से अपना राज्य अलग कर लिया है। यद्यपि सैकड़ों वर्षों से ये लोग ईसाई मिशनरियों के प्रभाव में हैं और शिक्षा का प्रसार भी इनमें काफी है किन्तु फिर भी इन्होंने अपनी संस्कृति का त्याग नहीं किया। अब भी ये लोग अपने देवी-देवताओं को मानते हैं, उनकी पूजा करते हैं और पशु-बलि देकर उन्हें प्रसन्न रखने की चेष्टा करते हैं। देवता के अप्रसन्न रहने से अनिष्ट की आशंका करते हैं। अपने पर्वो-त्यौहारों को यह जाति प्राचीन परम्परा के साथ अब भी मनाती है और उन्हें इनके जीवन में धार्मिक और नैतिक संस्कारों का रंग दिया गया है। आदिम जातीय संस्कृति, धार्मिक-संस्कार और प्राचीन-परम्परा पर विश्वास करने वाले इन व्यक्तियों में अन्धविश्वास भी बहुत पाया जाता है। बीसवीं शताब्दी में जबकि मानव अन्तरिक्ष-यान द्वारा चन्द्र पर पहुँच गया है, खासी लोग अब भी भूत-प्रेतों पर विश्वास करते हैं और उनसे भय खाते हैं। शकुन-निवारण हेतु जादू-मंत्र या अप्राकृतिक उपायों का सहारा लेते हैं। इस लेख में खासियों में प्रचलित

कुछ विश्वासों का वर्णन किया गया है। जो बड़े दिलचस्प हैं। किन्तु ऐसा नहीं है कि इस प्रकार के अन्ध-विश्वास केवल खासियों में ही पाये जाते हैं। संसार की अन्य जातियों में भी इसी प्रकार के विश्वास विद्यमान हैं।

ये विश्वास सभी निरर्थक और केवल अन्ध-विश्वास हों-ऐसी बात नहीं है। इनमें से कुछ विश्वास सार्थक भी हैं जो तर्कयुक्त पाये जाते हैं। जैसे अग्नि और जल-धारा में मूत्र-त्याग का निषेध। छींक आने पर भोजन छोड़कर हाथ-मुँह धोना और दूसरी थाली में फिर से दूसरा भोजन परोसना। ये निषेध स्वास्थ्य-विज्ञान पर पूर्णतया आधारित है-भले ही खासी लोग इन निषेधों को अन्ध-विश्वासों के रूप में मानते हों। कुछ विश्वास इन्हें संयम और अनुशासन भी सिखाते हैं-जैसे पड़ोसी की भूमि का अतिक्रमण न करना-वरना अनिष्ट हो सकता है। वनों की लकड़ी अनावश्यक नहीं काटना वरना वन-देवता विपत्ति बढ़ा देगा-इत्यादि-इत्यादि। इन विश्वासों की भाँति इनके यहाँ पौराणिक कथाओं की कमी नहीं है सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई, सूर्य और चन्द्र किस प्रकार हमें प्रकाश देते हैं और चन्द्र में कालिमा कैसे आई-आदि विषयों पर इनके यहाँ बड़ी रोचक कथाएँ प्रचलित हैं। इन पौराणिक कथाओं और अंधविश्वासों को खासी लोग अभी तक मौखिक याद करते आये हैं क्योंकि खासी भाषा की कोई लिपि नहीं है। किन्तु अब रोमन लिपि में खासी साहित्य लिखा जाने लगा है और आशा है कि खासी साहित्य को इस प्रकार आसानी से सुरक्षित रखा जा सकेगा।

खासी लोग स्वच्छता-प्रेमी होते हैं और स्वस्थ वातावरण पसन्द करते हैं अतः इस सम्बन्ध में अनेक विश्वास और अन्ध-विश्वास इनमें घर कर गये हैं जिनमें से कुछ नीचे दिये गये हैं।

(1) पहाड़ी की तली में गाँव बसाना स्वास्थय-प्रद नहीं होता क्योंकि वहाँ अतिप्राकृतिक शक्तियों द्वारा रोग हो सकते हैं।

(2) घर के चारों और दीवालें पत्थर की नहीं बनाना चाहिए।

(3) घर के बनाने में लोहे की कील का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(4) ऐसा घर अस्वास्थ्यप्रद होता है जिसके द्वार पर कभी सूर्य की रोशनी नहीं पहुँचती।

(5) गृह-निर्माण में एक से अधिक लकड़ी का प्रयोग वर्जित है तथा रालदार लकड़ी का प्रयोग केवल सियम (राज घराने के लोग) ही अपने गृह-निर्माण में कर सकता है।

(6) जो अपने पड़ोसी की भूमि का अतिक्रमण करता है उसका अनिष्ट होता है और सीमा-पत्थर छूने से गठिया का दर्द होता है।

(7) जिस परिवार के पास तिकोनी भूमि है उसके सदस्यों की मृत्यु शीघ्र होगी।

(8) यदि किसी पवित्र बगीचे के पेड़-पौधों को जानबूझकर या बिना सोचे-विचारे कोई नष्ट करता है तो उस पर निश्चय ही विपत्ति आयेगी। (खासियों के यहाँ पवित्र बगीचे वे होते हैं जो देवताओं और प्रेतात्माओं के निवास-स्थान समझे जाते हैं।)

(9) नदी-नाले में या उसके पास मूत्र त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि यदि मूत्र को साँप पी लेगा तो उस व्यक्ति के मूत्रेन्द्रिय में निश्चय ही जलन और पीड़ा होगी। अग्नि में मूत्र-त्याग से भी यही परिणाम होगा। (भारत के अन्य भागों में भी जल और अग्नि देवता में मूत्र-त्याग करना पाप समझा जाता है)

(10) घर में द्वार पर झाड़ू नहीं छोड़ना चाहिए। क्योंकि झाड़ू अपने स्पर्श से किसी व्यक्ति की आत्मा को नष्ट कर सकता है। इसी प्रकार झाड़ू देते समय ध्यान रखना चाहिये कि वह किसी व्यक्ति के अंग को न छुए। (उत्तरी भारत में भी इसी प्रकार का विश्वास है कि झाड़ू लगाते समय शरीर से झाड़ू छू जाना अच्छा नहीं होता।)

(11) हवा करके धान साफ करते हुए, उड़ते हुए धान के टुकड़े किसी के शरीर से नहीं छूने चाहिये वरना उसका बहिष्कार करना पड़ता है और उस बेचारे व्यक्ति को तुरन्त क्षमा-याचना करनी पड़ती है। (जब कोई सास अपने दामाद को भगाना चाहती है तो जानबूझ करके भी ऐसा काम करती है।)

(12) धान की कुटाई करते समय अपने साथियों के अतिरिक्त अन्य किसी से बात करना मना है।

(13) हाथ धोने वाले पानी का स्पर्श किसी व्यक्ति से नहीं होना चाहिए वरना वह व्यक्ति रोगी हो जायेगा। इसके उपचार हेतु उस व्यक्ति पर तत्काल शुद्ध-जल का छिड़काव किया जाता है।

(14) किसी व्यक्ति के शरीर को लांघना मना है।

(15) बैठे हुए व्यक्ति के सामने से नहीं निकलना चाहिए किन्तु यदि वहाँ से निकलना बहुत आवश्यक हो तो बैठे हुए व्यक्तियों से पहले क्षमा माँगनी होगी और उसके पश्चात् झुककर हाथ के सहारे ऐसे गुज़रना होगा कि उसके कपड़ों से उन बैठे हुए व्यक्तियों का कोई अंग न छू जाये।

(16) पूर्व दिशा की ओर पैर करके नहीं सोना चाहिए क्योंकि इस दिशा में प्रायः मृत व्यक्तियों के पैर किये जाते हैं (उत्तरी भारत में दक्षिण दिशा में पैर करके सोना निषिद्ध है क्योंकि दक्षिण को यमदेव की दिशा कहते हैं।)

(17) लकड़ी को दोनों किनारों से जलाना मना है क्योंकि ऐसा करने से दुर्दिन आते है। (उत्तरी भारत में भी इस प्रकार का विश्वास माना जाता है।)

(18) आग में थूकना बहुत बुरा मानते हैं। (भारत के अन्य स्थानों में भी अग्नि देव पर थूकना वर्जित है)

(19) जब तक नमक से क्षमा-याचना न कर ली जाये, उसे झाडू से नहीं झाड़ना चाहिए।

(20) बायें हाथ से कोई वस्तु लेना और देना निषिद्ध है।

प्रकृति-सम्बन्धी

प्रकृति की गोद में रहते हुए खासी प्रकृति-प्रेमी तो हैं ही, बल्कि प्रकृति का सम्मान विभिन्न देवी-देवताओं के रूप में मिलते हैं और अन्ध-विश्वासों के वश में प्रकृति से डरते भी है। उनका विश्वास है कि इन विश्वासों द्वारा मनुष्य प्राकृतिक उपायों से स्वस्थ और सुखी रह सकता है।

(1) चन्द्र के शुक्ल पक्ष में गृह-निर्माण हेतु बाँस और पेड़ नहीं काटने चाहिए। इस पक्ष में बोये गये बीज अधिक नहीं उगते, क्योंकि चूहे और अन्य कीड़े उजाले में बीज खा जाते है। (ध्यान रहे कि खेती नष्ट करने वाले जीव-जन्तु रात में अधिक सक्रिय होते हैं, अतः कृष्ण पक्ष में बीज बोना अधिक सुरक्षित माना जाता है। खासियों के विश्वास के अनुसार शुक्ल पक्ष में गृह निर्माण हेतु कटी लकड़ी अधिक टिकाऊ नहीं होती और उसमें विनाशक कीड़े शीघ्र लग सकते हैं।)

(2) पानी में बिल्ली को रखने से वर्षा होती है। और वर्षा बन्द करने के लिए छड़ी से भूमि पर एक गोला बनायें जिसके मध्य से उस छड़ी को गाड़ दें और फिर उस गोले के ऊपर तीन बार छलाँग लगाई जाये।

(3) आँधी-तूफान से घर बचाने के लिए चावल परोसने वाले चम्मच को घर की ओलती (छज्जे) में गाड़ देना होता है।

(4) "का दियूगगान" और "कादियँगकैंन" वृक्ष परस्पर शत्रु कहे जाते हैं। पहले वृक्ष की छाल छूने से त्वचा में जलन होने लगती है और दूसरे वृक्ष का रस छूने से ओले पड़ते हैं। अतएव जब कोई इनमें से किसी एक वृक्ष के जंगल में जाता है तो विरोधी वृक्ष की विनती करता है जिससे कि उसके प्रभाव से शत्रुपक्ष तंग न करे।

जन्म एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी

आरम्भ से खासी लोग अन्य आदिम जातियों की भाँति जड़ी-बूटियों द्वारा रोग-उपचार करते आये हैं। अब भी उनके यहाँ वनस्पति-औषधियों का अधिकतर प्रयोग होता है। प्राकृतिक औषधियों के साथ इनके यहाँ अतिप्राकृतिक और जादू-मंत्र का भी प्रयोग पर्याप्त पाया जाता है।

(1) उदर-वायु की बीमारी प्रेत की कुदृष्टि पड़ने से होती हैं अतः इससे नीरोग होने के लिए एक दूसरा व्यक्ति रोगी की नाभि पर चूने से गोला बनाता है और कुदृष्टि के प्रभाव को भगाने के लिए कुछ मत्र पढ़ता है तत्पश्चात् नाभि से कुछ दूरी पर हल्के से इसलिए मारते हैं कि उस स्थान से वह कुदृष्टि भाग जाये।

(2) दाँत टूटने पर उसे लापरवाही से इधर-उधर नहीं फेंकना चाहिए क्योंकि यदि दाँत चूहा ले गया तो शेष दाँतों में अस्थि-क्षय का रोग लगेगा। अतः टूटे दाँत को कोयले में चिपकाकर घर के छत के ऊपर फेंक देना चाहिए। (उत्तर भारत में इसके विपरीत कहा जाता है कि बच्चों के दूध के दाँत जब टूटें तो उन्हें चूहें के बिलों में डालें जिससे निकलने वाले दाँत चूहे के दाँत की भाँति सख़्त हों।)

(3) "कनगुज" होने पर रोगी को "लिनटियल्ली" घास उखाड़नी होती है और उखाड़ते समय यह कहना होता है-"कौन जीतेगा, कनगुज या यह घास।" यदि घास जड़ से उखड़ जाये तो रोगी का कनगुज ठीक हो जायेगा। इसी तरह की अन्य घास की कोमल पत्ती से रोग वाले अंग को छुआते हैं। पत्ती छुआने वाला व्यक्ति कुछ मन्त्र भी कहता जाता है जिससे रोगी को रोग से छुटकारा मिले।

(4) पैर में चोट लगने पर घुटने को चारों ओर से एक वृक्ष के रेशों से इसलिए बाँधते हैं कि चोट ऊपर चढ़ कर जाँघ की ग्रन्थियों में सूजन कर दे।

(5) गर्भावस्था में बड़ा नियमित जीवन बिताना पड़ता है और स्त्री का बड़ा ध्यान रखा जाता है। यदि गर्भवती स्त्री की इच्छाएँ अतृप्त रहती हैं तो उनका प्रभाव होने वाले बच्चे पर जाता है। (भारत के अन्य भागों में भी इसी प्रकार का विश्वास है कि यदि गर्भवती स्त्री किसी चीज़ की भूखी रह गई तो उसके पेट वाला शिशु भी उस चीज़ का सदैव भूखा रहेगा।)

(6) गर्भवती स्त्री के पति को भी कुछ नियमों के अनुसार चलना होता है। उदाहरणार्थ, गर्भावस्था में वह किसी मकान की छत नहीं डाल सकता है और यदि वह किसी छप्पर को इस अवधि में ले जाता है तो उसे छप्पर को उल्टा करके ले जाना होगा। इस अवधि में उसे किसी कुल्हाड़ी या बेंट हंसिया में बेंट भी नहीं डालना चाहिए।

(7) गर्भ के अन्दर के शिशु का लिंग छोटे बच्चों द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। यदि गर्भवती स्त्री के पास कोई बालक बार-बार जाता है तो लड़की होगी और यदि कोई छोटी लड़की उस स्त्री से मित्रता करती है तो लड़का होगा।

(8) गर्भवती स्त्री को होने वाले बच्चे के लिए कोई वस्त्र पहले से तैयार करके नहीं रखना चाहिए वरना प्रसव में कठिनाई होगी। (उत्तर भारत में भी होने वाले बच्चे के लिए

पहले से वस्त्र तैयार करना शुभ नहीं समझा जाता है)। गर्भवती स्त्री को किसी शव-जुलूस में नहीं जाना चाहिए।)

(9) प्रसव के पश्चात् अपरा (आँवरि) को एक बर्तन में पति घर से दूर ले जाकर एक वृक्ष से बाँध देता है। पुत्र-जन्म पर पिता उसके बिस्तर के पास एक छोटा तीर-कमान रख देता है और पुत्री होने पर एक टोकरी और हंसिया रख जाता है क्योंकि बड़े होने पर अन्ततः पुत्र को युद्ध करना पड़ेगा और पुत्री को गृहस्थी सम्भालनी होगी।

(10) कहा जाता है कि जब दो गर्भवती स्त्रियाँ पास-पास बैठी होती हैं तो दोनों के गर्भ के बच्चे आपस में बातें करते हैं और पेट के अन्दर चलते मालूम होते हैं।

(11) मृतक की शव-यात्रा से तुरन्त लौटने के बाद किसी रोगी के घर जाना बड़ा अशुभ समझा जाता। भारत के कुछ अन्य भागों में भी ऐसा विश्वास करते हैं।

(12) भोजन करते समय किसी अजनबी की दृष्टि भोजन पर नहीं पड़नी चाहिए। और यदि उसकी दृष्टि भोजन पर पड़ जाये तो थाली से एक कौर निकाल कर भूमि पर फेंक देना चाहिए जिससे कि अजनबी की दृष्टि का कुप्रभाव समाप्त हो जाये।

(13) भोजन करते समय यदि हिचकी आ जाये तो थाली से कुछ चावल लेकर सर के ऊपर से पीछे फेंकते हैं। यदि छींक आ जाये तो थाली छोड़कर हाथ-मुँह धोना चाहिये और दूसरी थाली में फिर से भोजन लेकर आना चाहिये। (उत्तरी भारत में कुछ स्थानों पर लोगों का कहना है कि हिचकी आने के बाद नहीं खाना चाहिये क्योंकि हिचकी का अर्थ है कि पेट भर गया।)

(14) गाय और बकरी का दूध पीना वर्जित है।

(15) शरीर पर बिना चावल छिड़के किसी पशु-पक्षी का वध करना निषिद्ध है।

अतिप्राकृतिक विश्वास

जीवन में दैनिक और अति-प्राकृतिक शक्तियों का बहुत अधिक प्रभाव है-ऐसा खासियों का विश्वास है। ये शक्तियाँ मनुष्य के जन्म-मरण को भी नियंत्रित करती हैं और उसका हित-अहित दोनों कर सकती हैं।

(1) नवजात शिशु को प्रेतों और कुदृष्टियों से बहुत बचाना होता है। अतः शिशु को घर से बहुत दूर नहीं ले जाना चाहिये। आवश्यकता पड़ने पर यदि उसे ले जाना पड़े तो उसके मस्तक पर काजल का टीका लगा देते हैं या उसकी टोपी में थोड़ा सा गन्धक रख देते हैं।

(देश के अन्य भागों में भी छोटे लड़कों के माथे में और लड़कियों के तलुवे में काजल का टीका लगाने की प्रथा है जिससे कि किसी की कुदृष्टि बच्चे पर न पड़े। इसके अतिरिक्त बच्चे को काला फीता या माला पहनाने की भी प्रथा है।)

(2) खासी प्रदेश में एक प्रकार की घास पाई जाती है जो बच्चों को बहुत चुभती है। अतएव छोटे बच्चे को बाहर ले जाते समय एक छोटा-सा तीर-कमान साथ में ले चलते हैं जिसके डर से वह घास बच्चे को तंग करने का साहस नहीं करती।

(3) खासी प्रदेश में वन और पर्वत प्रेतात्माओं के निवास कहे जाते हैं जो मानव-प्राणी को सताते हैं।" "सुदृढ़ तियनगंज" नामक एक लंगड़ा देव है जो बड़ी लम्बी छलांग लगाकर घूमता रहता है। वह मनुष्य की बोली में बोलता रहता है-"का होहत"। इसे सुनकर अनसुना कर देना चाहिये, क्योंकि इसका उत्तर देने पर लंगड़ा देव पास आता है और उस व्यक्ति की जान ले लेता है। उत्तर भारत में भी गाँव के लोग भूत-प्रेतों में इसी प्रकार का विश्वास करते हैं और सुनसान स्थान में इसी प्रकार की बोली का उत्तर देना खतरे से खाली नहीं समझते।

(4) एक और देव यात्रियों को अप्राकृतिक लीला से वशीभूत कर लेता है और दूर ऐसे दुर्गम स्थान पर छोड़ता है कि जहाँ से वह न लौट सकता है और न लौटने का रास्ता ही जानता है। ऐसी दशा में यात्री को जब होश आये तो उसे कोट उतारकर उसे उल्टा पहिन लेना चाहिये। ऐसा करने पर उस देव का प्रभाव जाता रहेगा।

(5) कुछ ऐसे भूत-प्रेत कहे जाते हैं जिनके पैर उल्टी दिशा में होते हैं। इनके दर्शन् मात्र में ही बड़ा अहित हो सकता है। इन्हें भगाने के लिये तुरन्त दियासलाई जलाकर प्रकाश करते हैं। (उत्तर भारत के ग्रामीणों का भी विश्वास है कि भूतों के पैर पीछे की ओर मुड़े जाते हैं और उनके चरण भूमि पर नहीं पड़ते। ऐसे भूतों को आग के द्वारा भगाया जा सकता है।)

(6) रात को सुनसान जंगल में इन भूत-प्रेतों को देखकर कोई भी व्यक्ति सहायता के लिये अपने किसी मित्र या निकट-सम्बन्धी को पुकारने लगता है। उस नाम को यदि किसी प्रेतात्मा ने सुन लिया तो उसकी खैर नहीं। इसलिये इनके यहाँ बच्चों को भी हिदायत है कि अनजान व्यक्ति द्वारा बुलाने पर नहीं बोलना चाहिये। एक बार बोलने पर यदि उस व्यक्ति से तत्काल उत्तर नहीं आता तो अनिष्ट आत्मायें उस नाम को दुहराती नहीं हैं। (इस प्रकार का विश्वास देश के अन्य भागों में भी पाया जाता है।)

(7) खासियों में अतिप्राकृतिक विश्वास इस प्रकार है कि परिवार में मृत्यु के पूर्व, परिवार का कोई सदस्य स्वप्न में एक विशेष जाति के पतंगों को कतार में जाते देखता है। पंतगों की कतार शव-यात्रा के जुलूस का द्योतक होती है।

शकुन

शुभ-अशुभ शकुन संसार की प्रायः सभी जातियों में विचारा जाता है। यात्रा-समय

यदि कोई छींक दे तो अशुभ लक्षण समझा जाता है। खासियों में भी अनेक शुभ-अशुभ लक्षणों और शकुनों का बड़ा महत्त्व माना जाता है।

(1) घर के पास यदि गिद्ध आकर बैठे तो उस घर में किसी व्यक्ति की मृत्यु की आशंका की जाती है। (उत्तर भारत में भी गिद्ध का घर के ऊपर बैठना बड़ा अशुभ माना जाता है।)

(2) घर की छत के ऊपर कौवे का आकर बैठना भी अशुभ समझते हैं। (उत्तर भारत में यदि प्रायः समय कौवा आकर घर में बोले तो उस दिन किसी प्रिय अतिथि का आगमन माना जाता है।)

(3) उल्लू की बोली अशुभ मानी जाती है जो कहती है-"कित व" अर्थात "मानव-प्राणी को बहुत दूर ले जाना"। इन अशुभ पक्षियों को भगाने के लिये सुपाड़ी लपेटने वाली चौड़ी पत्तियों को, जलाया जाता है जिसके धुएँ से ये पक्षी भागते हैं और उनका कुप्रभाव भी जाता रहता है।

(4) यदि कोई व्यक्ति अचानक पेड़ की डाल का टूटना देखे तो उसके परिवार में किसी की मृत्यु का होना समझा जाता है। (उत्तर भारत के गाँवों में ऐसी घटना से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि उस पेड़ में कोई प्रेत बैठ गया होगा जिसके भार से डाल टूट गई तथा उस पेड़ के पास से लोग तुरन्त दूर हट जायेंगे जिससे कि वह प्रेत कोई अनिष्ट न करे।)

(5) पेड़ पर पकते केले को यदि गर्भवती स्त्री सर्वप्रथम देखती है तो उसका बच्चा अवश्य ही सुन्दर और गौर वर्ण का होगा।

(6) घर के बगीचे में यदि हुपू पक्षी का आगमन हो तो परिवार में विवाह का द्योतक समझा जाता है।

(7) दाहिने हाथ की हथेली खुजलाने से शीघ्र धन का लाभ होना समझा जाता है। इस लक्षण को प्रायः सभी लोग मानते हैं।

(8) पलक फड़कने पर और कानों के निचले भागों में गर्भ सनसनी होने पर किसी समाचार का आना माना जाता है। इस प्रकार का विश्वास देश के अन्य भागों में भी पाया जाता है।

(9) कान में खुजली आने से वर्षा का होना समझा जाता है। उत्तर भारत के कुछ भागों में नाक में खुजली आना रोग का द्योतक बताते हैं।

(10) चलने में यदि पैर का अंगूठा पत्थर से टकरा जाय या खाते समय कोई चीज़ गले में फँस जाय तो समझा जाता है कि पड़ोसी निन्दा कर रहे हैं।

(11) यदि जलती लकड़ी से गैस (हवा) निकले और उससे लकड़ी के ऊपर थूक सदृश द्रव आ जाए तो घर में अतिथि का आना समझा जाता है।

(12) यदि लकड़ी जलने में तारों की आकार की चिनगारियाँ निकले तो अच्छे दिनों का आना समझा जाता है।

यह सही है कि आज का मानव-जीवन अधिकतर विज्ञान पर आधारित होता जा रहा है और हम केवल उसी तथ्य को स्वीकार कर सकते हैं जो कि विज्ञान और तर्क की कसौटी पर खरा सिद्ध हो। किन्तु फिर भी यह मानना पड़ेगा कि विश्व के प्रत्येक भाग में मानव-जीवन ऐसे विश्वासों और अन्ध-विश्वासों से भरा पड़ा है जो अनजाने और माने-अनमाने जीवन के अंग बन गये हैं। इन्हें आसानी से नित्य-प्रति के जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। मानव पुरातन-समय में ऐसे विश्वासों को मानता आया है व अब भी मानता है और आगे भी बहुत से लोग इन विश्वासों और अन्य-विश्वासों को किसी न किसी रूप में मानते रहेंगे।

अरुणाचल की यात्रा

सितम्बर 1998 ई० में अरुणाचल प्रदेश के राज्यपाल महोदय श्री माताप्रसाद जी ने अरुणाचल विश्वविद्यालय के कुलपति के चयन हेतु जो समिति बनाई-उसका अध्यक्ष मुझे बनाया। इस सम्बन्ध में राज्यपाल महोदय ने दूरभाष पर मुझसे अनुरोध भी किया जिसे मैंने सहर्ष और साभार स्वीकार किया। इसे स्वीकार करने का सबसे बड़ा आर्कषण मेरे लिये अरुणाचल प्रदेश की यात्रा थी जिसकी नैसर्गिक सुन्दरता के बारे में मैंने बहुत पढ़ और सुन रखा था। देश के उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों में असम, मेघालय और मिजोरम की यात्रायें मैंने पूर्व में कर रखीं थीं और वहाँ की प्राकृतिक छटाओं ने मेरा मन तभी से मोह लिया था मैंने सुन रखा था कि उत्तर-पूर्वी राज्यों में अरुणाचल सर्वाधिक सुन्दर प्रदेश है और वहाँ की जनजातियाँ उतनी ही सुन्दर, आकर्षक, सजीव एवं रंगीन हैं।

अरुणाचल और गौहाटी की यात्रा हेतु मैंने अपनी पत्नी (सुश्री विद्या सोनकर) के साथ लखनऊ से दिनांक 06 अक्टूबर, 1998 को मोटरकार द्वारा कानपुर के लिये प्रस्थान किया, क्योंकि गौहाटी के लिये तेज़ ट्रेन राजधानी एक्सप्रेस लखनऊ होकर नहीं जाती थी। कानपुर से रात को दस बजे राजधानी एक्सप्रेस पकड़ी जिसने हमें अगले दिन की रात (सवा नौ बजे) गौहाटी पहुँचा दिया। राजधानी एक्सप्रेस सर्वाधिक तेज़ और आरामदेह गाड़ी है। चूँकि इसके टिकट में भोजन, नाश्ता, चाय आदि भी शामिल होता है अतः रास्ते भर रेलवे विभाग द्वारा यात्रियों को समय से स्वादिष्ट व गर्म भोजन दिया गया। इतनी अधिक बार नाश्ता व भोजन दिया गया जितना हम अपंने घर में नहीं खाते। अगले दिन की अपरान्ह जब ट्रेन बिहार राज्य की सीमा पार करके असम राज्य में प्रवेश करने जा रही थी तो सहयात्रियों ने बताया कि उस क्षेत्र में आतंकवादी पाये जाते हैं जो कभी-कभी ट्रेनें रोक लेते हैं या विस्फोटकों द्वारा ट्रेन को उड़ाने का प्रयत्न करते हैं और पटरियों में बम रखकर उन्हें उड़ा देते या क्षतिग्रस्त कर देते हैं। अतः सुरक्षा हेतु हमारी ट्रेन के आगे एक पुलिस की गाड़ी लगाई गई जिससे ट्रेन की गति कम हो गई। सौभाग्य से रास्ते में ऐसी कोई घटना नहीं घटी और हम सभी दिनांक 07 अक्टूबर की रात गौहाटी स्टेशन सकुशल पहुँच गये।

राजभवन अरुणाचल की व्यवस्था के अन्तर्गत गोहाटी स्थित अरुणाचल सरकार के अधिकारी हमें गोहाटी स्टेशन से ब्रह्मपुत्र होटल ले गये जहाँ हमारे ठहरने की व्यवस्था की गई थी। यह होटल "भारतीय पर्यटन विकास निगम" द्वारा संचालित है और ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे स्थित है। होटल का भवन कई मंजिल का है तथा इसके सभी कमरे वातानुकूलित हैं। अपने कमरे में जाकर हमने भोजन किया और कुछ देर दूरदर्शन के कार्यक्रम देखा। उसके बाद नींद आने पर सो गये। सुबह उठने पर ब्रह्मपुत्र नदी का दर्शन

हुआ। होटल का हरा-भरा उद्यान नदी के ऊपर है जिसमें चक्कर लगाकर घूमते रहे और नदी का भव्य स्वरूप देख-देख कर आनन्द लेते रहे। नदी की चौड़ाई इतनी अधिक है कि देखने में झील जैसी लग रही थी। प्रातः से ही मछुआरे अपनी नावों में सवार होकर मछली पकड़ने हेतु निकल पड़े थे। नदी के एक किनारे गौहाटी नगर स्थित है तो दूसरे किनारे पर छोटी पहाड़ियाँ पाई जाती हैं जो घने वृक्षों से आच्छादित हैं। इस नदी में बड़ी-बड़ी नावें (स्टीमर) चलती है जो मोटर द्वारा संचालित हैं और कम समय में यात्रियों को उनके गन्तव्य स्थानों पर पहुँचा देती हैं। कुछ दूरी पर नदी के मध्य एक टापू दिखाई दिया जिसमें एक मन्दिर और कुछ घर बने हैं। घरों के चारों ओर हरे पेड़ अच्छी संख्या में दिखाई देते हैं। इस मन्दिर में देवता के पूजन हेतु बहुत से श्रद्धालु भक्त नाव द्वारा ही टापू जाते हैं और पूजन करके आपस लौट आते हैं।

दिनांक 8 अक्टूबर को गोहाटी में ही हमारा अवस्थान था क्योंकि कुलपति के चयन हेतु समिति की बैठक ब्रह्मपुत्र होटल में ही 9 अक्टूबर को पूर्वान्ह दस बजे रखी थी। अतएव हमने उस दिन पूर्वान्ह में सुप्रसिद्ध कामाख्या देवी के मन्दिर जाने का कार्यक्रम बनाया था।

कामाख्या देवी की पौराणिक कथा इस प्रकार है:- हिमालय के महाराजा दक्ष प्रजापति ने कनखल में एक बार बहुत बड़ा यज्ञ किया था जिसमें सभा राजाओं, मुनियों और ऋषियों को आमंत्रित किया गया था किन्तु शिवजी को जान-बूझकर अपमानित करने के लिये नहीं बुलाया गया था जबकि शिवजी दक्ष प्रजापति के दामाद थे। उनकी पुत्री सती ने अपने पिता से शिवजी को आमंत्रित करने हेतु कई बार याचना की थी किन्तु दक्ष प्रजापति ने एक न सुनी। इससे क्षुब्ध सती ने यज्ञ-कुण्ड में कूदकर अपनी जान दे दी। भगवान शिव को जब इसका पता चला तो वह क्रोध और शोक में विह्वल होकर ताण्डव नृत्य करने लगे और सती के जले हुये शरीर को अपने त्रिशूल में लेकर आकाश में उन्होंने अत्यन्त भयंकर रूप से ताण्डव किया। इस रौद्र क्रिया में सती के मृत शरीर के टुकड़े भारत के अनेक भू-भाग पर जहाँ-जहाँ गिरे उन्हें शक्तिपीठ के रूप में हिन्दू अपने तीर्थ-स्थान मानते हैं। सती का भगांश त्रिशूल से कटकर जहाँ गिरा वहाँ कामाख्या देवी का मन्दिर स्थित है जो ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे गौहाटी से लगभग दस मील पर स्थित है। इसलिये इस भू-भाग का नाम कामरूप पड़ा जिसे अब असम कहते हैं। कहा जाता है कि पहले कामरूप की नारियाँ जादू-टोना में बड़ी प्रवीण थीं, वह जिस पुरुष को चाहें अपने जादू से पशु बनाकर अपने पास बन्दी बना लेती थीं। रात के समय वे उन्हें पुनः पुरुष बना लेती थीं और सुबह होते ही पशु बनाकर घर के अन्दर बन्द रखती थीं। उनका यह क्रम बरसों चलता रहता था। कामरूप के बारे में इसे एक किम्वदन्ती ही कहा जायेगा।

कामाख्या देवी- मन्दिर के पण्डों के बारे में हमने सुन रखा था कि वे यात्रियों को बड़ा लूटते है, तंग करते हं। अतएव हमने साथ में एक स्थानीय व्यक्ति को ले जाने की सोची। श्री एन. हक, निदेशक, स्थानीय निकाय, असम को हम जानते थे अतः होटल से उन्हें फोन मिलाया। पता चला कि वह छुट्टी लेकर कश्मीर घूमने गये हैं। तथापि उनके वैयक्तिक सहायक ने हमारी सहायता की। उनके कार्यालय के अधीक्षक कामाख्या मंदिर के ही पास रहते थे। उन्होंने घर फोन करके अपने पुत्र को हमारे होटल भेज दिया। वह युवक बी. ए. के छात्र थे जो हमारे साथ मन्दिर गये। वह मन्दिर के एक-एक कोने को और प्रत्येक पण्डे को भली भाँति जानते थे। युवक का व्यक्तित्व बड़ा सौम्य और सुशील था। हम दोनों के साथ पुत्रवत् व्यवहार किया। रास्ते में उसके द्वारा हमें सभी आवश्यक निर्देश दिये गये कि हम दोनों मन्दिर के अन्दर नहीं बोलेंगे वर्ना पण्डे हमारी बोली से जान जायेंगे कि हम बाहर से आये हैं। बाहरी यात्रियों को पण्डे बहुत लूटते और तंग करते हैं। उसने हमें यह भी बताया कि हम अपनी ओर से कोई दक्षिण। पण्डों को नहीं देंगे और न ही मन्दिर के अन्दर धन चढ़ायेंगे। उसके कहने पर ही हम मन्दिर में पैसा चढ़ायेंगे और पण्डे को दक्षिणा देंगे। उसने हमें रास्ते में यह भी जानकारी दी कि वहाँ के पण्डे बड़े धनाढ्य हैं और कई-कई भवनों के स्वामी हैं तथा कई कारें, टैक्सी रखते हैं। पण्डों में व्याप्त भ्रष्टाचार के बारे में भी हमें जानकारी दी गई।

कामाख्या मन्दिर अति प्राचीन बताया जाता है। मन्दिर का भवन एवं प्रांगण विशाल एवं भव्य है। मन्दिर 'ब्ल्यू हिल्स' में काफी ऊँचाई पर स्थित है अतः वहाँ पहुँचने के लिये बहुत सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं किन्तु सीढ़ियाँ सुगम बनाई गई हैं जिससे सभी लोग आसानी से सीढ़ियाँ चढ़ सकें। सीढ़ियों के किनारे-किनारे अनके छोटी-छोटी दुकाने हैं जहाँ मन्दिर का चढ़ावा बिकता है। रुद्राक्ष व कण्ठी-माला भी बिकता है। वापस घर ले जाने हेतु प्रसाद भी बिकता है। नारियों के प्रसाधन की सामग्री (सिन्दूर, रोली, बिन्दी, मूँगा आदि की मालायें) इन दुकानों में प्रचुरता से पाई जाती हैं। इसके अलावा कुछ दुकानों में पेय पदार्थों के साथ खाने-पीने की वस्तुयें भी बिकती हैं। हमारे युवा पथ-प्रदर्शक (गाइड) ने हमें यह भी निर्देश दे रखे थे कि मन्दिर के दूकानदार यात्रियों को बड़ा ठगते हैं अतः दुकानदारों से हमें बात न करने का परामर्श दिया गया था। वहाँ हमें जो भी खरीदना हो-हम अपने 'गाइड' को बतायेंगे जो उड़िया भाषा में दुकानदार से कहेंगा और वह उचित मूल्य पर ही हमें सामान दिलायेंगे। वहाँ हम मन ही मन ईश्वर को इस बात का धन्यवाद दे रहे थे कि उसने हमारे लिये कितना अच्छा 'गाइड' भेज दिया है जो हमें माता-पिता के समान आदर तो दे ही रहा है बल्कि हर आवश्यक बात का ज्ञान कराके हमारी सहायता कर रहा है। तथा पण्डों और दुकानदारों द्वारा सम्भावित शोषण से हमें

सावधान करके हमारी रक्षा कर रहा है। तदनुसार हमने वहाँ जो भी खरीदा, अपने गाइड से पूछकर खरीदा।

मन्दिर के प्रांगण में सैकड़ों कबूतर पाये गये जो वहीं स्थायी निवास करते हैं। कबूतरों के मल से मन्दिर का विशाल प्रांगण गन्दा हो रहा था। मन्दिर में प्रवेश हेतु लम्बी कतारें लगी थीं जिन्हें देखकर मेरी पत्नी का मन घबड़ाया। हमारे गाइड ने वहाँ कोई चिन्ता न करने को हमसे कहा। वह हमें पीछे के द्वार से ले गया जो निकास का द्वार था अतः वहाँ भीड़ नहीं थी। निकास द्वार से प्रवेश करना नियम के विरुद्ध हमनें समझा किन्तु हमारे गाइड ने समझाया और ऐसा न सोचने को हमें कहा। विवश होकर गाइड की बात माननी पड़ी वरना घण्टों पंक्ति में भीड़ के साथ खड़ा होना पड़ता तब कहीं प्रवेश मिलता। हम लोगों का हाथ पकड़कर हमारा गाइड निकास द्वार से अन्दर ले गया। रास्ते में किसी ने हमें नहीं रोका-टोका क्योंकि वहाँ के लोग गाइड को जानते थे। मन्दिर के अन्दर जहाँ देवी का मुख्य स्थान है, प्रकाश की कमी थी। वहाँ बिजली तो थी पर बल्ब कम लगे थे। जितना पुराना मन्दिर है वैसी पुरानी सीढ़ियाँ अन्दर पाई गईं। बड़े-बड़े पत्थरों से निर्मित सीढ़ियाँ जो ठीक से गढ़ी नहीं थीं और बड़े आकार की थीं अतएव बहुत सम्भलकर अन्दर जाना होता है। यहाँ भी आने-जाने के अलग-अलग रास्ते बने थे। अन्दर प्रकाश कम और भीड़ अधिक थी। भीड़ और अन्धेरे से मेरी पत्नी घबड़ाने लगती हैं और उनका दम सा घुटने लगता है। अतः दीवार के सहारे ऊपर चढ़कर बाहर आ गई। उनका साथ देने को मैं भी ऊपर आ गया। यह देख हमारा गाइड भी ऊपर आकर हमें समझाने लगा कि देवी-माँ के निकट दर्शन किये बगैर वापस जाना ठीक नहीं। उसकी यह बात हमें माननी पड़ी। इस बार वह मेरी पत्नी का हाथ पकड़कर दीवाल के सहारे-सहारे एक-एक सीढ़ी करके नीचे उतरा क्योंकि पूरी सीढ़ियों में भक्त लोगों की भीड़ थी। मैं भी उनके पीछे-पीछे दीवाल पकड़ कर उतरा। नीचे गर्भ-गृह में वह पवित्र स्थान है जहाँ सती का भग कटकर गिरा था। वहाँ दीप जल रहे थे और पूजन-सामग्री से सुगन्ध आ रही थी, किन्तु भीड़ और कुछ अन्धेरा होने से वहाँ का वातावरण दम-घोंटू हो रहा था। अतएव हम लोग देवी को नमन करके शीघ्र वापस बाहर आ गये। बाहर आकर राहत की साँस ली।

गर्भ-गृह के बाहर भीड़ नहीं थी। अतः मन्दिर में विद्यमान अन्य देवी-देवताओं के दर्शन बिना भीड़-भाड़ के हुये। हमारे गाइड मन्दिर के पण्डे-पुजारियों से बात भी करते जाते थे-उड़िया भाषा में। एक स्थान पर वह एक पण्डे से बातें कर रहे थे कि मेरी पत्नी ने निकास-द्वार पर खड़े पण्डे को माँगने पर बीस रुपये दक्षिणा दे दी। जब हमारे गाइड को यह पता चला तो उसने कहा कि पाँच रुपये से अधिक उसे नहीं देना था। अन्य

स्थानों पर गाइड की राय से ही दक्षिणा दी गई और पूजा में रुपये चढ़ाये गये। इस प्रकार हमारे गाइड ने कामाख्या देवी के दर्शन हमें आसानी से करा दिया वरना हमारे लिये यह दुरूह कार्य लग रहा था। बाहर निकल कर हम दोनों ने युवा गाइड को हार्दिक धन्यवाद और आशीर्वाद दिया तथा कामाख्या देवी को पुनः नमन किया। मन्दिर के बाहर की दुकानों से मेरी पत्नी ने कुछ प्रसाद, रोली, मालायें तथा कुछ छोटी-छोटी मूर्तियाँ खरीदीं जो लखनऊ वापस आने पर मित्रों और सम्बन्धियों में बाँटी गईं। खरीदारी गाइड के माध्यम से की गई। वहाँ हम बारम्बार अनुभव कर रहे थे कि यदि वह युवा गाइड हमें न मिला होता तो हमें बड़ी कठिनता से देवी के दर्शन होते और कांफी पैसा भी खर्च होता। वहाँ उसने वास्तव में हमारे पुत्र की भूमिका निभाई।

मन्दिर से बाहर आकर हमने एक बार पुनः मन्दिर के भव्य स्वरूप का अवलोकन किया। यह मन्दिर स्थानीय वास्तु-शैली में निर्मित है जैसी कि भुवनेश्वर में लिंगराज-मन्दिर की वास्तु-शैली पाई जाती है। गाइड ने हमें यह भी बताया कि इस मन्दिर में प्रतिदिन पशु-बलि दी जाती है। वलि के पशु का मांस सभी पण्डों में प्रसाद के रूप में वितरित होता है। इस प्रकार वहाँ के पण्डों और उनके परिवार द्वारा नित्य माँस-भक्षण किया जाता है। कलकत्ता में काली देवी के मन्दिर में भी नित्य पशु-बलि दी जाती है। वैदिक काल में भी यज्ञों में पशु-बलि का विधान था और कहते थे-"वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति"।

कामाख्या देवी के दर्शन करके हम अपने गाइड के साथ ब्रह्मपुत्र होटल लौट आये। गाइड के साथ हमने होटल में मध्यान्ह भोजन किया। तत्पश्चात् गाइड ने हमसे विदा की अनुमति चाही। हम दोनों ने पुनः उसे हार्दिक धन्यवाद के साथ ढेर आशीर्वाद दिया और उसके माता-पिता को धन्य कहा जिन्होंने इतना अच्छा सुपुत्र पाया है। इतने अल्प समय में युवा गाइड ने हमें अत्यधिक प्रभावित किया था और हमारा दिल जीत लिया था। विदाई के क्षणों में ऐसा लग रहा था जैसा हमारा ही पुत्र हमसे विदा हो रहा था। ईश्वर जाने-उससे फिर कब भेंट होगी ? उसके जाने के बाद मैंने फोन पर उसके पिता को भी धन्यवाद तथा साधुवाद कहा। काश हमारे देश के सभी नवयुवक उसी प्रकार के सभ्य, सुसंस्कृत, विनयशील, सेवाशील और अनुशासनप्रिय युवक बन सकें।

उस दिन अपरान्ह में हम दोनों होटल बाहर के कहीं नहीं गये क्योंकि वह करवा चौथ का दिन था। भारत के अधिकांश प्रदेशों में सधवा नारियाँ इसे अपना सबसे बड़ा पर्व मानती हैं। विधवा और अविविाहित नारियों के लिये यह त्यौहार नहीं है। उस दिन नारियाँ निर्जल-व्रत रखती हैं अर्थात् दिन भर न कुछ खाती हैं और न ही पीती हैं-जल पीना भी इस व्रत में वर्जित है। रात को आठ बजे जब चन्द्रमा आकाश में दृष्टिगोचर होता है तब नारियाँ चन्द्र को देखकर पूजा करती हैं और तब कहीं अन्नजल ग्रहण करती हैं। नारियों द्वारा यह व्रत अपने पति के लिये किया जाता है और उस दिन वे भगवान से

यही प्रार्थना करती हैं कि उनके पति स्वस्थ रहें, सुखी रहें और दीर्घ-जीवी हों। पति के प्रति ऐसा समर्पित पर्व कदाचित विश्व के किसी अन्य देश में नारियों द्वारा नहीं माना जाता है। फिर भी इसे क्रूर विडम्बना ही कहा जायेगा कि करवा चौथ का व्रत रखने वाली अधिकांश नारियों का उनके पतियों द्वारा बड़ा शोषण किया जाता है तथा उन्हें अनेक प्रकार की यातनायें भी दी जाती हैं।

करवा चौथ में मिट्टी के बर्तन (करवा) में जल भरा जाता है और उसके अन्दर कुछ सींके डाल दी जाती हैं। करवा के ऊपर ढक्कन होता है जिसमें अन्न के दाने भरे होते हैं। करवा को रंग और फल-पत्ती से सजाया जाता है। चन्द्रमा के उदय होने पर चन्द्र की ओर मुख करके नारियाँ पूजा करती हैं। उस दिन गौहाटी में करवा की तलाश की गई किन्तु बाजार में वह उपलब्ध नहीं था। कदाचित असम में करवा चौथ नहीं मनाया जाता। अतः होटल से एक जग (स्टील का बर्तन) में कुछ जल मँगाया और उसी को काम चलाऊ करवा का रूप दिया। इस प्रकार करवा चौथ का पूजन हुआ जिसके बाद में मेरी पत्नी ने जलपान किया। तदुपरान्त हम दोनों भोजन करके सो गये। चूँकि हम लोग उस दिन घर से बाहर होटल में थे और अकेले थे अतएव पूजन बड़ी शान्ति के साथ सम्पन्न हुआ। वरना प्रथा यह है कि चाँद निकलने पर सधवा नारियाँ अपने-अपने करवे लेकर मुहल्ले की अन्य सधवा नारियों के साथ एकत्र होती हैं और उनमें से एक बुजुर्ग नारी द्वारा करवा चौथ के महत्त्व पर कथा कही जाती है। उसके बाद कुछ पूजन-गीत होता है। पूजा के बाद चन्द्रमा को करवे के जल से अर्घ्य दिया जाता है। तत्पश्चात् नारियाँ अपने-अपने घर वापस जाती हैं। सधवा नारियाँ उस समय आभूषण पहने होती हैं और नये या धुले हुये वस्त्र धारण करती हैं। सभी घरों में उस दिन सामर्थ्य के अनुसार पकवान बनाये जाते हैं। उत्तर भारत में हिन्दुओं का यह एक प्रमुख एवं पावन पर्व माना जाता है।

दिनांक 9 अक्टूबर की पूर्वान्ह ब्रह्मपुत्र होटल में ही उपरोक्त चयन समिति की बैठक रखी गई थी। समय से समिति के दो सदस्य उपस्थित हो गये थे। पूर्वव्यस्तता के कारण समिति के तीसरे सदस्य बैठक में नहीं आ सके। फलस्वरूप समिति के तीनों सदस्यों ने बैठक की और 1½ घण्टे के अन्दर समिति की बैठक पूरी कर ली गई तथा बैठक की समाप्ति के साथ ही समिति की संस्तुति राज्यपाल के सचिव को हस्तगत कर दी गई। राज्यपाल के सचिव इस प्रयोजन हेतु ब्रह्मपुत्र होटल एक दिन पूर्व ही आ गए थे और उनके द्वारा होटल में समुचित व्यवस्था कर दी गई थी जिससे समिति के सदस्यों को वहाँ किसी प्रकार की असुविधा या कठिनाई नहीं हुई।

अपरान्ह में हमें ईटानगर के लिये प्रस्थान करना था अतएव चयन समिति की बैठक

के बाद हमने शीघ्र भोजन किया। अरुणाचल के राज्यपाल श्री माता प्रसाद जी ने हम दोनों को अरुणाचल आने का कृपा करके निमंत्रण दिया था और राजभवन में ही हमारे ठहरने की व्यवस्था की थी। भोजन के पश्चात् हम दोनों गौहाटी हवाई अड्डा के लिये रवाना हुये। रास्ते में गौहाटी नगर की एक झलक देखने को मिली। उत्तर-पूर्वी भारत का यह एक प्रमुख व्यापारिक एवं व्यावसायिक नगर है। राजनीति का भी यह एक प्रमुख केन्द्र है। ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे बसे होने के कारण इसकी महत्ता और अधिक है। काफी पुराना नगर है। यहाँ का विश्वविद्यालय देश के पुराने विश्वविद्यालयों में से एक है। यहाँ असम का उच्च न्यायालय स्थित है। पहले असम की राजधानी शिलांग थी जो मेघालय बन जाने के बाद अब केवल मेघालय की राजधानी है। गौहाटी से दस मील दूर दिसपुर में असम राज्य की राजधानी बनाई गई है किन्तु राज्य सरकार के बहुत से कार्यलय अब भी गौहाटी में ही कार्यरत हैं और वहाँ के अधिकांश राज्यकर्मी गौहाटी में निवास करते हैं। गौहाटी की मण्डी बहुत बड़ी और प्राचीन है। असम, अरुणाचल, मेघालय, नागालैण्ड और मिज़ोरम राज्यों को गौहाटी से ही सभी प्रकार की आपूर्ति की जाती है जिसके फलस्वरूप गौहाटी के व्यापारी बड़े धनाढ्य और सम्पन्न हैं। यही नहीं, यहाँ के व्यापारी उपरोक्त राज्यों में अपने गोदाम और दुकानें खोले हुये हैं। यहाँ यह उल्लेख आवश्यक है कि कुछ वर्ष पूर्व असम राज्य को काटकर ही अरुणाचल, मेघालय, मिजोरम और नागालैण्ड पृथक राज्य बनाये गये थे। यही कारण हैं कि उपरोक्त राज्यों का अधिकांश व्यापार अब भी असमियों के हाथ में हैं।

गौहाटी नगर के अन्दर सड़कों की दशा अच्छी नहीं पाई गई। सड़कों में गड्ढ़े और धूल पाई गई। सड़कों और पार्कों तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों का रख-रखाव बड़ा सन्तोषजनक नहीं दिखाई दिया। नगर के अन्दर प्राचीन और नवीन दोनों शैली के भवन दिखाई दिये। पुराने बंगले बहुत दिखाई देते थे जिनकी छतें अब भी बड़े सुन्दर खपरैल की बनी हैं। इन बंगलों के उद्यान बड़े हरे-भरे थे, सुन्दर व रंगीन फूलों से शोभायमान थे। दूसरी ओर बहुमंजली इमारतें भी गौहाटी में बहुत पाई जाती हैं जैसा कि देश के अन्य नगरों में हैं। यहाँ फुटबाल खेल बड़ा लोकप्रिय है। नगर के सभी खेल-मैदानों में बालक फुटबाल खेलते दिखाई दिये। हवाई अड्डे का मार्ग ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे-किनारे नगर के अन्दर से जाता है जिसमें काफी भीड़-भाड़ पाई गई। भीड़ के बावजूद नदी का दृश्य मनोरम था। इसका पाट बहुत चौड़ा है, नदी के दूसरे किनारे पर वृक्षों से पूर्ण हरी-भरी आकर्षक पहाड़ियाँ देखने को मिल रही थीं। नदी के किनारे-किनारे सैकड़ों नावें और स्टीमर पाये गये थे जिनके द्वारा यात्री न केवल नदी पार करते हैं बल्कि नगर के एक

कोने से दूसरे कोने जाने के लिये भी इन नावों का उपयोग गौहाटी के निवासियों द्वारा किया जाता है। नाव से यात्रा का सबसे बड़ा लाभ यह भी है कि नदी के ऊपर प्रदूषण बहुत कम है जबकि सड़क के ऊपर धूल व मोटरगाड़ियों का धुआँ बहुत पाया जाता है। इसके अलावा नदी की नैसर्गिक छटा नेत्रों और मन को बड़ी शान्ति व शीतलता प्रदान करती है।

गौहाटी से वहाँ के हवाई अड्डा जाने में लगभग एक घण्टे का समय लगता है। नगर से निकलने के बाद सड़क अच्छी पाई गई और सड़क के दोनों ओर बड़ी हरियाली दिखाई दी। केलों के पेड़ प्रचुर संख्या में पाये जाते हैं। दोनों ओर की भूमि धान के, खेतों से पूर्ण थी। कहीं खाली भूमि नहीं दिखाई दी। आम, कटहल और नारियल के पेड़ भी बहुत नज़र आ रहे थे। कुछ खेतों में धान पक रहा था। जो सुनहले रंग का हो गया था और बड़ा सुन्दर लग रहा था। जो धान पकने से दूर था वह गाढ़े हरे रंग का था और दूर से काले-रंग का दिखाई दे रहा था। धान के उन मनोरम खेतों को देख-देखकर मन बड़ा पुलकित हो रहा था। और बारम्बार अपना राष्ट्रीय गीत याद आ रहा था:-

"वन्दे मातरम।
सुजलाम, सुफलाम, मलयज शीतलाम्।
शस्य श्यामलाम्-वन्दे मातरम्।।"

रास्ते भर धान के हरे-भरे और सुनहले खेतों को देखते हुये समय का पता नहीं चला और हम लोग गौहाटी हवाई अड्डा पहुँच गये। यह अपने देश का एक प्रमुख हवाई अड्डा है जहाँ दिल्ली और कलकत्ते से नित्य सीधे विमान आते हैं। गौहाटी से ईटानगर को पवनहंस हेलीकाप्टर कुछ वर्षों से जाने लगे हैं जिसके लिये हवाई अड्डे के पूर्वी सिरे पर एक अलग से टर्मिनल (अड्डा) बनाया गया है। वहाँ पहुँचने पर अरुणाचल के राज्यपाल महोदय से भेंट हुई। वह दिल्ली से आये हुये थे और उसी हेलीकाप्टर से ईटानगर जा रहे थे। मिलते ही उन्होंने हमारा सहर्ष स्वागत किया और अरुणाचल आने के लिये धन्यवाद भी दिया। हमने भी उन्हें निमंत्रण के लिये हार्दिक धन्यवाद दिया तथा गौहाटी में प्रवास की अच्छी व्यवस्था की सराहना की। पवनहंस एक सरकारी उपक्रम है जिसमें भारत सरकार की 75 प्रतिशत और अरुणाचल सरकार की 25 प्रतिशत पूँजी लगी हुई है। इस हेलीकाप्टर में लगभग 7-8 सवारी ही आराम से बैठ सकते हैं। इसके अधिकांश यात्री अरुणाचल के राजनेता, मंत्री और अधिकारी होते हैं। गौहाटी से ईटानगर का सफर लगभग एक घण्टे में तय किया जाता है और एक व्यक्ति का किराया दो हजार

रुपये से अधिक है। ऐसा इसलिये है कि इस यान में बहुत कम सवारी जा सकती हैं जबकि खर्चे अधिक हैं।

गौहाटी से ईटानगर की यात्रा के दौरान उस दिन हमें असम और अरुणाचल की भौगोलिक एवं प्राकृतिक सौन्दर्य के पूर्ण दर्शन का अवसर मिला। असम की अधिकांश भूमि समतल और हरी-भरी है। पूरे राज्य में धान के हरे-भरे खेत सर्वत्र मिले। ऊपर से ऐसा लगता था कि वे धान के खेत न होकर हरे गलीचे भूतल पर बिछे हैं। इस क्षेत्र में वर्षा काफी होती है अतः वर्ष में धान की कई फसलें असम के किसान लेते हैं। खेतों और बागों के बीच तालाब और पोखरे भी बहुत दिखाई दिये जिनमें मछली-पालन किया जाता है। चावल और मछली यहाँ के लोगों का प्रिय भोजन है जैसा कि बंगालियों का है। पूरे रास्ते ऐसा भूभाग कहीं नहीं मिला जहाँ हरियाली न हो। काफी समय तक हमारा हेलीकाप्टर ब्रह्मपुत्र नदी के ऊपर-ऊपर उड़कर चलता रहा। ऊपर से यह विशाल नदी बड़ी दूर तक दृष्टिगोचर होती थी और इसके पाट सर्वत्र मीलों चौड़े दिखे। कहीं-कहीं नदी के मध्य टापू मीलों लम्बे और चौड़े हैं और सैकड़ों लोगों की बस्तियाँ उन टापुओं में पाई जाती है। वर्षा ऋतु में बताते हैं कि इस नदी का पाट सभी जगह समुद्र सा दृष्टिगोचर होता है। ब्रह्मपुत्र नदी का दृश्य मनोरम था। हमारा हेलीकाप्टर जब नदी के ऊपर-ऊपर उड़ता था तो नीचे नदी की नील धारा दीखती थी और ऊपर की ओर देखने पर नीलाम्बर की छतरी दिखाई पड़ती थी। खेतों पर किसान सर पर 'स्ट्रा-हैट' (तृण टोप) लगाये काम कर रहे थे। यह टोप बड़े आकार का होता है जो धूप और वर्षा दोनों से रक्षा करता है। यहाँ नारियाँ खेतों में भी पुरुष से कन्धे से कन्धा मिलाकर बड़ा काम करती हैं जबकि घर का पूरा काम उन्हें ही अकेले करना पड़ता है। उस दिन वैसे तो आसमान साफ था किन्तु कहीं-कहीं श्वेत मेघ आ जाते थे जिनके कारण वहाँ नीलाम्बर के स्थान पर श्वेताम्बर का दृश्य प्रस्तुत हो जाता था।

असम की सीमा पार करने के बाद हम लोग अरुणाचल की सीमा के अन्दर प्रवेश किये जहाँ खेतों के साथ ऊँची पहाड़ियाँ और गहरी घाटियाँ दोनों देखने को मिलीं। हिमालय पर्वत का यह पूर्वी भाग हरे वनों, वृक्षों, झाड़ियों और हरी घास से पूर्ण है। हरियाली के अलावा कुछ दिखाई नहीं देता था। ऐसी हरियाली या तो केरल प्रदेश में देखने को मिलती है या फिर कश्मीर घाटी और मनाली (हिमाचल) में। यहाँ का हिमालय, कश्मीर, हिमाचल और उत्तरांचल के हिमालय से कुछ भिन्न है। उत्तर और उत्तर पश्चिम भारत की पर्वत चोटियाँ ऊँची और नुकीली होती हैं जबकि यहाँ की चोटियाँ कम ऊँची होती हैं और गोलाईदार आकार लिये होती हैं। पठारनुमा यहाँ की चोटियाँ मीलों लम्बाई में चली जाती हैं और ऊपर से इतनी समतल दीखती हैं कि उन पर दौड़ने को मन चाहता

था। हम लोग वर्षा ऋतु की समाप्ति पर गये थे अतः हिमालय के उस भूभाग में घने रंग की हरियाली ही हरियाली सर्वत्र दिखाई दे रही था।

अरुणाचल प्रदेश पूर्णतया हरे और घने वनों से आच्छादित है। वहाँ की हरियाली को देख-देखकर बड़ी नेत्र-तृप्ति हो रही थी। रास्ते में कोई बड़ी आबादी नहीं दिखाई दी। छोटे-छोटे गाँव व नदी-नाले अवश्य दिखाई दिये जैसाकि चन्द घरों की बस्ती वाले गाँव पर्वतों में प्रायः पाये जाते हैं। ईटानगर के पहले नाहरलागुन पड़ा जहाँ पवनहंस का हवाई अड्डा है। चूँकि हमारे साथ राज्यपाल जी चल रहे थे अतः हेलीकाप्टर पहले ईटानगर राजभवन गया और राजभवन के हेलीपैड पर उतरा। यह हेलीपैड राजभवन के परिसर से लगा हुआ और गोल आकार का है। वहाँ हेलीकाप्टर से उतर कर हमें राजभवन की स्टाफ कार में बैठाया गया। हेलीपैड के फाटक से कार अन्दर चली ही थी कि एक मिनट में हम राजभवन आ गये। हमें नहीं पता था कि हेलीपैड का वह फाटक राजभवन परिसर का ही फाटक था। हेलीपैड पर राज्यपाल जी और हम सबको उतारकर हेलीकाप्टर को नहारलागुन हवाई अड्डा जाना था क्योंकि वहाँ की कुछ सवारियाँ हमारे साथ हेलीकाप्टर में आई थीं। यह यात्रा बड़ी सुखद रही।

राजभवन में वहा के स्टाफ द्वारा हमें अतिथि-कक्ष ले जाया गया जो बड़ा साफ-सुथरा और आधुनिक साज-सज्जा से पूर्ण था। वहाँ का राजभवन नवनिर्मित है जो सन् 1974 में अरुणाचल राज्य के गठन के बाद बनाया गया है। यह दो मंजिला भवन है। ऊपर की मंजिल में राज्यपाल जी का निवास है और उनके पारिवारिक अतिथियों के लिये कुछ अतिथि-कक्ष हैं। नीचे की मंजिल में स्वागत-कक्ष, भोजन-कक्ष, शिविर-कार्यालय, पुस्तकालय, पाकशाला और कुछ अतिथि-कक्ष हैं। हमारा अतिथि-कक्ष नीचे की मंजिल में था जो शिविर-कार्यालय से लगा हुआ था। राजभवन का परिसर बड़ा सुन्दर और हरा-भरा था। अनेक प्रकार के फूल उद्यान में खिल रहे थे। अशोक व यूकोलिप्टस आदि वृक्षों की कतारें परिसर के मार्गों के किनारे आर चहारदिवारी के किनारे-किनारे खड़ी थीं जैसे कि वहाँ सन्तरी एक पंक्ति में खड़े कर दिये गये हों। पूरे परिसर का रख-रखाव उत्तम था। ईटानगर पहुँचने पर शाम हो गई थी। राजभवन पहुँचते ही हमें नाश्ते के साथ चाय दी गई थी जिसे पीकर रास्ते की थकावट जाती रही। चाय पीकर बिस्तर पर हम दोनों ने थोड़ा आराम किया और फिर सामान खोलकर यथास्थान अपने-अपने वस्त्र व प्रसाधन-वस्तुओं को ठीक से लगाया। राजभवन का स्टाफ हमसे पूछ-पूछ कर हमारे आराम की सामग्री उपलब्ध करने में लग गया जिससे कि हमें कोई असुविधा न हो।

रात्रि के आठ बजे हमें राज्यपाल जी के साथ भोजन करने का निमंत्रण आया। ऊपर की मंजिल में राज्यपाल जी और उनके परिवार का भोजन-कक्ष है जिसमें एक दर्जन

से अधिक व्यक्ति एक साथ बैठकर भोजन कर सकते हैं। भोजन के पूर्व हमें उनके बैठक के कमरे में ले जाया गया जहाँ वह हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे। वहाँ गर्म व स्वादिष्ट सूप (पेय) हमें पीने को दिया गया। काफी देर तक हम अरुणाचल के बारे में जानकारी प्राप्त करते रहे क्योंकि हम लोग वहाँ पहली बार आये थे। फिर हम खाने की मेज़ पर गये। मेज़ पर राज्य पाल जी और हम दोनों के लिए ही व्यवस्था थी क्योंकि उस समय वह वहाँ अकेले ही थे। उनकी धर्मपत्नी जी कभी-कभी वहाँ आकर प्रवास करती हैं जैसाकि हमें राज्यपाल जी द्वारा बताया गया। वह अधिकतर जौनपुर रहती हैं जहाँ के राज्यपाल जी निवासी हैं या फिर लखनऊ अपने बेटे-बहू के पास रहती हैं। हमें यह भी बताया गया कि ईटानगर में उनका स्वास्थ्य अधिक ठीक नहीं रहता। परिणामस्वरूप राज्यपाल जी को राजभवन में प्रायः अकेले ही रहना पड़ता है। मेज़ पर सामिष और निरामिष दोनों प्रकार का भोजन परोसा गया क्योंकि मेरी पत्नी शाकाहरी हैं। भोजन स्वादिष्ट था। पूछने पर पता चला कि राजभवन के रसोइये बिहार, बंगाल, उड़ीसा और दक्षिण भारत के निवासी हैं अतः वे दक्षिण भारतीय और बंगाली ढंग का भोजन बनाने में निपुण हैं। अरुणाचल का कोई रसोइया नहीं था। राजभवन के स्टाफ में कई नेपाली कर्मी भी पाये गये। वहाँ का स्टाफ बड़ा अनुशासित और सेवाशील पाया गया।

भोजन के बाद राज्यपाल जी ने हमसे पूछा कि अरुणाचल में हमारा क्या कार्यक्रम रहेगा। उनकी इच्छा थी कि हम उस प्रदेश के कतिपय रमणीक स्थान देखें और वहाँ के आदिवासियों की सभ्यता व संस्कृति को निकट से देखें तथा अरुणाचल की नैसर्गिक सम्पदा की छटा को देखें। मेरी इच्छा तो ईटानगर से बाहर जाकर कुछ देखने की थी किन्तु मेरी पत्नी बाहर जाने को इसलिये तैयार नहीं हुई कि पहाड़ी रास्तों में मोटरकार से जाने पर बड़ी असुविधा होती है तथा बड़ा समय भी लगता है। अधिक वर्षा होने के कारण बरसात में वहाँ की सड़कें भी बड़ी खराब हो जाती हैं। अतएव यह निश्चय हुआ कि अपने अल्प-प्रवास में हम लोग राजभवन में ही आराम करेंगे और ईटानगर के अन्दर तथा आस-पास के दर्शनीय स्थान देखे लेंगे।

दिनांक 10.10.98

सुबह नाश्ता करने के बाद हमने ईटानगर का बाज़ार देखने का निश्चय किया क्योंकि मेरी पत्नी को अरुणाचल प्रदेश की जनजातियों के शिल्पियों और बुनकरों द्वारा निर्मित कुछ वस्त्र एवं वस्तुयें खरीदनी थीं। बाज़ार जाने के पूर्व राजभवन के कर्मियों से स्थानीय दुकानों के बारे में पूछ-ताछ की तो एक पुलिस अधिकारी ने कहा कि ईटानगर की बाज़ार में कुछ देखने और खरीदने योग्य नहीं है वह एक गाँव की बाज़ार जैसी है। यह अधिकारी उत्तर प्रदेश का निवासी था। हमने अपने साथ राजभवन के ऐसे कर्मी को

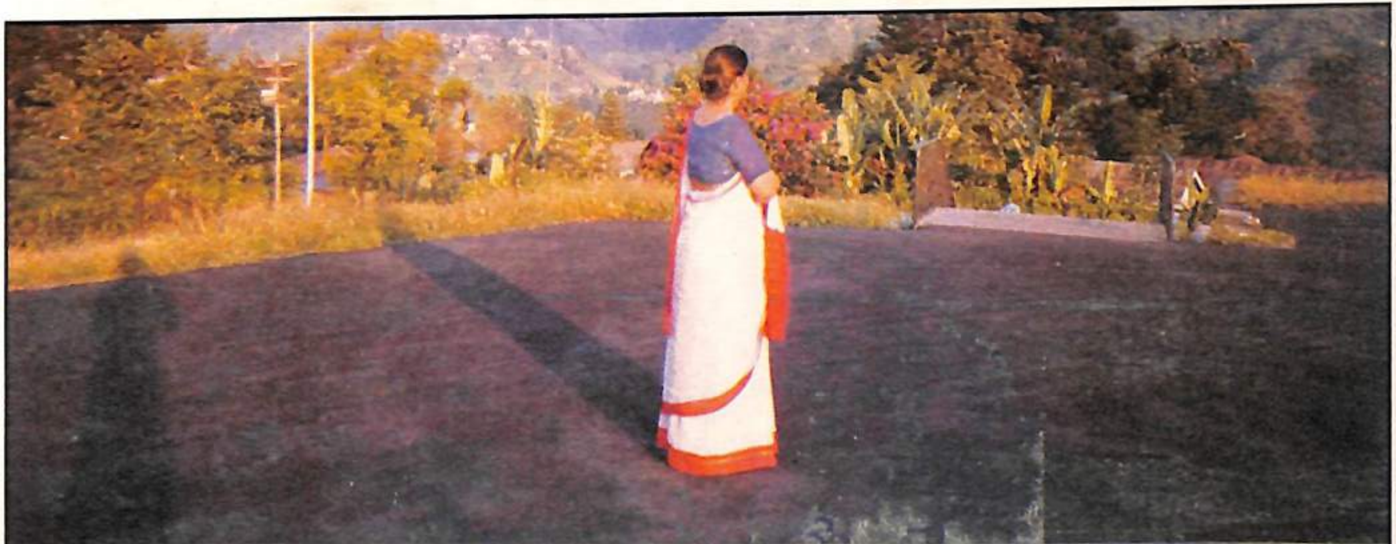

(ऊपर) राजभवन ईटानगर के परिसर में खड़ी लेखक की पत्नी (सुश्री विद्या सोनकर)
(नीचे) लेखक और उनकी पत्नी के बीच श्री माता प्रसाद राज्यपाल, अरुणाचल प्रदेश

लिया जो अरुणाचल प्रदेश का निवासी था। सबसे पहले अरुणाचल प्रदेश के इम्पोरियम में गये जो माह के द्वितीय शनिवार (अवकाश दिवस) होने के कारण बन्द मिला। उसके आगे एक नई बाज़ार गये जो नवनिर्मित बताई गई और बाज़ार का मालिक एक स्थानीय विधायक बताया गया। एक बड़े भूभाग में यह बाज़ार स्थित है जिसमें पचासों दुकानें हैं और सभी प्रकार की वस्तुओं की दुकानें वहाँ पाई जाती हैं। अधिकांश दुकानों के मालिक स्थानीय नहीं लगे अर्थात वे जनजाति के सदस्य नहीं थे। दुकानों में घरेलू उपयोग की वे सभी वस्तुयें मिल रही थीं जो नीचे मैदान की बाज़ारों में मिलती हैं। बाज़ार में केवल एक दुकान मिली जिसमें अरुणाचल प्रदेश की जनजातियों के शिल्पकारों द्वारा निर्मित शाल, सदरी, जैकेट, स्कर्ट आदि दिखाई दिये। सूती और ऊनी दोनों प्रकार के वस्त्र थे जो शिल्पियों द्वारा घर के अन्दर बनाये गये थे। बड़े रंग-बिरंगे वस्त्र थे। तेज़ रंग के वस्त्र ही वहाँ अधिकांशतः पाये गये।

दोनों सेल्स गर्ल्स (विक्री-युवतियाँ) हिन्दी बोल रही थीं अतः दुकान में भाषा की कोई समस्या नहीं उठी। वैसे हमारे साथ जो अधिकारी गया था वह स्वयं अरुणाचल प्रदेश (बोमडीला) का एक आदिवासी था जो बीच-बीच में बोलकर हमारी सहायता कर रहा था। दुकान में हमने जो विविध जनजातीय वस्त्र देखे वे बड़े सुन्दर और आकर्षक लगे। उनकी विशेषता यह है कि प्रत्येक जनजाति के वस्त्रों की बनावट और रंग भिन्न-भिन्न थे। उदाहरणार्थ नागा जाति के शाल लाल और काले रंग के थे। बीच में काला रंग और काले रंग की कई पट्टियाँ उनमें पाई जाती हैं तथा शेष भाग गाढ़े व तेज़ लाल रंग का होता है। मिजो जाति के शाल का रंग व बनावट अलग होता है। इसी प्रकार प्रत्येक जनजाति के विभिन्न वस्त्रों के रंग व बनावट भिन्न-भिन्न पाये गये। इन वस्त्रों के नाम भी जनजातियों पर हैं जैसे नागाशाल, मिज़ो शाल, नीसी शाल, नागिन शाल आदि। अधिकतर वस्त्रों के रंग तेज़ और गाढ़े मिले क्योंकि जनजातीय लोग वस्त्रों में ऐसे ही रंग पसन्द करते हैं।

तदुपरान्त हमें एक और बाज़ार में ले जाया गया जिसका मालिक भी एक स्थानीय विधायक बताया गया किन्तु इस बाज़ार में थोड़ी दुकाने थीं और बहुत सी दुकानें ऐसी मिलीं जो अधिकांशतः नई बनी हैं। ईटानगर की जनसंख्या देखते हुये वहाँ काफी दुकानें पाई गईं और अच्छी दुकाने पाई गईं। इसका कारण यही है कि ईटानगर अरुणाचल प्रदेश की राजधानी है और सरकार के अधिकांश अधिकारी व कर्मचारी यही रहते हैं जो अच्छे उपभोक्ता कहे जाते हैं। आस-पास के आदिवासी लोग भी यहाँ खरीदारी के लिये आते रहते हैं। बाज़ार का एक चक्कर लगाने के बाद हम ईटानगर के नेहरू अजायबघर देखने

गये जो लगभग एक दशक पूर्व स्थापित किया गया था। अरुणाचल प्रदेश में जितनी जनजातियाँ हैं-उन्हीं पर यह अजायबघर है जिसका रख-रखाव ठीक पाया गया। यहाँ की जनजातियों के जीवन की पूरी झाँकी इस अजायबघर में मिलती है-अर्थात प्रत्येक जनजाति का क्या पहनावा है, क्या कुटीर उद्योग-धन्धे हैं, शिकार करने के क्या उपकरण (हथियार) हैं, युद्ध करने के क्या-क्या अस्त्र-शस्त्र हैं-इत्यादि। जनजातीय नारियाँ कैसे आभूषण पहनती हैं और पुरुष कैसे वस्त्र व गहने प्रयोग में लाते हैं। इन सबका चित्रण इस अजायबघर में बड़े अच्छे ढंग से किया गया है। प्रदेश के विभिन्न जनजातियों के लोक-नृत्यों का सुन्दर चित्रण यहाँ मिलता है। लकड़ी के विविध वाद्ययंत्रों का अच्छा संग्रह है जिनका प्रयोग प्रदेश की जनजातियों द्वारा किया जाता है। एक स्थान पर पेड़ के एक तने को मैंने देखा जो नगाड़े के तौर पर एक जनजाति द्वारा प्रयोग किया जाता है। तने पर लकड़ी के बने कई हथौड़े रखे थे जिन्हें आपात स्थिति में उस तने पर बजाया जाता है जिसे सुनकर बस्ती के सभी जनजातीय लोग एकत्र होते हैं और आपात् सभा करते हैं।

अरुणाचल प्रदेश की अनेक जनजातियाँ बौद्ध-धर्म को मानती हैं अतः अजायबघर में भगवान बुद्ध की बड़ी सुन्दर और दुर्लभ मूर्तियाँ देखने को मिलीं जो लकड़ी और विभिन्न धातुओं की बनीं थीं। तिब्बती भाषा की अनेक पाण्डुलिपियाँ मिलीं जो बौद्ध-धर्म और भगवान बुद्ध से सम्बन्धित थीं। मध्यकालीन युग में प्रदेश में जो राज्य स्थित थे उनके समय के सिक्के, धातुओं के बर्तन व आभूषण तथा मिट्टी के बर्तनों के अंश अजायबघर में देखने को मिले जिनसे पता चलता है कि उस समय उन राज्यों में कैसी सभ्यता, संस्कृति और राज्य-व्यवस्था थी। ईटानगर के भग्नावशेषों का चित्रण भी वहाँ पाया गया जिसमें लाखौरी ईंटों का प्रयोग किया गया था। मध्यकाल में यहाँ अनेक छोटे-छोटे राज्य पाये जाते थे जो आपस में लड़ा करते थे और एक दूसरे से प्रायः सशंकित रहते थे। वैसे उन राज्यों में बाहरी आक्रमण के प्रमाण कम मिलते हैं जैसे कि भारत के मैदानी भागों में निरन्तर बाह्य आक्रमण होते रहे हैं। कदाचित् इसका कारण यही हो सकता है कि हिमालय की गोद में स्थित इन राज्यों में प्रवेश करने के रास्ते दुर्गम, अतिदीर्घ और कष्टदायी हुआ करते थे।

अजायबघर के बाद रास्ते में बौद्ध अध्ययन-केन्द्र पड़ा जो तिब्बत के धर्मगुरु एवं धर्माध्यक्ष दलाई लामा द्वारा 5 मई, 1983 को आरम्भ किया गया था अर्थात् उस दिन दलाई लामा द्वारा इस केन्द्र का शिलान्यास किया गया था। केन्द्र के मध्य में भगवान बुद्ध का सुन्दर मन्दिर है जो तिब्बती शैली पर निर्मित है। मन्दिर के अन्दर जाकर भगवान बुद्ध को नमन किया। बड़ा शान्त और पावन वातावरण मन्दिर के अन्दर व्याप्त था जिससे

आनन्द की उत्कृष्ट अनुभूति होती थी। मन्दिर का लामा (पुजारी) तवांग जिले से आया था जो तिब्बत से लगा हुआ है। अतएव उस पर तिब्बती महायान बौद्ध-धर्म की छाप पड़ी थी। लामा की उम्र अधिक नहीं थी। वह एक युवा लामा था। मन्दिर के अन्दर 10-12 वर्ष की उम्र का एक बालभिक्षु फर्श पर बैठा तिब्बती भाषा में बौद्ध ग्रन्थ को धीमे स्वर में पढ़ रहा था। उसके स्वर में संगीत की हल्की धारा प्रवाहित हो रही थी। आँख बन्द किये वह पढ़ रहा था। पहले मैंने समझा कि वह नेत्रहीन होगा। फिर मैं उसके पास गया और निकट से देखा। उसके एक हाथ में एक लम्बा तृण था जो धर्मग्रन्थ की पंक्तियों पर चल रहा था। अर्थात् उसकी आँखें ग्रन्थ को पढ़ते जैसे-जैसे आगे बढ़ती थीं वैसे-वैसे वह तृण (तिनका) भी चलता रहता था। पूछने पर लामा ने बताया कि बालक लामा मन्दिर में पाँच वर्ष रहेगा और भिक्षु का जीवन व्यतीत करेगा। केन्द्र में उसके अलावा अन्य कई बालक लामा दिखाई दिये।

मन्दिर के उत्तर में एक बोधिवृक्ष स्थित है जो सन् 1983 में दलाई लामा द्वारा लगाया गया था, अब वह बढ़कर पूरा वृक्ष हो गया है जिसकी पूजा बौद्ध श्रद्धालुओं द्वारा की जाती है। मन्दिर के पूर्व की ओर एक छोटा सा स्तूप भी बना है जिसकी परिक्रमा बौद्ध-धर्मावलम्बियों द्वारा की जाती है। भगवान बुद्ध के दर्शन के बाद बौद्ध मन्दिर की भी परिक्रमा की जाती है। इस बौद्ध-अध्ययन केन्द्र में अभी तक अध्ययन का कार्य विशेष रूप से आरम्भ नहीं हो पाया है। अरुणाचल मंत्रिमण्डल में 3-4 बौद्ध मंत्री हैं जो इस दशा में प्रयासरत हैं। आशा है कि शीघ्र ही इस केन्द्र में कुछ बौद्ध विषयों पर अध्ययन आरम्भ हो जायेगा।

दिनांक 11.10.98

दिनांक 11.10.98 की पूर्वान्ह हम नाहरलागुन में 'ओजू वेलफेयर एसोसियेशन' द्वारा संचालित अनाथ बच्चों और निराश्रित नारियों का केन्द्र देखने गये। ईटानगर से चन्द मील दूर ईटानगर-गौहाटी मार्ग पर नाहरलागुन कस्बा स्थित है। सन् 1974 ई० में अरुणाचल राज्य बनने के बाद नाहरलागुन में ही इस राज्य की राजधानी बनाई गई थी जो केवल पाँच वर्ष तक रही। उसके बाद राजधानी ईटानगर स्थानान्तरित हो गई। अब भी इस राज्य के अनेक कार्यालय नाहरलागुन में विद्यमान हैं। इस कस्बे की बाज़ार अच्छी है-मुख्य मार्ग के दोनों और बहुत सी नई दुकानें बनी हैं जहाँ गृहस्थी की सभी वस्तुयें, उपकरण और सामान उपलब्ध हैं। इन दुकानों के मालिक अधिकांशतः असमी हैं जो अरुणाचल प्रदेश बनने के पूर्व से यहाँ बसे हुये हैं और जिनकी आर्थिक दशा अच्छा पाई

जाती है। नाहरलागुन पापू नदी पर स्थित है जो ईटानगर की ओर से आती है। यहाँ के दुकानदार सभी सामान गुहाटी से सड़क द्वारा मँगाते हैं। मोटर ट्रकें 12 घण्टे का लम्बा सफर तय करके गुहाटी से नाहरलागुन और ईटानगर सामान पहुँचाती है। पवनहंस द्वारा कुछ वर्षों से गुहाटी और नाहरलागुन के बीच हेलीकाप्टर सेवा आरम्भ की गई है जिससे ईटानगर व नाहरलागुन पहुँचने में सुविधा हो गई है किन्तु उसके द्वारा चन्द सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा ही सफर किया जा सकता है।

'आजू वेलफेयर एसोसियेशन' की अध्यक्ष श्रीमती बिनी यंगा हैं जो पहले अरुणाचल राज्य की पुलिस में सिपाही थीं। उनके पति अब भी राज्य पुलिस में निरीक्षक के पद पर कार्यरत हैं। बिनी यंगा ने वनस्थली (राजस्थान) में शिक्षा प्राप्त की है। कुछ वर्षों बाद उन्होंने पुलिस की नौकरी से त्याग-पत्र देकर समाज-सेवा आरम्भ कर दी। यह एसोसियेशन एक पंजीकृत स्वैच्छिक संस्था है जिसके अन्तर्गत अनाथ बच्चों का आवासीय गृह संचालित है जिसमें नवजात शिशु तक रखे जाते हैं। बड़े बच्चों का विद्यालय भी इस संस्था द्वारा चलाया जा रहा है जो नाहरलागुन और ईटानगर के मध्य मुख्य मार्ग पर स्थित है। इस विद्यालय का अपना प्रांगण और भवन है जो काफी बड़ा और अच्छा है। इनके अलावा नाहरलागुन में ही निराश्रित नारियों के लिये एक बुनाई केन्द्र चलता है जिनमें अनेक कर्घे और सिलाई की मशीनें हैं। निराश्रित नारियाँ इन कर्घों एवं सिलाई की मशीनों पर काम करके प्रतिदिन 30-32 रुपये कमा लेती हैं और इस प्रकार वे अपना जीवन-निर्वाह करती हैं। यदि यह केन्द्र न होता तो उन्हें अपना पेट पालना कदाचित् बड़ा कठिन होता। कार्यशाला में काम करने वाली अधिकांश नारियाँ युवा थीं और उनमें अनेक स्थानीय आदिवासी थीं। इस केन्द्र में विविध एवं विभिन्न प्रकार के रंग-बिरंगे वस्त्र बुने जाते हैं जो यहाँ की जनजातियों के परम्परागत वस्त्र कहे जाते हैं। यहाँ की प्रत्येक जनजाति की वेशभूषा अलग होती है और उनकी बुनाई की अलग-अलग शैली होती है। इन वस्त्रों के रंग चटकीले और तेज़ होते हैं तथा बड़ी बारीक बुनाई कपड़ों में की जाती हैं। मेरी पत्नी ने कुछ वस्त्र इस केन्द्र से खरीदे। संस्था की सुन्दर व्यवस्था, केन्द्र में बुनाई करती युवा नारियों और केन्द्र में तैयार किये गये आकर्षक वस्त्रों को देखकर हम बड़े प्रभावित हुये।

केन्द्र की अध्यक्ष कहीं बाहर गई हुई थीं अतः उनसे भेंट न हो सकी जिसका हमें खेद रहा। तथापि केन्द्र की व्यवस्थापिका ने हमें केन्द्र को बड़ी अच्छी तरह से दिखाया। अन्त में हमें अनाथ बच्चों के कमरे में ले जाया गया। लगभग एक दर्जन बच्चे थे जिनमें एक नवजात शिशु भी था। सभी बच्चे पाँच वर्ष से नीचे थे। स्थानीय आदिवासियों के बच्चे थे जो बड़े स्वस्थ व सुन्दर दिखाई पड़ते थे। हमें देखते ही उन्होंने नमस्ते किया और

ईटानगर का बर्मा बौद्ध मन्दिर (सीढ़ियों के नीचे खड़े लेखक)

अंकिल (चाचा) कहकर टाँगों से चिपट गये। मैंने उनके गाल थपथपाकर उनके प्यार का उत्तर दिया और सभी बच्चों को टाफियाँ बाँटी जिन्हें खाकर वे बड़े प्रसन्न हुये। उनकी अनुदेशिका ने उनसे एक छोटा गीत गवाया और भाव-नृत्य कराया जो बड़ा मनमोहक था। ये बच्चे प्यार के बड़े भूखे होते हैं। यदि इन अनाथ बच्चों को इस संस्था ने शरण न दी होती तो पता नहीं उनमें से कितने परलोक सिधार गये होते तथा शेष सड़कों पर भीख माँगते होते। चलते समय सभी बच्चों ने पुनः हमसे नमस्ते की और "विदा" भी कहा। वह क्षण बड़ा मार्मिक था और ऐसा अनुभव हो रहा था कि हम अपना दिल वहीं बच्चों के पास छोड़े जा रहे हैं। इस संस्था को इन कल्याणकारी कार्यों के लिये शासन से अनुदान मिलता है। राज्यपाल व मुख्यमंत्री समेत अनेक विशिष्ट व्यक्तियों का वहाँ आगमन हो चुका है जिन्होंने संस्था द्वारा कार्यान्वित विविध कल्याणकारी योजनाओं की सरहाना की है। निश्चय ही इस संस्था द्वारा अनाथ बच्चों और निराश्रित नारियों की महान सेवा की जा रही है जिसके लिये यह संस्था और विशेषकर इसकी अध्यक्ष हार्दिक साधुवाद की पात्र हैं।

दिनांक 11 अक्टूबर के अपरान्ह में मैं ईटानगर से लगी हुई निशांग जनजाति की बस्ती देखने गया। कस्बे से लगे होने के कारण इनके रहन-सहन में बड़ी आधुनिकता पाई गई। इनके घर भी पक्के होने लगे हैं। मकानों की छतों में टीन की चादरों का प्रयोग होने लगा है जबकि पहले इनके मकानों की छतें बाँस और पत्तों से बनी होती थीं। कस्बे से थोड़ा दूर निशांग लोगों की छोटी बस्ती मिली जिसमें कुछ घर पारम्परिक शैली के मिले। ये घर लकड़ी, बाँस और पत्तों के बने होते हैं। इनमें ईंट, सीमेण्ट, बालू, चूना आदि का कोई नाम नहीं। भूमि पर लकड़ी और बाँस के लट्ठों का पहले ढाँचा बनाया जाता है जिसके ऊपर बाँस और लकड़ी का मकान लम्बाई में होता है-जैसे रेलगाड़ी का डिब्बा। नीचे के भाग में मिथुन, गाय, बकरी आदि पशु बाँधे जाते हैं और ऊपर निशींग परिवार रहते हैं। सीढ़ी लकड़ी की बनी होती है जिस पर बहुत सँभलकर चढ़ना होता है। एक घर में तो सीढ़ी के नाम पर लकड़ी का एक मोटा खण्ड टेढ़े रखा था जिस पर पैर रखने के लिये थोड़ा गड्ढे काट दिये थे। प्रत्येक मकान के प्रथम भाग में छोटा बरामदा होता है जिसमें बैठने हेतु लकड़ी या बाँस की बेंचें रखी होती हैं जो भारी होती हैं। इसी बरामदे में लकड़ी की ओखली रखी मिलीं जिसमें मूसल द्वारा धान की कुटाई की जाती है। इनके मूसल भी लकड़ी के बने होते हैं और भारी होते हैं। ओखली भी भारी होती है जो पेड़ के तने को कुछ खोखला करके बनाई जाती है। इस ओखली में खड़े होकर धान की कुटाई की जाती है। ओखली के दोनों ओर खड़ी दो नारियों द्वारा धान की कुटाई की जाती है। एक मूसल लकड़ी के बजाय लोहे का था और अन्दर से खोखला था किन्तु धान की कुटाई करने वाला सिरा लकड़ी का ही था। ओखली के पास सूप में रखे चावल मैंने देखे जो

हाल में ही कूटकर निकाले गये थे। चावल छोटे-छोटे और मोटे थे। मुझे बताया कि ये चावल बड़े पौष्टिक होते हैं।

एक निशींग घर के बरामदे में कई निशींग पुरुष मिले जो चावल की अपोंग (बियर) पी रहे थे। इस बियर को ये अपने घर में बनाते हैं। दिन में कई बार ये लोग इसे चाय की भाँति पीते हैं। इसके पीने से कुछ नशा होता है अतः ये लोग चाय की बजाय इसे ही पीते हैं। सरकार की ओर से इसे बनाने में कोई रोक नहीं होती। चूँकि यह चावल से बनती है अतः स्वास्थ्य के लिये हानिकर नहीं बताई जाती बल्कि इसे पीने के बाद शरीर को ऊर्जा मिलती है और चुस्ती आती है। इस पेय को ये घर में बना लेते हैं अतः इसे खर्चीला नशा भी नहीं कहा जा सकता।

निशींग घर रेल-डिब्बे की तरह काफी लम्बा होता है जिसके अन्दर कई खण्ड होते हैं और एक घर में कई परिवार रहते हैं। निशींग पुरुष कई विवाह कर सकते हैं जो उनकी आर्थिक दशा पर निर्भर करता है। सम्पन्न पुरुष आठ-दस विवाह तक करते हैं। दो-तीन पत्नियाँ तो इनके यहाँ बहुत परिवारों में पाई जाती है। घर के अन्दर प्रत्येक पत्नी के लिये अलग-अलग खण्ड बने होते हैं और प्रत्येक पत्नी का अलग चूल्हा होता है लकड़ी और बाँस वाले फर्श पर चूल्हा बनाने के लिये यह एक मिट्टी का चौक बनाते हैं जिस पर चूल्हा होता है। मकान के अन्दर स्नान-घर भी एक किनारे होता है और उसी के पास बर्तन रखने का स्थान होता है किन्तु फर्श लकड़ी या बाँस का ही होता है। कस्बे से लगे होने के कारण इन घरों में नल द्वारा जलापूर्ति व्यवस्था भी पाई जाती है। अन्य घरेलू सामान घर के किनारे-किनारे रखते हैं। प्रत्येक खण्ड में लकड़ी और बाँस के दरवाज़े भी होते हैं जिनमें ताला लगा सकते हैं। ये मकान काफी मज़बूत होते हैं और आठ-दस वर्ष चल जाते हैं। इनमें इतनी अधिक बाँस व लकड़ी आदि लगी होती है कि एक औसत मकान का मूल्य 20-25 हजार रुपये तक होता है।

ईटानगर कस्बे के पास रहने के कारण निशींग नारियों का पहनावा यहाँ काफी आधुनिक हो गया है। सभी युवतियाँ छोटे बाल रखती हैं और शरीर पर टी-शर्ट (कमीज़) व स्कर्ट पहनती हैं। पुरुष पैण्ट और कमीज़ पहनते हैं। घर के अन्दर वे रंग-बिरंगी लुँगी पहनते हैं स्त्रियाँ भी करघे पर कढ़ी और बुनी लुँगी पहनती हैं जिसका रंग व बुनावट चटकीली तथा आकर्षक होती हैं। अन्य जनजातियों की भाँति निशींग नारी ने पूछने पर बताया कि उसके पति की एक और पत्नी है किन्तु उसके और उसकी सौत के बीच सम्बन्ध अच्छे हैं--अर्थात् दोनों मिलजुलकर रहती हैं जिसे जानकर प्रसन्नता हुई। वैसे आम धारणा यह है कि सौतों में बड़ी लड़ाई होती है और वे एक-दूसरे से शत्रुवत् व्यवहार

निशिंग युवती (तम्बाकू पीते हुए) (अरुणाचल)

करती हैं। आगे यह जानकर और भी हर्ष हुआ कि उसका पति उन्हें ठीक से रखता है और वे उसके व्यवहार से सन्तुष्ट हैं। विवाह के बाद निशींग नारियाँ अपने माँ-बाप के घर कभी-कभी जाती रहती हैं किन्तु खाली हाथ नहीं जातीं। अपने पीहर जब वह जाती हैं तो पीहर वालों के लिये खाने-पीने का सामान ले जाती हैं जैसे माँस, मछली व पेय आदि। और जब इनके माँ-बाप इनकी ससुराल में इनसे मिलने आते हैं तो खाली हाथ नहीं आते। वे भी अपने साथ बेटी के यहाँ माँस, मछली व पेय पदार्थ आदि सामान ले जाते हैं। यह प्रथा बड़ी अच्छी है जो भारतीय संस्कृति का अनुकरणीय अंग है। हमारे प्राचीन शास्त्रों में भी इसका वर्णन है कि अपने माता-पिता से बच्चे जब मिलने जायें तो खाली हाथ न जायँ। उनके लिये पुष्प, फल व मिष्ठात्र आदि वस्तुयें ले जायँ और इसी प्रकार माता-पिता भी अपने बच्चों के पास कभी खाली हाथ न जायँ।

अरुणाचल प्रदेश में गाय, बैल, बकरी, भेड़ आदि पशु पाले जाते हैं। बैलों का प्रयोग खेतों की जुताई में किया जाता है। निशींग लोग गाय के दूध का प्रयोग करते हैं किन्तु बकरी का दूध नहीं निकालते हैं। बकरी-बकरे को माँस के लिये पालते हैं। आस्ट्रेलिया की मैरिनो प्रजाति की भेड़ का पालन यहाँ आरम्भ कर दिया गया है क्योंकि उसकी ऊन बड़ी अच्छी होती हैं। इस प्रदेश का प्रसिद्ध पशु मिथुन है जिसे अंग्रेजी में ''बाइसन'' कहते हैं। मिथुन का अगला भाग भैंसे की तरह होता है और पिछला भाग गाय की आकृति का होता है। किन्तु मिथुन के पैर श्वेत रंग के होते हैं। गाय की तरह यह कई रंग का होता है-सफेद, काला, भूरा आदि। दो-तीन रंग के भी मिथुन होते हैं जिस प्रकार गायें दो-तीन रंग की पाई जाती हैं। यह एक पवित्र पशु माना जाता है और पूजा में इसकी बलि दी जाती है। बलि के माँस को प्रसाद के रूप में बाँटकर खाया जाता है। इसका माँस स्वादिष्ट बताया जाता है। मिथुन यहाँ के वनों में भी पाया जाता है।

दिनांक 12.10.98

दिनांक 12 अक्टूबर को मैं पत्नी के साथ अरुणाचल प्रदेश इम्पोरियम देखने गया जो कस्बे के मध्य में स्थित है। इस प्रदेश की विभिन्न जनजातियों द्वारा निर्मित वस्त्र व हस्तकला की वस्तुयें यहाँ बिकती हैं। हाथकरघा और पैर-करघे पर आदिवासी नारियाँ रंग-बिरंगे वस्त्र बनाती हैं जिनके रंग तेज़ और गाढ़े होते हैं। प्रत्येक जनजाति के वस्त्रों की बनावट भिन्न-भिन्न होती हैं। बाँस और केन से बनी कुर्सियाँ, मेज़, सोफे भी यहाँ बिकते हैं जो बड़े हलके, सुन्दर और टिकाऊ होते हैं। केन की टोपियाँ और टोकरियाँ भी बड़ी बारीकी से बनी हुई यहाँ मिलती हैं। प्रत्येक जनजाति की टोपी और टोकरी की बनावट भी भिन्न-भिन्न होती है। ऊनी टोपियाँ भी यहाँ बड़ी गर्म मिलती है जिनकी

बनावट जनजाति पर अलग-अलग होती है। मेरी पत्नी ने इम्पोरियम से कुछ वस्त्र खरीदे। और मैंने भी अपने लिये एक ऊनी टोपी ली।

इम्पोरियम के सामने ईटा किले के पश्चिमी द्वार के भग्नावशेष पाये जाते हैं। किले का द्वार ईंटों का बना है। ईंटों का आकार बड़ा नहीं है। दीवाल के अन्दर ईंटों के टुकड़े भी मिले। नगर के चारों ओर किले की दीवाल थी और इस किले के कई द्वार थे। राजभवन के दक्षिण की ओर भी किले के दक्षिणी द्वार के अवशेष पाये जाते हैं और राजभवन के उत्तरी कोने पर किले के पूर्वी द्वार के भग्नावशेष। किले के ये अंश पुरातत्व विभाग द्वारा संरक्षित हैं।

ईटानगर किले के विषय में अध्ययन करने पर बड़े रोचक एवं महत्त्वपूर्ण तथ्य ज्ञात हुये। दारंग जिले के सन् 1905 ई० के गज़ेटियर में इस किले का उल्लेख है। इतिहासकार श्री डी. एन. दास ने लिखा है कि सन् 1923 में किले पर कोई आबादी नहीं पाई। श्री दास ने लिखा है कि सन् 1923 में उनके द्वारा किले पर हाथी की जो मूर्ति देखी थी वह सन् 1941 में वहाँ नहीं पाई गई। श्री दास के अनुसार 13वीं सदी में राजा रामचन्द्र मायापुरी के नरेश थे। इस किले में उनके काल के भग्नावशेष विद्यमान हैं। इतिहास बताता है कि 13वीं सदी में असम के अहोम राजाओं का सुबनसिरी तक राज था और ईटानगर सुबनसिरी जिले में आता है। राजा रामचन्द्र के पुत्र अरिमत्ता द्वारा यह किला बनवाया गया था। कहते हैं कि राजा रामचन्द्र और उनके पुत्र अतिमत्ता में युद्ध हुआ था जिसमें राजा रामचन्द्र मारे गये थे और उनके मरने पर अरिमत्ता को पता चला कि मृतक उसके पिता थे। राजा रामचन्द्र को भी पता नहीं था, कि अरिमत्ता उनका पुत्र है। कुछ इतिहासकारों के अनुमान के अनुसार यह किला सन् 1350 से 1450 के बीच बना होगा। सामरिक व राजनैतिक दृष्टि से यह किला बड़ा महत्त्वपूर्ण था।

ईटों से बना होने के कारण इसे "ईंटा किला" कहा जाता है। पूर्व में इसे "हीटा" नाम से जाना जाता था। अब भी उसके पास के निशी गाँवों को "हीटा" नाम से वहाँ के लोग जानते हैं। "हीटा" का अर्थ वहाँ की बोली में "ईटा" होता है। सन् 1971 में वहाँ पर ईटा I और II दो गाँव बसे-अर्थात् उसके पूर्व वहाँ आबादी नहीं थी। पूरे क्षेत्र में वन पाया जाता था। इतिहासकारों का अनुमान है कि 14वीं और 15वीं सदी के मध्य लगभग 100 वर्ष तक यह किला विद्यमान रहा। उसके बाद बाहरी आक्रमणकारियों द्वारा इसे नष्ट कर दिया गया होगा। किला-परिसर पाचिन नदी और पापू नाला से घिरा हुआ है। पाचिन नदी को वहाँ के लोग सेखी और बड़पात्ती नदी भी कहते हैं। किले की दक्षिणी पहाड़ी के ऊपर से ब्रह्मपुत्र नदी भी दृष्टिगोचर होती है जो दूर से नीले रंग के

चमकते साँप की तरह दिखती है। यह किला चारों ओर से हरी-भरी पहाड़ियों द्वारा घिरा हुआ है जिनका दृश्य बड़ा मनोरम है।

किले का पश्चिमी द्वार मैदानी भूभाग में स्थित है। इसकी दीवाल लगभग 1½ किलोमीटर लम्बी रही होगी। यह दीवाल ऊँची-नीची पहाड़ियों और नालों के ऊपर से जाती है और इसी में राजद्वार थे जहाँ राजा, उनके परिवार के सदस्य तथा उच्च अधिकारी राजमहल के अन्दर प्रवेश करते थे। इससे अनुमान लगता है कि किले के पश्चिमी भाग में ही राजमहल रहा होगा। किले की पूर्वी दीवाल ½ किलोमीटर ही पाई जाती है। पूर्वी द्वार ईट व पत्थर दोनों का बना था जो वर्तमान राजभवन के पास स्थित है। समुद्र-तल से उसकी ऊँचाई 515 मीटर है। किले का दक्षिणी द्वार सबसे अधिक सामरिक महत्त्व का है जो समुद्र-तल से 480 मीटर की ऊँचाई पर बना है। दक्षिण से उत्तर की ओर प्लटू (पठार) का जैसा ढाल स्पष्ट दिखाई देता है। इस प्रकार उपरोक्त तीनों द्वार के मध्य ईटानगर स्थित है। यह ईटों का किला बड़ा मजबूत बना था और ऊँची-नीची पहाड़ियों के बीच में स्थित था जिसे सामरिक दृष्टिकोण से सुरक्षित माना गया। कहा जाता है कि असम के अहोम राजाओं और मुस्लिम आक्रमणकारियों की कुदृष्टि इस किले पर रहती थी जिसके कारण इस किले की बड़ी सामरिक एवं सुरक्षात्मक उपयोगिता थी इस किले के निर्माण में 66 विभिन्न आकार की ईटों का उपयोग हुआ था और लगभग 80 लाख ईटों का निर्माण इसके लिये किया गया था। इस पहाड़ी क्षेत्र में इतनी अधिक मजबूत ईटों का निर्माण निसन्देह बड़ा कठिन कार्य था और उसके बाद मिट्टी के गारे से ऐसे सुदृढ़ किले का निर्माण और भी कठिन रहा होगा। किले की दीवाल पाँच मीटर ऊँची थी और उसकी औसत मोटाई 1½ मीटर थी। शास्त्रीय वास्तुकला के अनुसार इसे एक अकृत्रिम किला कहा जायेगा जिसका कोई नियमित आकार नहीं होता है अर्थात् इसका आकार काफी प्राकृतिक था और ईटा दुर्ग होने के अलावा यहा एक गिरि-दुर्ग और वन-दुर्ग भी था।

दिनांक 11, 12 व 13 अक्टूबर में राज्य के सभी जिलाधिकारियों, पुलिस अधीक्षकों आदि की राजधानी में तीन दिन की बैठक बुलाई गई थी जिसे राज्यपाल महोदय एवं मुख्यमंत्री जी ने भी सम्बोधित किया। उन सभी अधिकारियों को राजभवन में दि. 12 अक्टूबर को रात्रि-भोज पर आमंत्रित किया गया था। हम दोनों भी उनके साथ रात्रि-भोज में आमंत्रित थे। भोजन के पूर्व अरुणाचल के मुख्य सचिव, गृह सचिव व अनेक जिला-अधिकारियों तथा पुलिस अधिकारियों से बात करने का अवसर मिला। उनसे बात-चीत के दौरान राज्य के बारे में बहुत सी जानकारी प्राप्त हुई। विशेषकर वहाँ की

प्रशासनिक, भौगोलिक व जनजाति विषयक तथ्यों की जानकारी। अनेक विकास-योजनायें राज्य में आरम्भ हुई हैं किन्तु वहाँ की प्रमुख समस्या है-गोहाटी से दूरी, दुर्गम पहाड़ी रास्ते, घने वन और पूँजी निवेश। अरुणाचल राज्य में न तो पूँजीपति पाये जाते हैं और न ही वहाँ के अधिकतर आदिवासी श्रमिक के रूप में काम करने को इच्छुक हैं। वहाँ पर सड़कों और भवनों के निर्माण-कार्य मैं नैपाली श्रमिक काम करते दिखाई दिये। अरुणाचल के निवासियों को खाने भर के लिये खेतों में अनाज पैदा हो जाता है। शेष खर्च पशुपालन व शाल-गलीचे आदि बनाने तथा हस्त-कला के उत्पाद बेंचने से चल जाता है। वैसे भी आदिवासी स्वभावतः बड़े महत्त्वाकांक्षी नहीं होते। आमोद-प्रमोद प्रिय होते हैं और खाने-पीने के शौकीन होते हैं। मैदानों के पूँजीपति उतनी दूर पहाड़ी क्षेत्र में पूँजी लगाने में उत्साहित नहीं हैं।

अरुणाचल के अधिकारियों से राज्य की शान्ति-व्यवस्था पर भी बात हुई। उनके द्वारा बताया गया कि राज्य के अन्दर कानून-व्यवस्था की समस्या नहीं हैं। इस राज्य में दर्जनों आदिवासी (कबीले) जातियाँ पाई जाती हैं जिनके क्षेत्र अलग-अलग होते हैं-अर्थात् एक जिले में एक या दो-तीन कबीले निवास करते हैं और उनके निवास के क्षेत्र अलग-अलग होते हैं। ये कबीले आपस में लड़ते नहीं- जो बड़ी अच्छी बात है। किन्तु पड़ोसी राज्यों में यह बात नहीं है। असम, मेघालय, नागालैण्ड आदि पड़ोसी राज्यों में एक कबीला दूसरे कबीले से सदैव युद्ध की स्थिति में रहता है और घात लगाकर शत्रु-कबीले के लोगों की नृशंस हत्या कर देता है तथा उनके घरों को आग लगाकर नष्ट कर देता है। कबीलों के इन द्वन्द्व-युद्धों में निर्दोष नारियों और बच्चों की भी निर्मम हत्या कर दी जाती है जिसे पढ़ व सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। ये कबीले बहुत पहले से एक-दूसरे से लड़ते रहे हैं किन्तु अरुणाचल के कबीले इस मामले में अपवाद हैं। काश! अरुणाचल की भाँति पड़ोसी राज्यों के कबीले भी आपस में शान्ति से रहना सीख लेते।

भोजन के लिए विशिष्ट अतिथियों को बैठकर भोजन कराने की व्यवस्था की गई थी और हम दोनों को भी उस सूची में शामिल कर लिया गया था। हमें राज्य के मुख्यमंत्री श्री गेगांग अपांग व अन्य मंत्रियों के साथ बिठाया गया था। अतः श्री अपांग जी व बगल में बैठे मंत्रियों से कुछ वार्तालाप करने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ। उनसे बात करके हम बड़े प्रभावित हुये। मेज़ पर उनका आचरण बड़ा सरल, शालीन और सभ्य था। सभी पैण्ट और शर्ट (कमीज़) पहने थे और अधिकांशतः युवा थे। यदि बताया न जाय तो देखने से पता नहीं चलता कि वे मंत्री हैं या अधिकारी। इसके विपरीत मैदानी राज्यों के मंत्रियों को दूर से देखकर पहचाना जा सकता है। उनकी वेश-भूषा अलग होती है और

वे प्रायः अलग बैठे दिखाई देते हैं और अधिकतर आपस में ही बातें करना प्रायः पसन्द करते हैं। उनसे चन्द बातें करने से ही आभास हो जाता है कि वे राजनेता हैं और अन्य लोगों से भिन्न हैं। भोजन के पश्चात् मुख्यमंत्री श्री अपांग ने राज्यपाल जी के द्वारा हमें अगले दिन (दिनांक 13 अक्टूबर) को अपने निवास पर रात्रिभोज के लिये आमंत्रित किया। 13 अक्टूबर को राज्य के प्रमुख अधिकारियों की उस बैठक का अन्तिम दिन था और मुख्यमंत्री जी ने रात्रिभोज के लिये उन सभी अधिकारियों और मंत्रियों को आमंत्रित किया था।

दिनांक 13 अक्टूबर

अगले दिन दिनांक 13 अक्टूबर को ईटानगर के पास स्थित 'ग्याकर सिन्यी' झील देखने का हमारा कार्यक्रम था। अतः नाश्ते के बाद में हम दोनों राजभवन के स्टाफ के साथ झील देखने को रवाना हुये। यह झील ईटानगर से पश्चिम लगभग 15 कि. मी. दूर है और एक प्राकृतिक झील है। ईटानगर कस्बे को पार करके वहाँ जाना पड़ता है। कस्बे का अधिकांश भाग सड़कों के किनारे बसा है और सभी दुकानें व मकान नये बने हैं क्योंकि अरुणाचल राज्य बनने के बाद ही इसकी राजधानी ईटानगर को बसाया गया। रास्ता पहाड़ी था किन्तु उतना अधिक उतार-चढ़ाव नहीं था जितना कुमायूँ और गढ़वाल में पाया जाता है। झील कुछ ऊँचाई पर स्थित है अतः गाड़ी को नीचे सड़क पर छोड़ कर सीढियाँ चढ़नी पड़ीं। ऊँचाई पर झील होने के कारण उसका जल निर्मल और स्वच्छ था। झील के चारों ओर घने व हरे वृक्ष थे। वृक्षों के पीछे छोटी पहाड़ियाँ फैली हैं जिससे झील की नैसर्गिक सुन्दरता बहुत बढ़ जाती है। झील में सैर करने हेतु चन्द नावें भी हैं और किनारे कई स्थानों पर बैठने की अच्छी व्यवस्था है जहाँ शैलानी लोग खाते-पीते और विश्राम करते हैं। वहाँ का वातावरण उस समय पूर्णतः शान्त था और पर्यावरण अत्यन्त आकर्षक, रमणीक तथा शुद्ध था। उस समय वहाँ कोई शैलानी नहीं मिले। केवल रख-रखाव वाले कर्मी दिखाई दिये। कदाचित ऐसा इसलिये था कि हम लोग पूर्वान्ह में ही वहाँ जल्दी पहुँच गये थे।

वापसी में ईटानगर का चिड़ियाघर देखा जो रास्ते पर ही पड़ता है। देश के अन्य महानगरों के चिड़ियाघरों के सामने इसे एक अपवाद ही कहा जायेगा। तथापि बच्चों के लिये यह चिड़ियाघर न केवल मनोरंजन का स्थान है बल्कि शिक्षाप्रद भी है। चन्द बाघ यहाँ रखे गये हैं। बन्दर और भालू आदि कुछ अन्य पशु भी हैं। कई प्रकार के पक्षी भी इसमें पाये जाते हैं। चिड़िया-घर का परिसर खुला और समतल न होकर पहाड़ी पर होने

के कारण ऊँचा-नीचा है। पशुओं और पक्षियों को बन्द कटघरों में रखा गया है। नीचे नदी बहती हैं जिसके किनारे घास चरते गैंडे को भी देखा जा सकता है। इसमें विभिन्न प्रजाति के पक्षियों व पशुओं के रखने की आवश्यकता है जिससे कि यह चिड़ियाघर के नाम को चरितार्थ कर सके और इसे देखकर दर्शक अपना अधिक मनोरंजन कर सकें। राज्य के सीमित साधन व पहाड़ पर स्थित इस स्थान को ध्यान में रखते हुये इसे अरुणाचल सरकार का एक अच्छा प्रयास कहा जायेगा। आशा है कि भविष्य में इसमें वांछित वृद्धि और उन्नति अवश्य होगी।

दिनांक 13 अक्टूबर की अपरान्ह हम दोनों अपने कमरे में विश्राम कर रहे थे कि चाय के समय राज्यपाल जी के अर्दली ने हमें सूचना दी कि महामहिम जी हम लोगों से हमारे कमरे में मिलना चाहते हैं। मिलने का प्रयोजन नहीं बताया गया। हमने अर्दली के माध्यम से उत्तर भेजा कि महामहिम जी को ऊपर से उतर कर इसके लिये कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। हमीं लोग ऊपर आकर महामहिम जी से मिल लेंगे। किन्तु महामहिम जी की इच्छा नीचे आकर हमारे कमरे में हमसे मिलने की हुई। महामहिम जी की इस इच्छा का हमने सहर्ष स्वागत किया और उनके आगमन की उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगे। चन्द मिनटों में महामहिम जी हमारे कमरे में प्रविष्ट हुये। हमने उनका ससम्मान अभिवादन किया और चाय लाने का आदेश दिया। हमने विनम्रतापूर्वक राज्यपाल जी से कहा कि उन्होंने कष्ट क्यों किया-हमीं ऊपर आकर उनसे मिल लेते। राज्यपाल जी का उत्तर था-"आप लाग हमारे सम्मानित अतिथि हैं और हमारे राजभवन में प्रवास कर रहे हैं। अतः यह मेरा पुनीत कर्त्तव्य है कि मैं अपने अतिथियों की कुशलक्षेम उनके पास जाकर पूछूँ।" हमने आभार के साथ निवेदन किया "महामहिम जी! यह आपकी महानता है। आपने हमारे सुख-सुविधा की सभी आवश्यक व्यवस्था पहले से कर रखी है। यही नहीं, आपके सचिव भी हमारे कमरे में आकर हमारे सुख-सुविधा की व्यवस्था देखते रहते हैं। इतना सब होते हुये महामहिम जी स्वयं आकर हमारी देखभाल कर रहे हैं जिसे हम अपना परम सौभाग्य समझते हैं।" हम दोनों ने उन्हें इस कष्ट एवं कृपा के लिये हार्दिक धन्यवाद दिया। इस बीच चाय और नाश्ता आ गया। हम लोग चाय के साथ-साथ कुछ-कुछ बातें भी करते रहे। महामहिम जी ने हमसे जानकारी ली की ईटानगर के प्रवास में हमने क्या-क्या देखा? वापसी का क्या कार्यक्रम है और राज-भवन में हमें कोई असुविधा तो नहीं हुई? हमने उन्हें बताया कि राजभवन के कर्मी बड़े सेवाशील एवं अनुशासित हैं तथा उन्होंने हमारी अच्छी देख-भाल की है जिसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं। राज्यपाल जी ने बताया कि राजभवन के अधिकतर कर्मी अरुणाचल से बाहर

के निवासी हैं जो पूर्वी भारत, दक्षिण भारत, मध्य भारत और उत्तरी भारत के रहने वाले हैं। इस प्रकार से राजभवन ईटानगर में पूर्णरूप से राष्ट्रीय एकता पाई जाती है। इसके अतिरिक्त नेपाल के भी कुछ कर्मी वहाँ कार्यरत हैं। अन्त में राज्यपाल जी का कहना था कि उनके पाँच वर्ष के कार्यकाल में राजभवन के कर्मियों ने उन्हें कोई शिकायत का अवसर नहीं दिया।

13 अक्टूबर की रात को हमें मुख्यमंत्री के आवास पर रात्रिभोज के लिये ले जाया गया जहाँ राज्य के सभी जिला मजिस्ट्रेट, पुलिस अधीक्षक एवं मुख्य सचिव समेत राज्य सरकार के सभी वरिष्ठ अधिकारी आमंत्रित थे। इनके अलावा राज्य-मंत्रिमण्डल के सभी सदस्य भी आमंत्रित थे। मुख्यमंत्री जी का आवास कस्बे के दूसरे छोर पर ऊँचाई में स्थित है जबकि राजभवन एक छोर पर ऊँचाई में लगभग 7-8 किलोमीटर की दूरी पर बना है। यह मुख्यमंत्री जी का सरकारी आवास था जो नया बना है और बड़ा खुला हुआ है। एक किनारे पर भव्य आवास बना है और दूसरे किनारे पर मुख्यमंत्री जी का कार्यालय है जिसमें कई बड़े कमरे भी हैं जहाँ मंत्रिमण्डल की प्रायः बैठकें की जाती हैं। जिस समय हम उनके यहाँ पहुँचे, मंत्रिमण्डल की बैठक चल रही थी। बीच में बहुत बड़ा खुला स्थान बना है जिसमें सुन्दर उद्यान बनाया गया है। मध्य में राष्ट्रीय ध्वज का स्थान बना है। उद्यान हरा-भरा था और रंग-बिरंगे मौसमी फूलों से शोभायमान था। परिसर के एक किनारे पर जनता से मिलने का कक्ष बना था जो अधिकांशतः खुला था। रात्रिभोज की व्यवस्था उसी स्थान पर की गई थी।

मुख्यमंत्री जी के आवास पर राज्य के वरिष्ठ अधिकारियों द्वारा हमारी अगवानी की गई। भोज में अनेक अधिकारियों की पत्नियाँ भी आई थीं जिनमें कुछ उत्तर प्रदेश की थीं। वहाँ पहुँचते ही मेरी पत्नी ने महिलाओं के मध्य अपना स्थान ग्रहण किया और मैंने कुछ दूरी पर अधिकारियों के बीच एक कुर्सी सम्भाली। सभी अधिकारियों ने मुझसे मिलकर अपना-अपना परिचय दिया। मैं उनके मध्य इसलिये विशिष्ट स्थान रखता था क्योंकि मैं उन सबमें बुजुर्ग (वरिष्ठ) था और राज्यपाल जी का अतिथि था। भोज में संगीत व मनोरंजन की भी व्यवस्था की गई थी। मनोरंजन-कार्यक्रम के संचालक बड़ी अच्छी उर्दू बोल रहे थे। मैंने सोचा कि वह उर्दू भाषी होंगे और बाहर से आये होंगे किन्तु मुझे तब आश्चर्य हुआ जब यह बताया गया कि वह वहीं के निवासी हैं किन्तु चण्डीगढ़ में अपनी शिक्षा पाई है। संचालक के अतिरिक्त अन्य कलाकार भी बड़ी अच्छी हिन्दी-उर्दू बोल रहे थे जबकि उनमें से अधिकांश कलाकार स्थानीय थे। इसका कारण यही था कि अरुणाचल में आरम्भ से ही हिन्दी बोली और पढ़ी जाती है। कई युवा कलाकारों ने उर्दू और हिन्दी

भाषा में बड़े रोचक व रमणीक कार्यक्रम प्रस्तुत किये। थोड़ी देर बाद मंत्रिमण्डल की बैठक समाप्त होने पर मुख्यमंत्री जी अपने मंत्रियों सहित भोज में शामिल हो गये। मुख्यमंत्री जी सर्वप्रथम हमारे पास आए और देरी से आने पर खेद प्रकट किया तत्पश्चात् हमारा परिचय अपने मंत्रियों से कराया। उन दिनों उनकी पत्नी ईटानगर में नहीं थीं अतः बीच-बीच में उठकर उन्हें भोज की व्यवस्था देखने हेतु भी जाना पड़ता था।

भोजन के पूर्व अनेक प्रकार के पेय पदार्थ अतिथियों को प्रस्तुत किये जा रहे थे। अधिकारी और मंत्री दोनों साथ बैठकर मदिरा-पान कर रहे थे। मंत्री युवा थे और पैण्ट-शर्ट (कमीज़) पहने थे। अधिकारीगण भी पैण्ट-शर्ट में थे। अतः पहनावे से पता नहीं चलता था कि कौन मंत्री है और कौन अधिकारी। विदेशी मदिरा के साथ स्थानीय मदिरा (अपोंग) भी परोसी जा रही थी। अपोंग को वहाँ के निवासी अपने घर के अन्दर स्वयं बना लेते हैं जिसके लिये उन्हें किसी परमिट (अनुज्ञप्ति) की आवश्यकता नही होती। जव मुख्यमंत्री मेरे साथ बैंठे थे तो हमें भी दोनों प्रकार की मदिरा पेश की गई। मैंने मदिरा-पान से मना कर दिया तो मुख्यमंत्री जी ने स्वयं अपोंग का गिलास मुझे पेश किया और उसे पीने का मुझसे आग्रह किया। वह स्वयं भी अपोंग पी रहे थे। मुझे ज्ञात था कि उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के लोग यदि खाने-पीने का काई पदार्थ पेश करें तो उसे मना नहीं करते वरना वे दुखी होते हैं और क्रुद्ध भी हो सकते हैं। अतः मुख्यमंत्री जी को खुश रखने के लिये अपोंग भरा गिलास उनसे स्वीकार कर लिया और उसे ओंठों से लगाकर चखा। उसका स्वाद मुझे रुचिकर नहीं लगा जबकि वह उसकी सराहना किये जा रहे थे। ऐसी स्थिति में मैं उनके सम्मुख अपोंग पीने का केवल नाटक करता रहा। उस समय मुख्यमंत्री जी से मेरी औपचारिक बातें होती रहीं।

बातचीत के दौरान वह मेरा परिचय एक-एक करके अपने मंत्रियों से कराते रहे। उन्होंने मुझे वहाँ बड़ा आदर करके मुख्य अतिथि का स्थान दे रखा था जो हमारे लिये गौरव और सम्मान की बात थी। इस सबके लिये में मुख्यमंत्री जी का आभारी और कृतज्ञ था। बीच-बीच में वह उठकर अन्य अधिकारियों से बातें करने चले जाते थे किन्तु थोड़ी देर बाद मेरे पास फिर वापस आ जाते थे। उनकी इस महानता एवं शालीनता ने हमें अत्यधिक प्रभावित किया। मरी दृष्टि मुख्यमंत्री जी के ऊपर अनायास बनी रहती थी। भोज-व्यवस्था का संचालन वह स्वयं कर रहे थे जबकि उसे देखने हेतु वहाँ उनके अधिकारियों व सेवकों की कमी नहीं थी।

भोजन के पूर्व मधुर संगीत का कार्यक्रम चलता रहा। कई अधिकारियों और मंत्रियों ने भी मंच पर गीत गाये। मंच-संचालक अधिकारियों के साथ मंत्रियों को गाने के लिये

ऐस बुला रहे थे जैसे वह साथी अधिकारियों को बुला रहे हों। इस प्रकार वहाँ मंत्रियों एवं अधिकारियों के बीच कोई दूरी या अन्तर नहीं दिखाई देता था जिसे लोकतंत्र और शासन-तंत्र की अच्छी परम्परा कहा जाना चाहिये गायन और वादन साथ-साथ नृत्य के कार्यक्रम भी चल रहे थे और हास्य विनोद के लिये बड़े रोचक चुटकुले पेश किये जा रहे थे। कई अधिकारी और मंत्री मिलकर नृत्य कर रहे थे और झूम-झूम कर मस्ती के साथ नाच हो रहा था। थोड़ी देर में मुख्यमंत्री जी भी उस नृत्य में शामिल हो गये। उनके शामिल होने से तो उस नृत्य में चार चाँद लग गये। नृत्य करते हुये मुख्यमंत्री एक दक्ष नर्तक दिखाई दे रहे थे। गौरवर्ण के सुन्दर व्यक्तित्व वाले श्री गेगांग अपांग नृत्य करते हुये और भी सुन्दर लग रहे थे। संगीत के लय के साथ वह नीचे की ओर जहाँ अपने पैर नचा रहे थे वहीं वह ऊपर की ओर दोनों हाथों की अँगुलियों को ऐसे थिरका रहे थे जैसे कोई कुशल नर्तकी नाच रहीं हो। बड़ी देर तक मुख्य मंत्री जी नृत्य में लीन होकर हम सबका भरपूर मनोरंजन करते रहे। मैं तो उनके नृत्य को देखकर इतना मंत्र-मुग्ध था कि कभी ठुमकते हुये उनके पैरों को देखता था तो कभी उनकी थिरकती हुई अँगुलियों को। ऐसा प्रतीत होता था कि उनकी अँगुलियाँ नाच करने में हवा में तैर रही हों। जब तक वह नाचते रहे-मैं निरन्तर अपनी पत्नी से उनके नृत्य की हार्दिक प्रशंसा करता रहा और अन्य नर्तकों के ऊपर से दृष्टि हटाकार मुख्यमंत्री जी के ऊपर ही अपनी दृष्टि गड़ाये रखी। ऐसा था मुख्यमंत्री जी का आकर्षक व्यक्तित्व और उनका मनमोहक नृत्य।

मुख्यमंत्री के नृत्य के बाद भोजन के लिये सभी लोगों को भोज-कक्ष ले जाया गया जहाँ सामिष और निरामिष दोनों प्रकार के भोजन की व्यवस्था थी। अधिकांशतः लोगों ने सामिष भोजन लिया। भोजन स्वादिष्ट था और विविध प्रकार के व्यंजन भोज में परोसे गये थे। जब तक हम सबने भोजन किया मुख्यमंत्री जी व उनके सहयोगी मंत्री अतिथियों को खिलाने में लगे रहे। मेरे पास तो कई बार मुख्यमंत्री जी स्वयं आये और अपने हाथों मुझे कई व्यंजन परोसे। मुझे बताया गया कि मुख्यमंत्री जी सभी अतिथियों को खिलाने के बाद ही भोजन करते हैं और अन्त में अपने कार्यकर्ताओं और सेवकों के साथ भोजन लेते हैं। मुख्यमंत्री जी द्वारा प्रस्तुत ऐसा आदर्श हम सब के लिये अति अनुकरणीय है। भरपेट भोजन करने के बाद मुख्यमंत्री जी को हमने हार्दिक धन्यवाद व साधुवाद दिया और उनसे विदा ली।

दिनांक 14.10.98

अपनी यात्रा के कार्यक्रम के अनुसार हमें 14 अक्टूबर की शाम तक गौहाटी पहुँचना था और 15 अक्टूबर की प्रातः छः बजे वहाँ से राजधानी एक्सप्रेस द्वारा कानपुर के लिये

रवाना होना था। अतएव हम लोगों ने अपना सामान एकत्र करके बाँधा और ऊपर जाकर राज्यपाल जी के साथ नाश्ता किया। राजभवन के स्टाफ ने कुछ भोजन पकाकर हमारे रास्ते के लिये भी रख दिया। नाश्ते के बाद राज्यपाल जी हमें बैठक के कमरे में ले गये। हम दोनों ने उन्हें उत्कृष्ट कोटि के अतिथि-सत्कार हेतु हार्दिक धन्यवाद दिया और विदाई की अनुमति चाही। उन्होंने भी हमें इसलिये धन्यवाद दिया कि कुछ दिनों के लिये हमने उनका राजभवन आबाद किया और उन्हें सत्संग दिया। विदा करते समय उनके द्वारा हमें एक नागाशाल और रंग-बिरंगा जैकेट भेंट किया गया-शाल मेरी पत्नी को और जैकेट मुझे। कढ़ाईदार उस जैकेट को वहाँ के निवासी ऊपर से पहनते हैं जो देखने में बड़ा आकर्षक दिखाई देता है। उत्तम आतिथ्य के ऊपर हम इस सुन्दर भेंट से अत्यन्त अभिभूत हुये। उसी समय अरुणाचल के मुख्यमंत्री श्री अपांग के सचिव भी उनकी ओर से दो नागा शाल लेकर उपस्थित हुये और मुख्यमंत्री जी की ओर से हमें सप्रेम भेंट किया जिस पर हम दोनों बड़े द्रवित हुये और उन्हें हार्दिक धन्यवाद दिया। राज्यपाल जी को तो हम बरसों से जानते थे किन्तु श्री अपांग से हम केवल दो बार ईटानगर में ही मिले थे ओर उन दो मुलाकातों में ही उन्होंने हमें इतना प्रभावित किया था।

राज्यपाल जी से विदा लेकर हमने उनके स्टाफ से भी सधन्यवाद विदा ली जिन्होंने हमारे राजभवन-प्रवास के दौरान हमारी पूरी देखभाल की थी। और हमें बड़ा सुख व आराम दिया था। हमारे मना करने पर भी राज्यपाल जी ने अपने सचिव श्री खुल्बे आई. ए. एस. को हमारे साथ हवाई अड्डा नाहरलागुन तक भेजा था। श्री खुल्बे ने गौहाटी और ईटानगर में हमारी बड़ी अच्छी देखभाल की थी और हमारी सुख-सुविधा का ध्यान रखा था। वह भी नैनीताल (उत्तरांचल) के ही रहने वाले थे। नाहरलागुन जाकर हेलीकाप्टर की कुछ देर प्रतीक्षा करनी पड़ी क्योंकि मुख्यमंत्री जी उसी हेलीकाप्टर से सुबह अपने राज्य के एक जिले के दौरे पर गये थे। हेलीकाप्टर में अन्य यात्रियों के अतिरिक्त हमारे साथ अरुणाचल के एक मंत्री और एक सासंद भी थे। दोनों बड़ी अच्छी हिन्दी बोलते थे। मंत्री महोदय ने तो चण्डीगढ़ और दिल्ली में शिक्षा पाई थी। उनके साथ हवाई अड्डे पर समय अच्छा कट गया। मंत्री जी के बच्चे देहरादून में पढ़ते हैं। उनसे पता चला कि उन्हें निजी और सरकारी काम से दिल्ली प्रायः जाना पड़ता है। हमने उनसे पूछा कि अरुणाचल के स्वच्छ एवं शुद्ध पर्यावरण के बाद दिल्ली का प्रदूषित पर्यावरण कैसा लगता है। उनका उत्तर था कि दिल्ली की सड़कों में सफर करने से उनके चेहरे पर न केवल धुयें की परत जम जाती है बल्कि जलन होने लगती है अतः अरुणाचल भवन पहुँचते ही सर्वप्रथम मुख को ठण्डे जल से धोना पड़ता है। इसके विपरीत अरुणाचल में न धुआँ है

और न ही कोई प्रदूषण। सर्वत्र शुद्ध और नैसर्गिक पर्यावरण है जो तन, मन और आत्मा तीनों को शीतलता देता है।

मध्यान्ह दोपहर को हम गौहाटी हवाई अड्डा पहुँच गये और वहाँ से लगभग एक घण्टे में ब्रह्मपुत्र होटल के कमरे में प्रवेश किया। उस दिन हमें गौहाटी में रुकना पड़ा क्योंकि अगले दिन प्रातः कानपुर के लिये ट्रेन पकड़नी थी। होटल पहुँचते ही श्री हक, निदेशक, स्थानीय निकाय, असम को फोन किया क्योंकि तब तक वे अवकाश से गौहाटी वापस आ गये थे। मेरी पत्नी को असम की हस्तकला व हथकरघे की कुछ वस्तुयें लेनी थीं अतः श्री एवं श्रीमती हक की सहायता लेना उचित समझा। वह अपरान्ह तीन बजे दोनों आ गये और उनके साथ राज्य निर्वाचन आयोग असम के सचिव श्री महतो भी वाहन के साथ आये। मैं तो उनके साथ बाज़ार न जाकर होटल में विश्राम करता रहा किन्तु मेरी पत्नी उनके साथ बाज़ार गईं। वहाँ उन्होंने पहले राज्य सरकार की दुकान देखी जहाँ पर वहाँ की हस्तकला और हथकरघे की वस्तुयें बिकती हैं। सरकारी दुकान के पास की बाज़ार में उन्होंने कुछ निजी दुकानें भी देखी क्योंकि उनमें कम मूल्य पर वही वस्तुयें बिकती हैं। श्रीमती हक और श्री महतो की सहायता से मेरी पत्नी ने वहाँ हथकरघे की बनी साड़ियाँ, दुपट्टे (सूती) खरीदे। सफेद दुपट्टों में लाल रंग का फूलदार किनारा था। वहाँ के लोग इन दुपट्टों को कुर्ते के ऊपर कन्धे के दोनों और डालते हैं जो देखने में सुन्दर लगते हैं। इन्हें गमछा भी कहते हैं। इनके अलावा मेरी पत्नी ने बाँस की बनी कई सुन्दर डलियाँ खरीदीं जो सींक से भी पतली बाँस की शलाकाओं से बनी थीं और बड़ी हल्की थीं। बाँस के ही बने दीवाल पर लगाने वाले हैट खरीदे जिन पर रंगीन फूल-पत्ती आदि बने थे। बाँस-शलाकाओं से निर्मित बड़े हल्के और छोटे-छोटे झूले भी लिये जिन पर देवी-देवताओं के छोटे चित्र व मूर्ति रखकर पूजा-कक्ष की उनसे शोभा बढ़ाई जा सकती है। असम का रेशम व वहाँ की चाय विख्यात है अतः कुछ रेशमी कपड़ा और चाय भी खरीदी-इत्यादि। खरीदारी से वापस आकर सभी लोगों ने मेरे साथ चाय पी। हम दोनों ने श्रीमती हक और श्री महतो को बड़ा धन्यवाद दिया क्योंकि उनके रहने से मेरी पत्नी को सही सामान उचित मूल्य पर मिल गया। उनके साथ जाने से बड़ा समय बच गया। और उनके स्थानीय व्यक्ति व अधिकारी होने के कारण मेरी पत्नी को बड़ी सुविधा भी हुई। वैसे वहाँ के लोग हिन्दी समझते हैं विशेषकर दुकानदार। किन्तु फिर भी बोली से वे तुरन्त जान लेते हैं कि बाहर से आये हैं और वस्तुओं का मूल्य बढ़ाकर बताते हैं। चलते समय श्री हक ने भी मुझे एक असमी गमछा भेंट में दिया और श्रीमती हक ने मेरी पत्नी को कुछ प्रसाधन-सामग्री दी जिसके लिये हम दोनों ने बहुत-बहुत धन्यवाद दिया। बाज़ार से आने के बाद हम लोग कहीं नहीं गये और रात्रि-भोजन करके जल्दी सो गये।

दिनांक 15.10.98

15 अक्टूबर की प्रातः हम रेलवे स्टेशन गौहाटी पहुँच गये। अरुणाचल सरकार के अधिकारी व श्री महतो हमें स्टेशन छोड़ने आये थे। राजधानी एक्सप्रेस से हमें कानपुर जाना था। ट्रेन चलने के पूर्व हमने उक्त अधिकारियों को धन्यवाद दिया और उनसे विदा ली। ठीक छः बजे सुबह ट्रेन चल दी। इस बार दिन का समय था अतएव रास्ते में असम व बिहार राज्य की खूब हरियाली देखने को मिली। कहीं अन्त न होने वाले हरे-भरे धान के खेत चारों ओर दिखाई देते थे। खेतों के बीच में कहीं-कहीं केलों और नारियल के वृक्षों के झुण्ड के झुण्ड खड़े मिलते थे। आम, कटहल और सुपाड़ी आदि के भी पेड़ बड़ी संख्या में सर्वत्र दिखाई देते थे। खेतों के बीच-बीच तालाब और पोखरे दिखते थे जहाँ मछली-पालन किया जाता है। वहाँ के प्रायः सभी लोग चावल के साथ मछली बड़े चाव के साथ खाते हैं। इस ट्रेन में मधुर संगीत की रेलवे द्वारा व्यवस्था की गई है जिससे यात्रियों का मनोरंजन बड़ा अच्छा होता रहता है। रास्ते भर ट्रेन की ओर से समय-समय पर नाश्ता दिया गया, चाय, काफी, सूप आदि पेय पीने को मिले। सामिष और निरामिष दोनों प्रकार के अच्छे भोजन की व्यवस्था थी जिससे यात्रा बड़े सुख व आराम के साथ कटी।

दिनांक 16.10.98

दिनांक 16 अक्टूबर को प्रातः हम कानपुर ठीक समय से पहुँच गये। कानपुर उतर कर हम मोटरकार द्वारा लखनऊ के लिये रवाना हुये और सुबह सात बजे अपने घर (ए-493, इन्दिरानगर) पहुँचे। अपने घर सुखद यात्रा के बाद सकुशल पहुँच गये जिसके लिये ईश्वर को धन्यवाद दिया। घर वापस आने पर ऐसा लग रहा था जैसे बहुत दूर से हम बहुत दिनों के बाद घर वापस आये हों। देश के सुदूरपूर्व कोने से तो हम वापस लौटे थे किन्तु बहुत दिनों के बाद नहीं। हाँ रेलगाड़ी, मोटर और वायुयान के आविष्कार के पूर्व हमारे पूर्वज, यदि कामरूप और अरुणाचल की यात्रा जब करते होंगे तो उन्हें कई माह लगते होंगे। हम लोग कितने भाग्यशाली हैं कि इस वैज्ञानिक युग में विज्ञान द्वारा जो चमत्कार किये गये हैं उनका पूर्ण लाभ एवं आनन्द हमें मिल रहा है। अतएव ईश्वर के बाद विज्ञान को भी इस यात्रा के लिये धन्यवाद दिया।

निशी (निशिंग)

अरुणाचल राज्य में 26 प्रमुख जनजातियाँ पाई जाती हैं, जिनमें निशी या निशिंग एक मुख्य जनजाति है। इस राज्य की सीमायें पश्चिम में भूटान, उत्तर में चीन पूर्व में म्यानमार (वर्मा) और दक्षिण में असम से मिलती हैं। अरुणाचल में बसने वाली सभी जनजातियाँ मंगोल प्रजाति की है। अन्य मंगोल प्रजाति की भाँति निशी जनजाति के लोग भी पीले-गोरे रंग के होते हैं, इनकी नाक चिपटी होती है और आँखें छोटी होती हैं। चेहरे कुछ चौड़े होते हैं, और मूँछों के बाल कम होते हैं। जब अरुणाचल असम राज्य का एक अंग था तब निशी डफला नाम से भी जान जाते थे। ''डफला'' एक कठोर एवं अपमानजनक शब्द है जिसका निशी लोगों द्वारा विरोध व बहिष्कार किया गया। अरुणाचल अलग राज्य बनने के बाद से अब ''डफला'' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता है। निशी जाति मुख्यतः तीन भागों में विभक्त है (I) दोपुम (II) दोदुम और (III) दोल। यह विभाजन इनके तीन प्रमुख पूर्वजों के नाम पर हुये हैं।

अरुणाचल को पहले ''नेफा'' (नार्थ ईस्ट फ्रांटियर एजेंसी) नाम से जाना जाता था जिसका गठन दिनांक 20 जनवरी 1972 में हुआ था। नेफा केन्द्र द्वारा प्रशासित क्षेत्र होता था। दिनांक 20 फरवरी 1987 को इसे पूर्ण राज्य का दर्जा मिला और राज्य का नाम अरुणाचल रखा गया। इस राज्य में 13 जिले हैं और राज्य की कुल जनसंख्या सन् 1991 की जनगणना के अनुसार लगभग 9 लाख है। निशी जाति अधिकांशतः पूर्वी कमेंग, पापमु पारे और सुबंसिरी जिलों में पाई जाती है। सुबंसिरी जिले के निचले भाग में ही ये बसे हैं। इस जनजाति की कुल जनसंख्या लगभग साठ हजार बताई गई है। निशी अपने समूह के साथ गाँवों में निवास करते हैं। एक गाँव में चार से लेकर लगभग तीस घर तक होते हैं और इनके घर प्रायः बड़े होते हैं। प्रत्येक घर में एक से लेकर प्रायः बीस चौके तक होते हैं और एक चौका एक ही परिवार का होता है। इनके गाँव साधारणतया पूर्वतों पर बसाये जाते हैं किन्तु यह आवश्यक नहीं कि गाँव स्थान विशेष पर ही बसाये जायें। निशी लोग एक स्थान को छोड़कर नये स्थानों पर बस्ती बनाते रहते हैं। यही नहीं, गाँव का कोई भी परिवार इच्छानुसार अपना निवास-स्थान बदलता रहता है।

निशी समाज का सबसे छोटा अंग एक परिवार होता है, एक बड़े घर में कई परिवार निवास करते है। इनके घर परम्परागत ढंग से बाँस, लकड़ी और पत्तों द्वारा बनाये जाते हैं। यह घर रेलगाड़ी के डिब्बे की तरह लम्बे होते हैं मकान की निचली मंजिल खुली होती है जिसमें उनके मवेशी (पशु) बाँधे रहते हैं। इनके यहाँ चोरी का डर नहीं होता, अतः पशुओं के बाड़े में कोई ताला नहीं लगाया जाता है। निशी लोगों के मकानों के प्रवेश-द्वार

के साथ एक बरामदा अवश्य होता है जो बैठने के काम में लाया जाता है। इस बरामदे में ओखली भी एक कोने में देखी जा सकती है। जिसमें निशी नारियाँ धान कूटकर चावल निकालती हैं। इनके कोई-कोई घर बहुत बड़े पाये जाते हैं जिनके अन्दर साठ सदस्य तक रहते हैं। प्रत्येक घर स्वावलम्बी होता है और प्रत्येक परिवार अपने घरेलू काम-काज में स्वतन्त्र रहता है। प्रत्येक परिवार में एक मुखिया होता है जो परिवार का नियत्रण करता है और उसी के इशारे पर परिवार के सदस्य काम करते हैं। इनके समाज में न कोई राजा है और न ही कोई परिषद। तथापि ये समूह में रहते हैं और एक-दूसरे का सहयोग बहुत करते हैं।

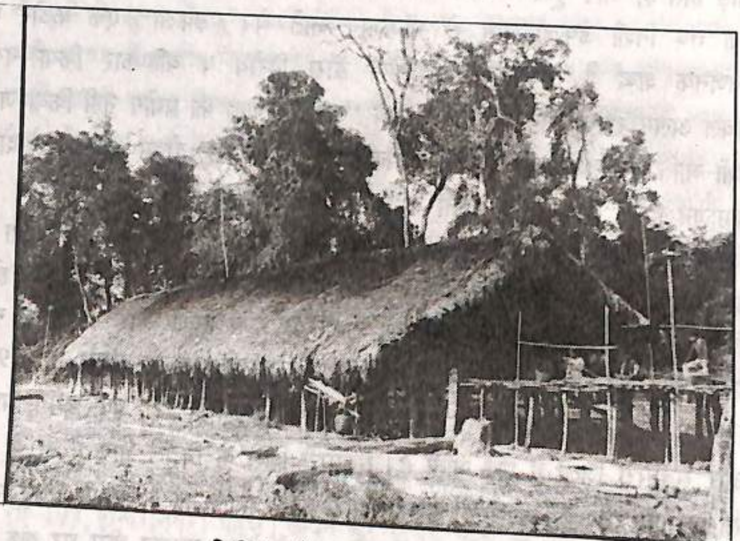

निशिंग (जनजाति) का मकान

पूरे अरुणाचल प्रदेश में भूमि और वनों की कमी नहीं है जिसके विपरीत वहाँ की जनसंख्या अति अल्प है। अतएव निशी लोग 'झूम' खेती करते हैं जैसा कि उत्तर-पूर्वी राज्यों के पर्वतीय क्षेत्र के किसान करते हैं। झूम-पद्धति के अन्तर्गत गर्मी के दिनों में वनों में आग लगा देते हैं जिससे वहाँ की घास-झाड़ियों आदि जल जाती हैं। वर्षा ऋतु आने पर खेतों में धान, मक्का, मडुवा आदि बोते हैं। अगले वर्ष वनों में आग फिर लगाते हैं और वर्षा होने पर वहाँ खेती करते हैं। एक ही भूमि पर ये लोग प्रति वर्ष लगातार खेती नहीं करते। इसी को झूम-खेती कहते हैं। इस पद्धति से वनों की बड़ी हानि होती है और वनों का क्षेत्र कम हो जाता है। खेती के काम में निशी लोग एक-दूसरे का सहयोग करते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि इनसे आपस में एकता और सहयोग की भावना है। यह लोग बड़े परिश्रमी किसान नहीं होते। झूम खेती द्वारा आसानी से इनके परिवार के

गुज़र-बसर भर का अन्न पैदा हो जाता है जिस पर यह सन्तुष्ट रहते हैं। अच्छी फसलों हेतु ये अपनी देवा-देवताओं की पूजा भी करते हैं और मंत्र पढ़ते हैं। इनमें इतनी अधिक सामूहिक और सामाजवादी प्रवृत्ति पाई जाती है कि यह अपने समस्त समूह के सदस्यों की अच्छी फसलों के लिये पूजा करते और मंत्र पढ़ते हैं। खेती के अतिरिक्त निशी अन्य व्यवसायों और भवन-निर्माण आदि कार्यों में भी एक-दूसरे का सहयोग करते हैं इस प्रकार इन्हें सही अर्थों में व्यावहारिक समाजवादी कहा जाना चाहिये।

खेती के साथ इनका दूसरा व्यवसाय, पशुपालन है। मुख्यतः निशी लोग मिथुन, गाय-बैल, भेड़-बकरी, सुअर और मुर्गी पालते हैं। यह लोग मांसाहारी होते हैं। अतः इन पशुओं का वध करके इनका मांस बड़े चाव से खाया जाता है। मिथुन, गाय, भेड़-बकरी, सुअर और मुर्गी पालन इनके द्वारा मुख्यतया मांस के लिये किया जाता है। गाय के दूध का सेवन इनके द्वारा अवश्य किया जाता है किन्तु भेड़-बकरी के दूध का सेवन इनके द्वारा नहीं किया जाता है। इनके पशु पालतू होकर भी वनों में स्वच्छन्द छोड़ दिये जाते हैं जहाँ उनकी चोरी का डर नहीं होता। ये लोग कभी-कभी अपने पशुओं को वनों से घर लाकर उन्हें नमक चटाते हैं और उसके बाद उन्हें फिर वनों में छोड़ देते हैं। दूध देने के कारण गाय का पशुओं में प्रमुख स्थान हो गया है। गाय खरीदने हेतु इन्हें असम के बाज़ारों में जाना पड़ता है जहाँ से यह अपनी आवश्यकताओं की अन्य वस्तुयें भी खरीद कर लाते हैं।

अरुणाचल की सभी जनजातियों की वेश-भूषा में कोई न कोई अन्तर अवश्य होता है। इनके वस्त्रों को दूर से देखकर बताया जा सकता है कि उसकी जनजाति क्या है। इसके अलावा वस्त्रों की विभिन्नता से उस जनजाति की विशिष्टता का भी पता चलता है। निशी पुरुष अधिकतर लंगोट पहनते हैं और कमर को चारों ओर से कम्बल या किसी कपड़े से लपेटे रहते हैं। कमर के ऊपर रंगीन कढ़ाईदार जैकेट भी पहने रहते हैं और सर्दियों में अपनी विशिष्ट टोपी भी लगाते हैं। कमर में दाव (छोटी तलवार) सदैव लटकी रहती है। इनकी नारियाँ कमर तक लुंगी पहनती हैं और लुंगी के ऊपर दरी या चादर या कम्बल लपेटकर घुटनों तक पहने रहती हैं। कमर के ऊपर कढ़ाईदार गहरे रंग का शाल डाले रहती हैं। नारियों की भाँति इनके पुरुष भी अपने तन के ऊपर शाल डाले रहते हैं। ये शाल घर पर बनाये जाते हैं और गाढ़े रंग के कढ़ाईदार होते हैं। निशी नारियाँ गहनों की शौकीन होती हैं। वे कमर में छल्ले पहने रहती हैं जिनमें धातुओं की प्लेट लटकी रहती हैं। इनकी नारियाँ रस्सी से अपनी पिण्डलियाँ बांधे रहती है। कलाईयों में धातु की चौड़ी पट्टीवाली चूड़ियाँ पहनती हैं और गले में मूँगे की माला पहनी जाती है।

कानों में बेंत या बाँस के बने सुन्दर कर्ण फूल निशी नारियाँ अवश्य पहने रहती हैं। पुरुष भी गले में मूँगों की अनेक माला पहने रहते हैं। निशी नर-नारी दोनों लम्बे बाल रखने के शौकीन हैं और दोनों अपने बालों का शृंगार करते हैं। पुरुष अपने केश पीछे घुमाकर ऊपर गांठ बांधते हैं जिसमें लोहे या पीतल के दो सूजे खोंसे रहते हैं। सिर पर बेंत का टोप लगाते हैं जिस पर धनेश पक्षी की चोच लगी रहती है। अनेक पक्षियों के बहुरंगी पंखों से भी अपने टोप को सजाते हैं। नारियाँ अपने बालों में चोटी बाँधती हैं। आधुनिक सभ्यता और प्रभाव में शिक्षित नारियाँ बाल कटाये रहती हैं। कस्बों और उनके पास की नारियाँ भी बाल कटाने लगी हैं।

निशी शब्द का अर्थ होता है- बहादुर, जो युद्ध-कौशल मे निपुण हों। इनके प्रमुख हथियार-दाव, धनुष-बाण व भाला होते हैं जिनके द्वारा ये बड़े से बड़े पशु को मार गिराते हैं। लड़ाई के समय यह अपने सीने पर धातु का कवच पहनते हैं जिससे सीने की रक्षा होती है। पीठ पर एक वृक्ष विशेष की छाल पहनते हैं जो काले रंग की होती है। इसके पहनने से पीठ की रक्षा की जाती है। लड़ाई में यह अपनी जान की परवाह न करके बड़ी वीरता व कुशलता के साथ युद्ध करते हैं और "यथा नाम तथा गुण" को चरितार्थ करते हैं। सामूहिक युद्ध में निशी लोग बड़े सहयोग से युद्ध करते हैं और सामूहिक सुरक्षा का बड़ा ध्यान रखते हैं। इनकी वीर-गाथायें बड़ी लोकप्रिय होती हैं जिन्हें सुनकर निशी युवकों में बड़ा जोश भर जाता है। ये लोग आपस में भी झगड़ा करते हैं और एक-दूसरे का वध तक कर डालते हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक गाँव में जो एक या दो मुख्य व्यक्ति होते हैं वे झगड़े का निपटारा करते हैं। इन प्रमुख व्यक्तियों को "न्याल्य" कहते हैं और जब यह मध्यस्थता करके झगड़ों का निपटारा करते हैं तो इन्हें बूत या गिंगडुंग कहते हैं। घरेलू झगड़ों के अलावा ये गाँव के झगड़ों का भी निस्तारण करते है। गिंगडुंग की सफलता तभी है जब दोनों पक्ष और गाँव वाले उसका निर्णय मान लें। यह अपना निर्णय किसी पक्ष पर थोप नहीं सकते। गिंगडुंग की सभा कई दिनों तक चलती रहती है। जिस प्रकार सेशन जज की अदालत सेशन के दौरान कई दिनों तक चलती है। सभा के दौरान दोनों पक्षों का वहाँ उपस्थित रहना आवश्यक है। गिंगडुंग द्वारा निर्णय में जो भी दण्ड निर्धारित होता हैं उसका भुगतान अभियुक्त को करना होता है। निशी-समाज की परम्परा है कि यदि कोई व्यक्ति कोई अपराध करे तो उसे ही उसकी क्षति-पूर्ति करनी पड़ेगी और गिंगडुंग द्वारा ऐसी क्षतिपूर्ति की व्यवस्था की जायेगी।

स्वभाव से निशी सहिष्णु और निष्कलंक होते हैं तथा व्यक्तिगत विचारों वाले होते हैं। इनमें अपनत्व की भावना प्रबल होती है और वंशगत या एक ही रक्त से उत्पन्न

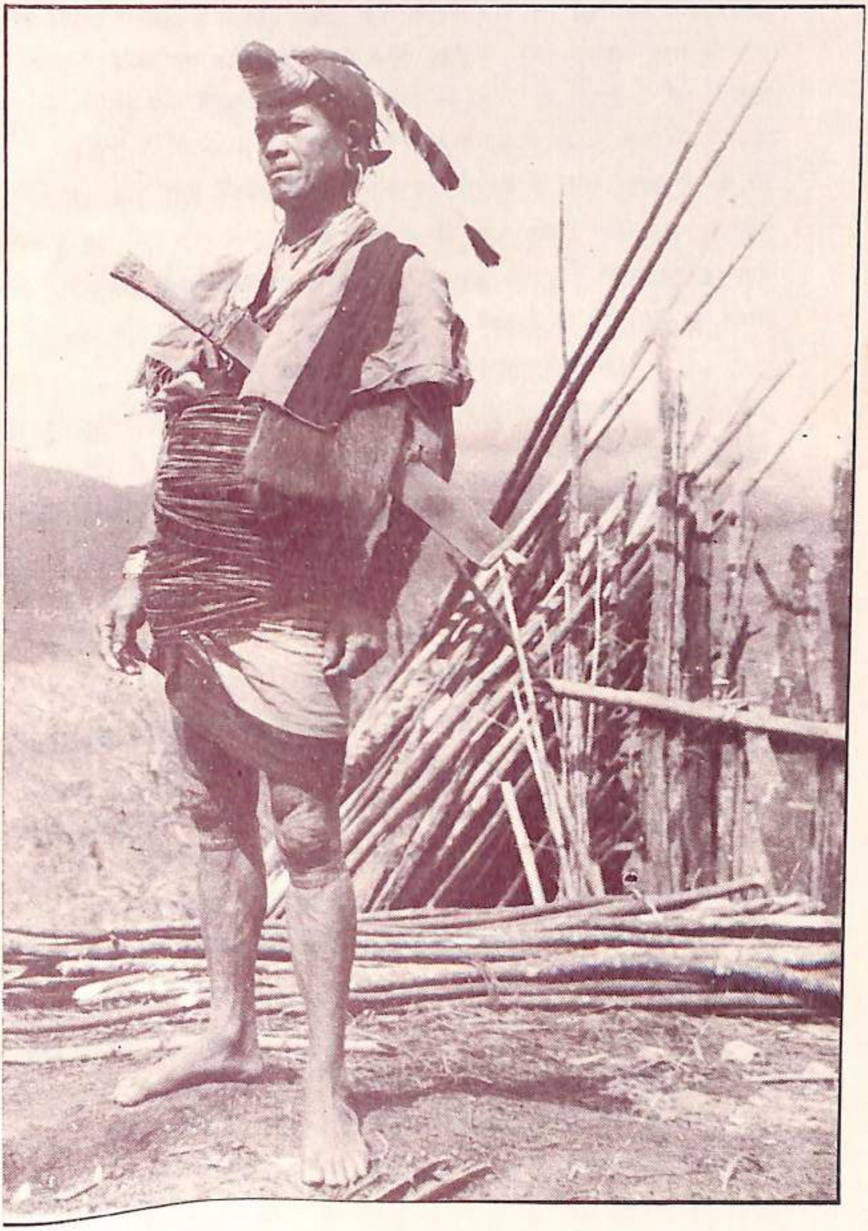

निशिंग पुरुष (अपनी पारम्परिक वेशभूषा में) अरुणाचल

व्यक्ति को ये अपना समझते हैं। किसी व्यक्ति द्वारा गलती करने पर वह गलती सामुदायिक नहीं मानी जाती है बल्कि वह व्यक्तिगत गलती मानी जाती है। इधर सरकार द्वारा भी गाँव के बड़े-बूढ़े को न्यात्स मान लिया गया है जिन्हें गाँव के विवादों के निस्तारण हेतु नियुक्त किया गया है। विवादों के निस्तारण के समय दूसरे गाँव के न्यात्स को भी बुला लिया जाता है जिससे निष्पक्ष और सही निर्णय लेने में सहायता मिलती है और पक्षकारों को भी भरोसा रहता है कि दूसरे गाँव के न्यात्स के रहते उनके साथ अन्याय नहीं होगा। सरकार द्वारा इनकी अवैतनिक नियुक्ति की जाती है किन्तु सरकार की ओर से न्यात्स को एक लाल रंग का कोट पहनने को दिया जाता है जिसे वह विवादों के निस्तारण के समय अवश्य पहनता है। यह कोट उनके पद का प्रतीक भी समझा जाता है।

अन्य जनजातियों की भाँति निशी जाति ने अपनी संस्कृति को सरंक्षित रखा है और इन्हें अपनी संस्कृति से बड़ा लगाव तथा प्रेम भी है। यह लोग दूसरा धर्म ग्रहण कर लेने पर भी अपनी संस्कृति का पूर्ण रूप से त्याग नहीं करते। वही वेश-भूषा रखते हैं और पर्व-त्यौहार भी पहले की तरह मनाते रहते हैं। नृत्य और गीत के यह बड़े शौकीन होते हैं। नाच-गाने में निशी युवक और युवती दोनों मिलकर भाग लेते हैं। यह परम्परा इनमें सैकड़ों वर्षों से चली आ रही है। इनमें लोक-गाथायें अत्यन्त लोकप्रिय हैं जो इनके नृत्य और गीतों का आधार भी होती हैं। आपस में यह मैत्री और सद्भाव रखते हैं तथा एक-दूसरे के उत्सवों में पूर्ण रूप से खुलकर भाग लेते हैं। निशी लोग अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते हैं जिनमें शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के देवता होते हैं। इनकी पूजा में मिथुन की बलि चढ़ाई जाती है। अशुभ देवताओं की पूजा इसलिये की जाती है कि यदि वे कल्याण न करें तो अनिष्ट भी न करें।

निशी एक पितृसत्ता प्रधान जाति है और अन्य कबीलों की भाँति इनमें भी वंश और गोत्र पाये जाते हैं। शादी-विवाह यह अपने कबीले के ही अन्दर करते हैं। साधारणतया इनके यहाँ माता-पिता ही विवाह तय करते हैं तथापि प्रेम-विवाह का प्रचलन इनमें पाया जाता है। एक से अधिक विवाह करने की प्रथा इनमें परम्परागत है। पुरुष की भाँति नारी भी इनकी कुछ जातियों में एक से अधिक विवाह कर सकती हैं। अपनी सामर्थ्य के अनुसार पुरुष एक से अधिक विवाह करता है जिसकी कोई सीमा नहीं है। 3-4 पत्नी रखना इनमें कोई असाधारण बात नहीं हैं। आठ-दस विवाह करने वाले निशी भी पाये जाते हैं। अरुणाचल के पूर्व मुख्यमंत्री श्री गेगांग अपांग के भी तीन पत्नियाँ हैं। निशी लोगों में पुनर्विवाह और विधवा-विवाह का भी प्रचलन है। पति की मृत्यु हो जाने पर पत्नी अपनी इच्छा से मृतक पति के भाई के साथ पुनर्विवाह कर सकती है या किसी अन्य पुरुष

से भी विवाह कर सकती है। तलाक देने की प्रथा इनमें पूर्व से चली आ रही है। पति-पत्नी में से दोनों को तलाक देने का अधिकार है।

एक से अधिक पत्नी रखने वाला पुरुष आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न माना जाता है और शारीरिक रूप से पुरुषत्व में बलवान समझा जाता है। मकान के अन्दर प्रत्येक पत्नी का कक्ष अलग होता है और प्रत्येक पत्नी का चूल्हा अलग होता है। विवाह के बाद जब निशी नारियाँ अपने माता-पिता के घर जाती हैं तो साथ में अन्न. फल, मांस और अपोंग ले जाती हैं। इसी प्रकार जब माता-पिता अपनी बेटी की ससुराल जाते हैं तो खाली हाथ नहीं जाते। अर्थात् वे भी अपने साथ उपरोक्त वस्तुयें ले जाते हैं। यह बड़ी अच्छी प्रथा है जिसके द्वारा दोनों पक्षों में अच्छे सम्बन्ध बने रहते हैं। अपोंग को निशी अपने घर के अन्दर बना लेते हैं जिसके बनाने के लिये सरकार से किसी अनुमति की आवश्यकता नहीं होती। घर में बनाने से अपोंग महंगी नहीं पड़ती है अतः ये लोग इसे दिन में कई बार चाय की भाँति पीते रहते हैं। चूँकि अपोंग को चावल, मकई, मडुवा आदि अनाज से बनाते हैं अतएव इसके पीने से वह कोई हानि या खतरा नहीं समझते। तथापि इससे यह नहीं समझना चाहिये कि निशी अपोंग के अतिरिक्त अन्य कोई मादक पेय नहीं लेते। स्थानीय बाज़ारों में विदेशी शराब व ब्राण्डी अब् काफी बिकने लगी है। परिणामस्वरूप शिक्षित और सम्पन्न निशी वह शराब पीने लगे हैं। इस परिवर्तन को आधुनिक सभ्यता का एक अंग भी कहा जा सकता है जो इस परम्परागत समाज में धीरे-धीरे बढ़ता हुआ दिखाई दे रहा है।

मृत्यु के बाद शव दफन करने की प्रथा निशी जाति में पायी जाती है। मृतक के सगे-सम्बन्धी ऐसे दुख के समय एकत्र होते हैं और गाँव से दूर शव को दफनाने जाते हैं। कब्र के अन्दर मृतक का व्यक्तिगत सामान भी शव के साथ रखा जाता है जैसे मृतक के अस्त्र-शस्त्र, वस्त्र, बर्तन और कुछ खाने की सामग्री। पाँच दिन कब्र के पास मृतक का खाना घर से लाकर रखा जाता है। निशी लोगों में ऐसा विश्वास है कि पाँच दिन तक मृतक की आत्मा वहाँ खाना खाने के लिये आती है। पाँचवें दिन इनके द्वारा सामूहिक भोज दिया जाता है जिसमें नाच-गाना भी होता है। इस भोज में निशी लोग सामूहिक रूप से भाग लेते हैं। ऐसा करने से कदाचित मृतक के संतप्त परिवार का दुख व सन्ताप कम हो जाता है और बिरादरी में वह बट जाता है। इनमें जात-पाँत और छुआ-छूत नही पाई जाती है जिसके फलस्वरूप सुख-दुख के अवसर पर सब शामिल होते हैं और सामूहिक रूप से भाग लेते हैं।

निशी जाति की अलग से अपनी एक भाषा है, इनकी अपनी अलग बोली है जिसकी अपनी लिपि नहीं हैं। यह लोग हिन्दी अच्छी तरह समझते हैं और बोल भी लेते हैं, आपस में विचारों का आदान-प्रदान भी हिन्दी के माध्यम से करते हैं किन्तु अरुणाचल में रोमन

लिपि का प्रभाव है और यह हिन्दी भी रोमन लिपि से लिखते हैं। इनमें शिक्षा का ज्यों-ज्यों प्रचार बढ़ रहा है त्यों-त्यों हिन्दी का प्रयोग भी इनके द्वारा बढ़ रहा है। रोमन लिपि का प्रचार यहाँ ईसाई मिशनरी द्वारा ब्रिटिश शासन में किया गया था। अंग्रेजों के शासन-काल में ईसाई मिशनरियों द्वारा गाँवों तक में गिरजाघर बनाये गये, अस्पताल खोले गये और अंग्रेजी स्कूल आरम्भ किये गये। चूँकि इन मिशनरियों की भाषा अंग्रेजी थी और अंग्रेजी स्कूल इन क्षेत्रों में खोले गये थे अतः तभी से रोमन लिपि का प्रचलन उत्तर पूर्वी राज्यों में हुआ। आवश्यकता इस बात की है कि इनमें हिन्दी का प्रचार-प्रसार देवनागरी लिपि के माध्यम से हो। यही नहीं, इनकी बोली को भी देवनगरी लिपि में लिखा जाय जो इनके लिये अधिक सुविधाजनक होगा। हिन्दी को रोमन लिपि में लिखना सुविधाजनक नहीं होता। अरुणाचल के तत्कालीन राज्यपाल श्री माता प्रसाद ने इस दिशा में सराहनीय काम किया है। उनका सभी अवसरों पर ज़ोर देकर यही कहना था कि उत्तरी-पूर्वी राज्यों में हिन्दी देवनगरी लिपि में लिखी जानी चाहिये।

निशी जाति का जीवन सादगीपूर्ण एवं परम्परागत रहा है। इनके जीवन की अधिकतर वस्तुयें स्थानीय तौर से उपलब्ध की जाती हैं। असम से निशी क्षेत्र लगा होने के कारण निशी लोग असम के बाज़ारों से अपने दैनिक उपयोग की वस्तुयें खरीदते रहे हैं जैसे दाव, वस्त्र, वर्तन इत्यादि। वहाँ जाकर ये अच्छे वस्त्रों के पहनने का ढंग तथा आधुनिक बर्तनों व उपकरणों के उपयोग का ढंग सीखते हैं। असमी लोगों की जीवन-शैली से भी प्रभावित होकर इनमें आधुनिकता आने लगी है। वहाँ के बाज़ारों से थोक सामान लाकर अरुणाचल में इनके द्वारा बिक्री की जाती है और इस प्रकार अनेक निशी कुशल व्यापारी बन गये हैं। सरकार द्वारा भी इनके सर्वांगीण विकास के लिये अनेक योजनायें आरम्भ की गयी हैं। इनकी हर प्रकार से सहायता व पथ-प्रदर्शन हेतु सरकार वचनबद्ध है जो इनकी आकांक्षाओं की पूर्ति सही रूप से करती आई है। यहाँ तक कि इनकी संस्कृति के संरक्षण हेतु भी सरकार प्रयत्नशील है। सरकार चाहती है कि इनके परम्परागत रीति-रिवाजों और पर्व-त्यौहारों को नई उमंग एवं नये साधनों के साथ इनके सामूहिक जीवन में जीवित रखा जाये अर्थात् इनके सभी पर्व-त्यौहार धूम-धाम से मनाये जायें। बड़े सन्तोष की बात है कि पिछले कुछ वर्षो से इनमें राष्ट्रीय जागरण एवं राष्ट्रीय एकता की भावना ज़ोर पकड़ रही है। अब यह लोग अपने को भारत का अंग मानने लगे हैं। पहले यह भारतीयों को विदेशी मानते थे। सन् 1962 ई० में चीनी आक्रमण के बाद से बहुत से निशी युवक भारतीय सेना में भर्ती हुये हैं और अनेक सम्पन्न परिवारों के युवक अरुणाचल के बाहर के विश्वविद्यालयों व विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं जिससे इनमें राष्ट्रीय एकीकरण की भावना बढ़ती जा रही है। इसे बड़ा शुभ लक्षण कहा जायेगा।

न्योकुम (त्यौहार)

किसी भी समाज के लिये त्यौहार उसके जीवन का अंग होते हैं, जो समाज के सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। निशी जनजाति भी अन्य जनजातियों की तरह अनेक अवसरों पर अपने देवी-देवताओं की पूजा त्यौहार के रूप में करते हैं। न्योकुम बी की पूजा निशी बड़े उत्साह और कर्मकाण्ड से करते हैं। इस त्यौहार में न्योकुम देवता की स्तुति मानव-कल्याण और अच्छी फसल के दृष्टिकोण से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस जाति की अर्थ व्यवस्था अधिकांशतः कृषि एव पशुपालन पर निर्भर है। किसी भी पूजा के आरम्भ के पूर्व निशी अपने पुजारी (न्यिबू) से सर्वप्रथम पूजा का शुभ महूर्त पूँछते हैं जिसके लिये न्यिूब अपने हाथों में अण्डा और पक्षी लेकर कुछ मंत्रों का उच्चारण करते हुये पूजा का दिन निश्चित करता है पुजारी इसे आत्मा की राय से विस्तार के साथ निश्चित करता है। कहते हैं कि न्यिूब को अण्डे और पक्षी के माध्यम से ऐसे तथ्य दिखाई देते हैं जिसके द्वारा वह इस प्रकार के धार्मिक कार्यक्रम निश्चित करता है। अन्य जातियों को यह ज्ञान पंचांग (तिथि-पत्री) आदि द्वारा होता है।

न्योकुम दो शब्दों (न्यू+कम) को मिलाकर बना है। न्यूक का अर्थ समस्त धरती है और कम का अर्थ इकट्ठा करना होता है। पूजा का दिन एवं कार्यक्रम तय करने के बाद गाँव के लोग बड़ी उमंग और जोश के साथ अपोंग, चावल, मांस वस्त्र आदि की व्यवस्था में जुट जाते हैं। जिस प्रकार होली व विहू (असम) त्यौहारों की तैयारी बड़े उत्साह के साथ की जाती है उसी प्रकार निशी न्योकुम त्यौहारों की तैयारी करते हैं। पूजा आरम्भ करने के पूर्व निशी, न्यिबू और खासा न्यिबू का दल मिलकर मंत्रोच्चारण करते हैं। तत्पश्चात् पुजारी प्रत्येक द्वार पर अपने दल के साथ जाता है जहाँ उसे माँस, चावल, अपोंग आदि व्यंजन खाने को दिये जाते हैं। इस कार्यक्रम में बहुत दिन लग जाते हैं क्योंकि पुजारी को अपने दल के साथ प्रत्येक द्वार पर जाना होता है। उसके बाद पुजारी और सभी गाँव वाले पथ्यभोगी को वेश के साथ बाहर निकलने का काम बड़ी धूमधाम से करते हैं। इस पर्व में सभी ग्रामवासी एक ही रंग के वस्त्र पहनकर परम्परागत एक जुलूस में एकत्र होते हैं। पुजारी और पथ्यभोगी को विशेष ढंग से सजाया जाता है पुजारी गाँव के प्रत्येक घर से पिन्या, मासाप, व साम्प आदि वस्तुयें प्राप्त करता है जिन्हें पाहा में रखता है और उन्हें पीठ में लादकर पूजा-स्थल पर ले जाता है जिस प्रकार होलिका-दहन हेतु अपने-अपने घरों से सभी लोग विविध सामग्री होलीस्थल ले जाते हैं। पुजारी के हाथ में एक भाला भी होता है। गाँव वाले तोरी बाँस की कड़ी के ऊपर उसके छिलके से बने हुये अण्डे-पक्षी से बने फूल और धनुष-बाण लिये होते हैं। पथ्यभोगी जुलूस का नेतृत्व करता है और

जुलूस को पूजा-स्थल एवं बलिवेदी तक ले जाता है। प्रारम्भ में जुलूस मन्द गति से चलता है और सभी लोग आनन्दमय होकर चिल्लाते हैं। जो ईश्वर का प्रतीक बनता है वह भाले के साथ नाचता है और बालक उसके पीछे-पीछे शोर करते हुये खेलते हैं तथा आगे बढ़ते जाते हैं। जुलूस में नारियाँ परम्परागत गीत गाती हुई पंक्ति में पीछे-पीछे चलती हैं जो हाथों में अरोग व अर्चा (पूजा-सामग्री) लिये रहती हैं। पुजारी पूजा-गीत गाता चलता है। गाँव से बाहर जुलूस न्योकुम हापा (पूजा-स्थल) पहुँचता है जहाँ न्योकुम वी (देवता) की मूर्ति बाँस से बनाई जाती है। मूर्ति के ऊपरी भाग में बाँस के महीन छिलकों से बने फूल टंगे होते हैं और साथ में अनेक वृक्षों की पत्तियों व बारीक टहनियाँ टंगी रहती हैं।

पूजा-स्थल के पास बलि-स्थल भी होता है जहाँ मिथुन, सुअर, बकरे, पक्षियों आदि की बलि दी जाती है। बलिदान अनुष्ठान के समय भूइन्या नृत्य और रिवाम पादा नृत्य होना अनिवार्य है। जुलूस के सभी लोग हापा पहुँचकर "वी" की प्रार्थना करते हैं और पुजारी लोग मंत्र-पाठ के साथ स्तुति करते हैं। उस समय सभी वी (देवता) पूजे जाते हैं। तदुपरान्त एक पुजारी हापा (पूजास्थल) के उत्तर की ओर बाँस की एक छड़ी के ऊपर एक पक्षी रखकर मंत्र पढ़ता है। निशी लोगों का विश्वास है कि यदि पक्षी छड़ी के ऊपर फुदके तो वह ईश्वर के प्रसन्न होने का संकेत होता है और यदि पक्षी वहाँ पर न तो फुदके और न ही कोई आवाज दे तो समझो कि ईश्वर प्रसन्न नहीं है। पूजा-कार्यक्रम का वह क्षण बड़े आनन्द का होता है और प्रत्येक व्यक्ति परिणाम जानने का बड़ा उत्सुक रहता है। इसके बाद सभी लोग पास के मैदान में बैठ व लेटकर विश्राम करते हैं तथा आपस में रोचक बातें करके हर्षित होते हैं। जुलूस में आई सभी नारियाँ पूजा-सामग्री (इगिन, अपो और अर्चा) लिये हापा के पास खड़ी हो जाती हैं और पुजारी एक-एक करके उनके हाथों से पूजा-सामग्री लेकर प्रधान देवता को अर्पित करता है तथा आशीर्वाद के साथ उन्हें लौटाता भी जाता है। यह क्रम दिन भर चलता रहता है।

पूजा-समापन के बाद शाम को पुजारी हापा से चला जाता है जबकि शेष सभी लोग वहाँ खाते-पीते और आनन्द मनाते हैं। अगले दिन रिया गामा किया जाता है जिसमें गाँव की नारियाँ सबेरे से ही अपनी-अपनी अर्चा व मो, हाश्च-आख के साथ वहाँ आती हैं। वहाँ वे बाँस व काष्ठ की मूर्ति पर पत्तियों को रखती हैं और फिर उनके ऊपर जल डालती हैं। उस समय पुजारी-मंत्र पढ़ता हुआ न्योकुम हापा की परिक्रमा करता है। पूजा के बाद न्योकुम हापा के बाँस के बने हुये फूलों को सभी नर-नारी अपने घरों में प्रसाद के रूप में ले जाते हैं। इस पूजा के पीछे प्रचलित कथा यह है कि निशी का ज्येष्ठ पुत्र आबोतानी बड़ा शक्तिशाली था। वह अपनी आँखों (निमदोरी) से वी को देख सकता था। एक बार कीबू और याबू वी आबोतानी से क्रुद्ध हो गये और उसे पकड़कर उसके शरीर

से उसकी शक्तिशाली आँख देने की माँग की जिसे उसने मना कर दिया। मना करने पर उसे इतनी यातना दी गई कि विवश होकर उसने होम खेमरी से निमदोरी ले लेने की स्वीकृति दे दी। वी ने उसकी निमदोरी को ले लिया जिसके कारण आबोतानी अस्वस्थ ओर निर्बल हो गया। पोयी ओर न्योयी बड़े पुजारियों ने आबोतानी को देखा और उसे न्योकुम वी की पूजा करने का परामर्श दिया। आबोतानी ने वैसा ही किया जिसके फलस्वरूप उसने अपनी शक्ति व सुखों को पुनः धान के लहलहाते पौधों के रूप में प्राप्त किया। तभी से निशी लोग वी की पूजा बड़े उत्साह व जोश के साथ करते आये हैं। तथापि इस पूजा के विधान में कुछ समय से काफी परिवर्तन देखने को मिल रहा है। जिसके कारण हैं (1) विभिन्न समुदायों एवं सम्प्रदायों से निशी लोगों की निकटता और (2) छात्रों में आधुनिक शिक्षा का प्रचार। परिवर्तन में अनके उपादान शामिल हो गये हैं। जिससे न्योकुम को कोई क्षति नहीं हुई है और विश्वास है कि भविष्य में भी निशी जनजाति इस त्यौहार को बड़े उत्साह व जोश के साथ मनाती रहेगी जो इनकी पावन एवं सम्पन्न परम्परा के रूप में अत्यन्त मूल्यवान धरोहर है।

सोलुंग

न्योकुम की भाँति सोलुंग भी निशी जनजाति का एक प्रमुख त्यौहार है जिसे सुबन्सिरी जिले के सारली, हूरी, कोलोरियांग और ताली क्षेत्र में रहने वाले निशी मनाते हैं। इस जाति के जीवन में इस त्यौहार का बड़ा धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक महत्व होता है। खेतों में फसल बोने के पूर्व इस पर्व का आयोजन इस उद्देश्य से किया जाता है कि फसल अच्छी हो तथा उनका पारिवारिक व सामाजिक जीवन सुखमय रहे। ताली क्षेत्र में बाग्जाम इस पूजा को मनाते हैं। हुरी क्षेत्र के लोग इस पर्व में देवता से प्रार्थना करते हैं कि जंगली पशुओं से उनकी फसल की रक्षा हो एवं परिवार के सभी सदस्य देवी-प्रकोप, बाह्य आक्रमण तथा अपरहण से बचे रहें। विशेषकर बालिकायें और नारियाँ, और सभी स्वस्थ रहें।

इस त्यौहार में पूजन का दिन न्यीबू (पुजारी) द्वारा शुभ मुहूर्त देखकर मार्च-अप्रैल माह में निश्चित किया जाता है। निशी लोगों में ऐसा विश्वास है कि कुत्ते का माँस खाने वाले इस पर्व का नहीं देख सकते। इस जाति का दोदुम समूह कुत्ते का माँस नहीं खाता अतः वह इस त्यौहार को बड़े धूमधाम से मनाता है। निशी के अलावा यह पर्व चन्द अन्य जनजातियों द्वारा भी मनाया जाता है जैसे ताकिसन की ना और निमे (तिबतिन) द्वारा। ना इस सीजी और निमे इस लुसार नाम से भी कहते हैं। पर्व के प्रथम दिन सभी लोग मूल्यवान रंगीन वस्त्र धारण करते हैं और अपने घरों को सजाते हैं। घर का अगुआ

(मुखिया) पर्व से संबंधित समस्त आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति में व्यस्त हो जाता है। सजावट के पूर्व घरों और गोदामों की आवश्यक मरम्मत की जाती है तथा अन्दर की दीवालों को चावल और फूलों से सजाते हैं। फिर घर का मुखिया अपनी पत्नी से भात, अपोंग आदि तैयार करने को कहता है जिसके द्वारा अतिथियों व नृत्य-दल का स्वागत किया जाता है। नृत्य-दल के मुखिया का पुजारी द्वारा स्वागत किया जाता है जिसके पश्चात् दल के सभी सदस्यों को भली-भाँति खिलाया-पिलाया जाता है।

प्रत्येक घर का मुखिया एक लम्बा बाँस लाकर उसकी सफाई करता है। और उसके ऊपरी भाग को चार हिस्सों में करके उसे शुड्डाकार रूप में बनाकर उसकी बड़ी सजावट करता है। बाँस के इन पतले भागों को "धुप" कहते हैं जिनको अरुणाचल की जनजातियों में बड़ा महत्त्व दिया गया। "धुप" के ऊपरी भाग पर श्वेत मुर्गे तथा मुर्गियों के गुच्छेदार बाल लगाकर सजावट की जाती है जिसके ऊपर चावल का आटा छिड़का जाता है। उस दिन घर के सभी व्यक्ति अच्छे वस्त्र पहनते हैं और सज-धजकर सुलुंग लम्बे (सुलुंग पूजा का स्थान) के लिये निकलते हैं। सुलुंग लुम्बे एक खुला स्थान होता है। सजे हुये बाँस का घर के पुरुष पूजा-स्थल ले जाते हैं और सभी घरों से इस प्रकार लाये गये बाँस एक पंक्ति में वहा रखे जाते हैं। सभी घरों की नारियाँ पारम्परिक वेश-भूषा में बाँस के खेंचे में चावल का आटा और सूखी लौकी के कलश में अपोंग लेकर उसी समय सुलुंग लुम्बे में एकत्र होती हैं। इस पर्व में गाँव के सभी लोग धनी और गरीब बिना किसी भेद-भाव के शामिल होते हैं और मिल-जुलकर बड़े हर्ष के साथ त्यौहार मनाते हैं। गाँव के पुजारी (न्यीबू) अपने सहयोगियों के साथ बाँस व लकड़ी की मूर्ति बनाते हैं जिसमें गाँव के दक्ष लोग उनकी सहायता करते हैं।

मूर्ति बन जाने के बाद पुजारी बड़े ऊँचे स्वर से मंत्रोच्चारण करते हैं जिसके द्वारा वे अपने सभी देवी-देवताओं को वहाँ आने का आह्वान करते हैं मंत्रोच्चारण करने में वे हाथ में बाँस के बने पतले गुच्छेदार को लेकर आगे-पीछे घूमाते रहते हैं। उनके मंत्रोच्चारण के कुछ देर बाद वहाँ एकत्र नारियाँ चावल का आटा मूर्ति के ऊपर चढ़ाती हैं और मन ही मन अपनी मनोकामनायें देवता से करती हैं। तत्पश्चात् साथ लाये हुये चावल के आटे और अपोंग को अपने सगे-सम्बन्धियों एवं मित्रों के बीच बाँटती हैं किन्तु यह आटा और अपोंग उन्हें नहीं दिया जाता जिन्होंने अपने भाई या बहिन के साथ दुर्व्यवहार किया हो या अपने ही वंश के किसी व्यक्ति की हत्या की हो। ऐसे लोग पूजा-स्थल से दूर खड़े होते हैं जो पूजा में शामिल नहीं होते हैं। नारियाँ चावल के आटे और अपोंग का कुछ भाग बचाकर प्रसाद के रूप में घर ले जाती हैं। पुरुष-वर्ग अपने सजे हुये बाँस के साथ मूर्ति के चारों ओर हो-हो करते हुये घूमते हैं और सभी एक साथ

एक पंक्ति में घूमते हैं। तदुपरान्त पुजारी मंत्रों द्वारा सभी देवी-देवताओं से अनुरोध करते हैं कि पूजा में शामिल लोगों की रक्षा तथा उनका कल्याण करें और अपने-अपने स्थान वापस जायँ। सभी लोग अपने-अपने घरों को प्रस्थान करते हैं। इस पर्व में गाँव के प्रत्येक घर में कई दिनों तक इस प्रकार पूजा समापन के बाद भोज चलता रहता है। पर्व के दौरान गाँव के सभी युवा, प्रौढ़ एवं वृद्ध समूह बनाकर प्रत्येक घर जाते हैं जहाँ घर का मुखिया उन्हें भात, मछली और अपोंग देकर सत्कार करता है। जब तक सभी घरों में इस प्रकार का सत्कार नहीं हो जाता तब तक यह क्रम चलता रहता है। तत्पश्चात् पूरा गाँव एक दिन पूर्ण विश्राम करता है।

यह सोलुंग त्यौहार वर्ष में एक बार मनाया जाता है जिसमें गाँव के सभी लोग एक साथ मिलकर अपने समाज की रक्षा, उन्नति एवं कल्याण के लिये सामूहिक पूजा करते हैं और सभी देवी-देवताओं को प्रसन्न करके यह पूजा करते हैं। यह परम्परा कितनी महान है कि समाज के धनी व निर्धन सभी लोग एक स्थल पर एक साथ पूजा करते हैं और घूम-घूम कर सभी घरों में जाकर पारम्परिक मित्रता एव निकटता को सुदृढ़ करते हैं तथा एक-दूसरे को अपनी शुभकामनायें अर्पित करते हैं। समाज में एकता, समता, बन्धुत्व एवं प्रेम का इससे अच्छा उदाहरण और क्या हो सकता है?

मिथुन की बलि

निशी लोग पर्व-त्यौहारों तथा देवी-देवताओं की पूजा में पशु-बलि अवश्य देते हैं। मिथुन, गाय, भेड़, बकरे, सुअर और मुर्गे की बलि का इनमें प्रचलन है जो परम्परागत है। सभी पशुओं में मिथुन की बलि सबसे अधिक धार्मिक एवं पवित्र मानी जाती है और मिथुन को मुख्यतः इसी हेतु पाला जाता है। इसकी बलि बड़े विधि-विधान के साथ दी जाती है जो निम्न प्रकार है: मिथनु को लाकर देवता की मूर्ति के साथ बाँधा जाता है। गाँव की नारियाँ निश्चित समय पर अपने-अपने घरों से सजधज कर पवित्र थाली में चावल का आटा लिये झुण्ड बनाकर गीत गाती हुई देवता की मूर्ति की ओर प्रस्थान करती हैं। बच्चों एवं युवक व युवतियों के दल भी हर्ष-उल्लास के साथ मूर्ति की ओर चलते हैं। पूजा के स्थान पहुँचने पर उनका स्वागत पहले से वहाँ पहुँचे युवकों एवं महिलाओं द्वारा किया जाता है। ये लोग पहले अपने देवता के ऊपर चावल का आटा छिड़कते हैं और फिर मिथुन के माथे व सींग पर अपोंग मिलाकर आटा लगाते हैं। उसी के साथ अपने बुजुर्गों, मित्रों एवं अन्य उपस्थित लोगों के मुख पर भी निशी नारियों द्वारा आटा लगाया जाता है। इसके उत्तर में वे लोग भी नारियों के मुख पर आटा लगाते हैं। आटा लगने से बचने के लिये लोग भागते-दौड़ते भी हैं जैसे होली के अवसर पर लोग रंग से

बचने हेतु छिपते और भागते हैं। भागने-दौड़ते और आटा लगाने का यह क्रम देर तक चलता रहता है।

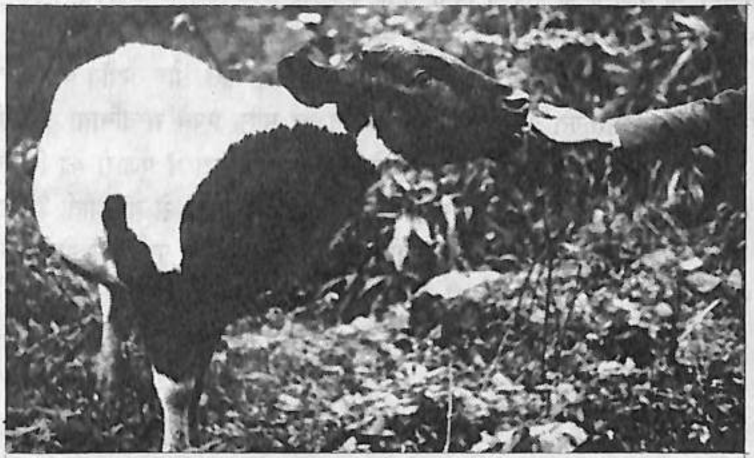

बाइसन (मिथुन)

इसी बीच पुजारी का संकेत होता है जिस पर बलि की तैयारी आरम्भ होती है। मूर्ति के सामने बंधा मिथुन चारों ओर अपनी दृष्टि दौड़कर घबराया सा खड़ा रहता है और अपनी अन्तिम घड़ियों की प्रतीक्षा करता है। उसके पास एक शक्तिवान पुरुष हाथ में कुठार लिये खड़ा रहता है। पास खड़े बड़े-बुजुर्ग लोग उस पुरुष को बताते हैं कि मिथुन के किस अंग पर प्रहार करना चाहिये जिससे कि एक प्रहार में ही बलि कट जाय। दूसरी और पुजारी मंत्रोच्चारण करते हुय मिथुन को सम्बोधित करके कहते हैं। "यह तुम्हारा कोई दोष नहीं है बल्कि तुम्हारा सौभाग्य है कि देवता कि लिये तुम्हारी बलि चढ़ाई जा रही है। यह तुम्हारी प्रजाति के लिये परम्परागत वरदान है जिसे तुम्हारे पूर्वजों ने स्वीकार किया है।" इतना कहने पर मिथुन के ऊपर कुठार से ऐसा ज़ोरदार प्रहार किया जाता है कि बेचारा मिथुन धराशायी होकर लहूलुहान हो जाता है। काश! भगवान ने मिथुन को वाणी दी होती जिससे वह भी पुजारी के इस सम्बोधन का समुचित उत्तर दे सकता। मिथुन के धराशायी हो जाने के बाद भी पुजारी द्वारा मंत्रोच्चारण जारी रहता है। इस बीच उपस्थित नवयुवक मिलकर मिथुन के टुकड़े-टुकड़े करके अलग ले जाकर मांस की सफाई करते हैं। इस अवसर पर सभी उपस्थित जन खुशी से नाच उठते हैं तथा उल्लास में मूर्ति के चारों ओर समूह में घूमते व परिक्रमा करते हैं, दौड़ते हैं एवं "हो-हो" करके हल्ला-गुल्ला करते हैं।

इस दौरान वहाँ उपस्थित नारियाँ अपने साथ लाये आटे को लोगों के मुख पर लगाती रहती हैं और उन्हें पीने के लिये अपोंग देती रहती हैं। पुजारी को मिथुन के अगले

पाँव का एक पूरा भाग प्रसाद के रूप में दिया जाता है और उसके साथ भात, अपोंग तथा अन्य सामान भी दक्षिणा के रूप में दिया जाता है जिसे लेकर वह मंत्रोच्चारण करता हुआ अपने घर की ओर प्रस्थान करता है। यदि पूजा सामूहिक हुई तो सभी उपस्थित जन वहाँ बैठकर एक साथ सहभोज करते हैं जिसमे मिथुन का मांस, भात और अपोंग परोसा जाता है और यदि पूजा व्यक्तिगत हुई तो यजमान मिथुन का मांस अपने सम्बन्धियों और मित्रों के घर प्रसाद के रूप में भेजता है। तथापि दोनों प्रकार की पूजा में पुजारी को मिथुन के उत्तम भाग का मांस, भात और अपोंग की दक्षिणा अनिवार्य रूप से दी जाती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है निशी जाति में कोई पूजा बलि के बिना पूर्ण नहीं होती। वैदिक काल में भी यज्ञों में पशु-बलि दी जाती थी और यह कहा जाता था "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।"

❖❖❖